तीर्थंकर

No - 057637
20 - 43.15

समाज-सेवा विशेषांक

नवम्बर १९८३

मोटा, या महीन जैसा बन पड़े

'चरखा चलता नाहीं, चरखा हुआ पुराना।
पग खूँटे द्वय हालन लागे, उर मदरा खखराना।
छींदी हुई पाँखड़ी पसली, फिर नहीं मनमाना ।।१।।
रसना-तकली ने बल खाया, सो अब कैसे खूँटे।
सबद-सूत सूधा नहिं निकसे, घड़ी-घड़ी-पल टूटे ।।२।।
आयु-माल का नहीं भरोसा, अंग चलाचल सारे।
रोज इलाज मरम्मत चाहे, बैद-बाढई हारे ।।३।।
नया चरखला रंगा-रंगा, सबका चित्त चुरावे।
पलटा वरन, गये गुण अगले, अब देखे नहिं भावे ।।४।।
मोटा-महीं कात कर भाई ! कर अपना सुरझेरा।
अन्त आग में इन्धन होगा, 'भूधर' समझ सबेरा ।।५।।

—कविवर भूधरदास

[अब यह चर्खा (तन्तुचक्र) चलता नहीं, पुराना हो गया है (कवि ने रोग-वृद्ध, जर्जर शरीर को चर्खा कहा है। प्रथम पंक्ति में चर्खे का प्रयोग प्रतीकात्मक है; परन्तु आगे रूपक का गठन है)। इस शरीर-रूप तन्तुचक्र के दो पगहे दोनों खूँटे हैं, जो सन्धियों के शिथिल होने से हिलने लगे हैं। हृदय-रूप मध्य भाग खर-खर करने लगा है, श्लेष्मा की अधिकता से श्वास बोलने लगे हैं। इसकी पँखुड़ियाँ (आरे) तथा पसलियाँ (पर्शुकाएँ) छीदी-विरल हो कर फैल गयी हैं; इसलिए अब इच्छानुकूल नहीं फिरता। इसकी जिह्वारूप तकली (सूत अटेरने वाली चर्खी) में बल पड़ गये हैं; वक्रता आ गयी है, अब वह अपने खूँटे से बँधी रहने में अशक्त है। शब्दरूप सूत्र (तन्तु, धागा) अब सीधा नहीं निकलता है; घड़ी-घड़ी, पल-पल टूट जाता है। इन क्षणों को देखते हुए आयरूप माल (चर्खे का एक उपकरण) का कोई भरोसा नहीं रहा। इसके सारे अंग-प्रत्यंग चलायमान हो चले हैं। प्रतिदिन शरीर चिकित्सा चाहता है और यह चर्खा मरम्मत माँगता है। वैद्य और वर्धकि (बढ़ई) हार गये हैं। इसमें आश्चर्य अथवा अनहोनी (अभूतभावी) भी क्या है ? नवीन तन्तुचक्र तो नेत्रहारी रंगा-रंगा होता ही है और सबका चित्त चुराता ही है; किन्तु अवस्था परिपक्व होने पर यौवन के वे वर्ण बदल जाते हैं और स्पृहणीय गुणों का अवसान हो जाता है। अब तो यह अपरूप दूसरों को क्या, स्वयं को भी अच्छा नहीं लगता !! किन्तु कहावत है —'जब तक जीना तब तक सीना'। — अतः हे भाई ! नये न रहे, पुराने सही। कातना तो पड़ेगा अन्तिम क्षणावधि कार्य तो करना होगा। मोटा या महीन जैसा बन पड़े, कर्त्तव्य-रूप सूत्र को कात कर अपने को जीवन की उलझन में सुलझा लो; क्योंकि एक दिन जब मोटा-महीन कातने की भी शक्ति नहीं रहेगी—यह चर्खा चर्खा न रहेगा, कोरा काष्ठ समझा जाएगा और यह शरीर शव हो जाएगा तब इसे अग्नि-समर्पित कर दिया जाएगा। 'भूधर' कवि कहते हैं कि सत्य को समझो!!]

—गद्यान्तर : एलाचार्य मुनि विद्यानन्द

विचार-मासिक

सद्विचार की वर्णमाला में सदाचार का प्रवर्तन

समाज-सेवा विशेषांक

उपलक्ष्य : साहू श्रेयांस प्रसाद जैन का अमृत-महोत्सव

वर्ष १३; अंक ७-८; नवम्बर-दिसम्बर १९८३
कार्तिक मार्गशीर्ष वि. सं. २०४०; वी नि. सं. २५१०

संपादन : डॉ. नेमीचन्द जैन
प्रबन्ध संपादन : प्रेमचन्द जैन
आकल्पन : संतोष जड़िया

वार्षिक शुल्क : पच्चीस रुपये; प्रस्तुत अंक : पन्द्रह रुपये
आजीवन : दो सौ एक रुपये; विदेशों में वार्षिक : सौ रुपये

हीरा भैया प्रकाशन
६५, पत्रकार कॉलोनी कनाड़िया मार्ग,
इन्दौर-४५२ ००१, मध्यप्रदेश
दूरभाष : 5804

नईदुनिया प्रिंटरी, बाबू लाभचन्द छजलानी मार्ग, इन्दौर-४५२ ००९ से मुद्रित

"यदि स्त्रियाँ अपने परिवार को आदर्श रूप में सँभाल लें, तो आश्चर्यजनक कुछ हो सकता है । बच्चे पर इतना अच्छा संस्कार करें कि वह भगवान ऋषभदेव बन जाए, महात्मा गाँधी बन जाए, आचार्य शान्तिसागर बन जाए, आचार्य समन्तभद्र बन जाए। यदि स्त्रियाँ अपना घर सँभाल लें, बच्चों को सँभाल लें, तो समाज सँभल सकता है । –पृष्ठ-२६.

—एलाचार्य मुनि विद्यानन्द

आज निखिलेर आनन्द धारा व धुइये दाओ,
मनेर कोणेर सब दीनता मलिनता धुइये दाओ ।

धो कर स्वच्छ कर दो मुझे निखिल की आनन्द-धारासे
मन के कोने में जहाँ जो दीनता है, मलिनता है–
पूरी तरह पोंछ दो उसे !

–रवीन्द्रनाथ ठाकुर

क्या / कहाँ

मोटा, या महीन जैसा बन पड़े (पद)
—भूधरदास; आव. २

समाज-सेवा : चुनौतियाँ
—संपादकीय ५

समाज-सेवा : एक प्रश्न-चिन्ह
—डॉ. धर्मवीर भारती[१] ९

कविताएँ

मिलेगा अगर कुछ
सुबह-से-शाम
जब तक तुम
मेरे पास तो है
तो खुद ही कहोगे
गहरे में ही होते हैं
—दिनकर सोनवलकर[२] १२

समाज-सेवा को विनम्र प्रणाम
—अक्षयकुमार जैन[३] १५

साधुमना भाई साहब
—कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'[४] १८

आत्महित ही समाजहित (बातचीत-१)
—एलाचार्य मुनि विद्यानन्द/निमीचन्द जैन २१

धर्म और समाज-सेवा (बातचीत-२)
—आ. समन्तभद्र/निमीचन्द ३१

अनेकान्त के सहज साधक श्रेयांसजी
—डॉ. शिवमंगलसिंह 'सुमन'[५] ३३

साहूजी : दृष्टि और सृष्टि
—लक्ष्मीचन्द्र जैन[६] ३९

साहू श्रेयांस प्रसाद जैन : कवि के वातायन से
—वीरेन्द्रकुमार जैन[७] ४१

हम बदलें, समाज बदलेगा (बातचीत-३)
—साहू श्रेयांस प्रसाद जैन/निमीचन्द जैन ४९

संस्कार : सादगी : शाकाहार (बातचीत-४)
—अभयकुमार; शंभूकुमार कासलीवाल/निमीचन्द जैन १७७

अर्द्धकथानक (गद्यान्तर)
—बनारसीदास १७९

टिप्पणियाँ

१. 'समज' और 'समाज'
—डॉ. आदित्य प्रचाण्डिका 'दीदि' १८७

२. आदर्श नेता साहूजी
—पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री १८७

अंक : अंकुर-से-फल
—संपादकीय-अंश १८९

पत्रांश १९५

समाचार-परिशिष्ट १९३

1. संपादक 'धर्मयुग', बम्बई; 2. प्राध्यापक, राजकीय महाविद्यालय, जावरा; 3. अध्यक्ष, 'समाचार—भारती', दिल्ली; 4. संपादक 'नया जीवन' 'विकास'; सहारनपुर; 5. उपाध्यक्ष, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ; 6. निदेशक, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली; 7. संपादक 'नवनीत' बम्बई।

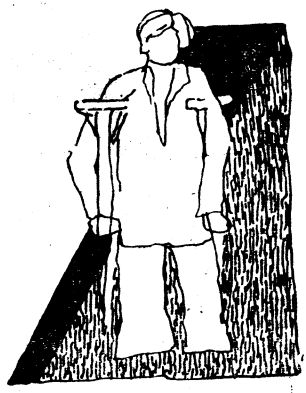

समाज-सेवा : चुनौतियाँ

'व्यक्तियों से समाज बनता है' 'व्यक्ति को समाज बनाता है' आदि कुछ ऐसी जटिल स्थापनाएँ हैं, जिनकी हमारे पास कोई सुपरीक्षित व्याख्या नहीं है। 'व्यक्ति समाज की उपज है' 'समाज व्यक्तियों का समूह है' कथन तो बहुत आसान है; किन्तु इनके भीतर जो जटिलताएँ धधक रही हैं, उन तक पहुँच बनाना कदाचित् उतना सुगम नहीं है। मनुष्य का सामाजिक होना शायद हज़ारों-हज़ार साल पहले की कोई घटना रही होगी (आज तो हम उसकी कल्पना भी ठीक से नहीं कर सकते); किन्तु जब भी, जिस क्षण भी उसके भीतर सामाजिकता उठ खड़ी हुई होगी, मानवता का इतिहास तत्क्षण शुरू हुआ होगा। सही है कि आरंभ में जब हमारे स्वार्थ परस्पर टकराये होंगे तब हम एक-दूसरे से बदले की भावना से जूझे होंगे; किन्तु यह भी सही है कि ऐसी ही संवेदनशील रचनात्मक, शैव टकराहटों में से ही परिवार का जन्म हुआ होगा। गौर से देखेंगे तो पायेंगे कि व्यक्ति समाज का वैसा ही अन्तिम घटक है जैसा परमाणु ब्रह्माण्ड का और संध्वनि भाषा की। अखिल ब्रह्माण्ड परमाणुओं के अन्तहीन, अदृप्त, और अबाध यातायात में दिन-रात घूम रहा है, किन्तु कहीं कोई टकराहट, या संघर्ष नहीं है – भूलें होती हैं, किन्तु इन भूलों की पृष्ठभूमि पर भी विकास का कोई रहस्य धड़कता होता है। परमाणुओं का यातायात तो बिना किसी टकराहट के निर्बाध चल रहा है, किन्तु हमारा सांस्कृतिक सामाजिक यातायात संकट में है, बाधित है; क्यों ?

समाज एक भावनात्मक सत्ता है। वह एक स्निग्ध अनुबन्ध है। 'वह है' इसकी अनुभूति हमें तब होती है, जब हम एक-दूसरे के आन्तरिक लालित्य को

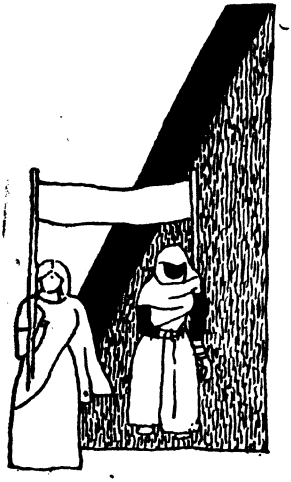

पहचानने की शुरुआत करते हैं। समाज व्यक्ति-इकाइयों का मीजान है; किन्तु व्यक्तियों में तो इन्तहा वैविध्य है, तो क्या इस विविधता के लम्बे जोड़ का नाम समाज है? नहीं, विविधता के गर्भ में जो सामंजस्य और समरसता, सरलता और स्निग्धता है; समाज के आविर्भाव का असली कारण वही है। हम चाहते हैं कि साथ-साथ रहें; न केवल मनुज-के-साथ-मनुज; अपितु प्रकृति के हर वजूद के साथ मनुज : पेड़-पौधों के साथ, पशु-पक्षियों के साथ, नदी-पहाड़ों के साथ। बागवानी और पशु-पक्षी-पालन मनुष्य की इसी स्नेहवृत्ति की परिणतियाँ हैं। वास्तव में सहअस्तित्व की अनुभूति ने ही परिवार-संस्था को जन्म दिया है। शुरू में मनोविकारों का विस्तार वैसा नहीं हुआ, किन्तु जैसे-जैसे हम परिस्थितियों के दबाव का अनुभव करते गये, पारस्परिक सम्बन्ध भी जटिल होते गये। आज तो हमारा समाज इस क़दर उलझ-फैल गया है विविध आयामों में, कि हम यदि उसे ठीक से समझने की कोशिश भी करें, तो भी संभव नहीं है।

ध्यान से देखें : व्यक्ति का जीवन माँ-में-से शुरू होता है; किन्तु जैसे-जैसे, जितना-जितना होश वह सँभालता जाता है, समाज के घेरे में वह आता जाता है; उसकी सारी आवश्यकताएँ और आकांक्षाएँ समाज से पूरी होने लगती हैं। वह समाज-सापेक्ष जीने-होने लगता है। उदर, मन, मस्तिष्क की सारी ज़रूरतें समाज तृप्त करने लगता है : किन्तु मज़ा यह है कि वह कभी संतुष्ट नहीं हो पाता, बल्कि अधिक-अधिक अतृप्त/आतुर/लुब्ध बनता जाता है। वह जितना पाता है, उससे बहुत अधिक, प्रतिपल, पाना चाहता है – इस्तेमाल के लिए नहीं, संग्रह के लिए। संग्रह का सुख – मिथ्या सुख – आज की सबमें बड़ी समस्या है, जिसका समाधान धर्म के अलावा किसी और के पास नहीं है। आज चुनौती है परिग्रह के अजगर की कि वह मनुष्य और उसकी मनुष्यता को निगल जाएगा। अनावश्यक संग्रह की प्रवृत्ति – कुटेव ही कहें इसे– आज मनुष्य को निगल रही है, और वह है कि इस विपदा की अनदेखी कर रहा है।

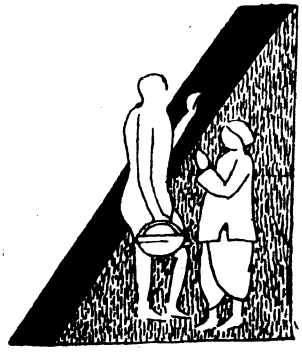

प्राप्तव्य, या आवश्यकता से अधिक पाने-बटोरने की होड़ ने समाज को काफी असंतुलित कर दिया है। जिसे एक चाहिये वह सौ-हज़ार के पीछे पागल है और जिसे हज़ार मिल गया है वह फिर अगले शून्य के लिए बावला हुआ है; इस तरह हम आपस की खाइयाँ पाटने की जगह उन्हें लगातार बढ़ा रहे हैं। सेवा की चर्चा/बहस हम बराबर कर रहे हैं, यह जानते हुए भी कि वह (बहस) नक़ली और बेबुनियाद है। वस्तुतः आज जो तब्दीली की बात कर रहा है, वह पता नहीं क्यों बेईमान और कपटी है; क्यों है, और कैसे वह न रहे शायद इसका कारगर उपाय ही समाज की सबमें बड़ी सेवा है। यदि हम समाज में से दोहरे/दोगले चरित्र को निकाल बाहर कर सकें तो यह सर्वोपरि सेवा होगी। व्यक्ति और समुदाय के जीवन की दुई/द्वैत/दोगलापन सर्वत्र व्याप्त है और सामाजिक जीवन के लिए बहुत बड़ी चुनौती है। क्रान्ति हम खड़ी करें; किन्तु देख लें साथ कि वह कोरी लफ्फाजी, या कागज़ी न हो। समाज-सेवा के क्षेत्र में हमें शब्द और कागज़ से काफी आगे जाने की ज़रूरत है।

हिंसा की घटनाएँ इधर तेजी से बढ़ी हैं। हमारा देश इतना विशाल और विविध है कि यदि हम हिंसा का रोज़नामचा रखें तो शायद वह बहुत बड़ी घबराहट पैदा करेगा (दैनिक अखबार आज हिंसक वारदातों के रोजनामचों के अलावा क्या हैं?)। इधर हिंसा ने बहुत खुर्दबीनी शक्ल भी ग्रहण कर ली है। अर्थ और राजनीति की हिंसाएँ बेहद सूक्ष्म हुई हैं। जिन बन्धु-बांधवों से हम प्यार करना चाहते हैं – हमारा अर्थ और राजनीति-तन्त्र इतना दूषित हो गया है कि हमारे तन-मन पर उन्हीं के खूनी धब्बे उभर आते हैं। किफायत, शौक, सौंदर्य-प्रदर्शन, तथा अपरिहार्यताओं के नाम पर जो हिंसाएँ हो रही हैं वे बेहिसाब और दुर्भाग्यपूर्ण हैं। वह हिंसा जो बूचड़खानों में घटित है, प्रकट/स्पष्ट है; किन्तु जो अदृश्य बूचड़खाने हमारे दिल-दिमाग़ में सक्रिय हैं, उनकी ओर शायद किसी का ध्यान नहीं है; जब ये बन्द होंगे तब बाह्य हिंसाएँ स्वयं अपना असबाब संभल कर चलती बनेंगी। आज सामाजिक विवशताओं का बोझ हमारे मन पर इतना अधिक है कि हमारी चेतना लगभग पंगु हुई है, और हम वह सब नहीं कर पा रहे हैं, जिसे करने की इच्छा

हमारे मन में है। हिंसा बहुत अदम्य चुनौती है, जिसका मुक़ाबला हमें कुटुम्ब से शुरू कर विश्व के स्तर तक करने की तैयारी कर लेनी चाहिये।

समाज को ठोस व्यक्तित्व प्रदान करने वाले कुछ बुनियादी तत्त्व हैं। धर्म और नीति-शास्त्र ने मनुष्य को सदैव संयम और मर्यादाएँ, नियम और अनुशासन दिये हैं। यहाँ हम धर्म और संप्रदाय में फर्क कर रहे हैं। धर्म व्यक्तिगत होते हुए भी समाजोन्मुख प्राण-तत्त्व है; किन्तु संप्रदाय स्वार्थों, अन्धविश्वासों, और रूढ़ियों की परिणति है। धर्म के क्षेत्र में हम आँखें खोल कर चल सकते हैं, संप्रदाय के क्षेत्र में हमें हज़ार विरोधों के होते आँखें बंद करके ही चलना होता है। हमारी प्रार्थना मात्र इतनी ही है कि हम धर्म और संप्रदाय के अन्तर को समझें और विवेक से काम लें। जीवन में सर्वत्र विवेक बो देना भी समाज की सबमें बड़ी सेवा है। अविवेक की चुनौती एक खतरनाक़ चुनौती है।

धर्म का क्षेत्र इस व्यक्ति को जो तरह-तरह की जंज़ीरों से जकड़ा हुआ है स्वतन्त्र करना चाहता है। आज यदि कोई शोषणमुक्त जीवन-यापन की ओर अपने पग उठाना चाहता है, तो धर्म ही उसकी मदद कर सकता है। 'हम स्वतन्त्र हैं'— यह बात धर्म ही कह सकता है, राजनीति के पास उतनी सुविधा नहीं है कि वह यह कह पाये। सेवा और सहानुभूति की जिस भाषा को हम निरन्तर भूलते जा रहे हैं, धर्म उसकी वापसी का सबसे प्रमुख आधार है; हिन्दी या अंग्रेजी नहीं, हमें बन्धुत्व का अक्षरज्ञान चाहिये जो हमारी, आने वाले सांस्कृतिक प्रलय से, रक्षा कर सके। व्यक्ति में धर्म की वापसी आज सबसे बड़ी समाज-सेवा हो सकती है। हम-दर्दियाँ, जिनके ज़िस्म पर क़फन लगभग ओढ़ा दिये गये हैं, को यदि हम पुनरुज्जीवित नहीं कर पाये तो मशीनें/मशीनगनें हमारे अस्तित्व को जड़मूल से खोद फेंकेंगी।

व्यक्ति, जो समाज की मूलभूत इकाई है, आज ध्वस्त और छिन्न-भिन्न है। निराशाओं, आतंकों, उदासियों, भयों, और लाचारियों ने उसे भीतर से खण्ड-खण्ड कर दिया है; उसके साथ आज जो सलूक है यदि हम उसे तुरन्त नहीं बदल पाये तो निश्चय मानिये कि हम समाप्त हो जाएँगे; इसलिए, जो लोग विचारक हैं और युग-के-मर्म को जान रहे हैं उन्हें चाहिये कि वे आगे आयें और व्यक्ति को ढहने से बचायें ताकि परिवार, जो प्रजातन्त्र का विश्वविद्यालय है, को बचाया जा सके और उसकी नींव को मजबूत किया जा सके। इस दृष्टि से हमारी मातृशक्ति और शिक्षा-संस्थाओं की भूमिकाएँ महत्त्वपूर्ण हो सकती हैं; किन्तु दोनों क्रमशः प्रदर्शन/झूठ/अधिकार/लिप्सा; और राजनीति के कब्ज़े में हैं। जब तक हम आश्रमों और कुटुम्बों को संस्कृति को टूक-टूक/धराशायी होने से नहीं बचाते, तब तक आशा की कोई ऐसी किरण नहीं है, जो हमारी वर्तमान/आगामी पीढ़ी को किसी गहन/अंधे गर्त में गिरने से रोक सके। गिरते-टूटते परिवार को सँभालना आज सबसे बड़ी समाज-सेवा है। यह काम तरुणों को करना चाहिये।

यों समाज-सेवा के क्षेत्र नानाविध हैं; किन्तु यदि हम सारे देश/समाज को एक प्रामाणिक चरित्र ही मात्र दे पाये तो (देने वाले को प्रामाणिक पहले होना होगा), उसके इर्दगिर्द दूसरे रोशनदान आपोआप खुल जाएँगे और हम अपनी सामाजिक/सांस्कृतिक रुग्णता का कोई कारगर इलाज़ कर पायेंगे। □□

समाज-सेवा : एक प्रश्न-चिन्ह

तो रास्ता क्या है ? क्या वैषम्य के पार मनुष्य-को-मनुष्य की तरह देखने और जो साधनहीन हैं उसकी सहायता का हाथ बढ़ाने के सभी रास्ते बन्द हो चुके हैं ? क्या मानव-समाज की अन्तिम नियति यही है कि जो साधन-संपन्न हैं वे अपने ऐश्वर्य में आकण्ठ डूबे रहें और जो साधनहीन हैं वे धीरे-धीरे नष्ट होते रहें ।

भारतीय चिन्तन में धन और संपदा को लेकर दो बिल्कुल अलग-अलग रुख अपनाये गये हैं। एक ओर वेदों में ऋषि प्रार्थना करते हैं कि खूब बादल बरसें, धरती धनधान्य से पूर्ण हो, संपत्तिशाली बन कर हम सौ वर्ष तक जीयें। दूसरी ओर स्वर्ण और संपदा को अग्राह्य बताया गया है। संपूर्ण 'कांचन-मुक्ति' को श्रेयस्कर माना गया। धन का अर्जन करना तो दूर, धन या मुद्रा को हाथ से छूना भी वर्जित करार दिया गया।

धीरे-धीरे कांचन-मुक्ति अध्यात्म और धर्म-साधना का आवश्यक अंग बन कर प्रभा-मण्डल से घिर गयी। जो साधु, संत, साधक कंचन से सर्वथा विमुख थे, उन्हें विशेष महिमामय मान लिया गया।

किन्तु निस्संदेह संपूर्ण कांचन-मुक्ति का धन-संपदा से संपूर्ण विरक्ति एक ऐसी स्थिति है, जो समाज के लिए न सहज है, न श्रेयस्कर। आदिमकाल में मनुष्य की ज़रूरतें नगण्य थीं। केवल भोजन के लिए शिकार, आश्रय के लिए गुफा, और सन्तानोत्पत्ति के लिए सम्भोग। ज्यों-ज्यों मनुष्य का रहन-सहन परिष्कृत होता गया, उसकी ज़रूरतें बढ़ती गयीं, उसने भोजन के लिए खेती करना, बाग लगाना, पशु-पालन सीखा, आश्रय के लिए कुटिया छाने से ले कर पक्की इमारतें बनाना सीखा, यानी धन-संपदा सभ्यता के विकास का एक मुख्य भौतिक आधार बनती चली गयी।

पर कांचन-मुक्ति की गरिमा अपनी जगह थी। नतीजा यह हुआ कि समाज एक अंतर्विरोधपूर्ण स्थिति में जीने लगा। कुछ थे जो धन अर्जित करते थे, धन-संचय करते थे, और कुछ थे जो कांचन-मुक्ति की साधना करते थे। इन वैरागियों श्रमणों, तपस्वियों और भिक्षुओं की देख-भाल का जिम्मा उन्हीं धन-संचय करने वालों पर था।

मुझे यह लगता है कि इस अंतर्विरोधपूर्ण स्थिति ने हमारे समाज की पारम्परिक मानसिकता का बहुत नुकसान किया है। विशेष दान-पुण्य की जो कल्पना विकसित हुई उसने हमारी सामाजिकता को दोहरा नुकसान पहुँचाया। एक ओर

ऐसा वर्ग विकसित होता गया जो हर सही-ग़लत तरीक़े से धन अर्जित करने में कोई हिचक नहीं महसूस करता था; क्योंकि धर्म-खाते में दान-पुण्य करके अपने हर काले-सफ़ेद कारनामे का परिहार कर लेता है; दूसरी ओर ऐसा पंगु, निकम्मे अध्यात्म साधकों का वर्ग विकसित होता गया जो दान-पुण्य पा कर परजीवी बन कर जीते थे और समाज के सामूहिक चतुर्दिक् विकास में न कोई शारीरिक श्रम करते थे, न कोई मानसिक योग देते थे।

समाज-सेवा का एक रूप हमारे समाज में इसी घातक असामाजिक दान-प्रणाली का ही नया रूप है। जो मिलावटी दवाएँ बेच कर करोड़ों कमाता है, वह अस्पतालों को एम्बुलेन्स दान करके समाज-सेवा करता दीखता है; जो अपने उत्पाद में पशुओं की चर्बी मिलता है वह गौशालाएँ खुलवाता घूमता है; जो अपने कारखानों में काम करने वालों का पेट काटता है, वह मंदिरों के सामने बैठे भिखारियों को एक दिन खीर-पूड़ी की दावत देता है।

इस प्रकार की समाज-सेवा न केवल पाखण्ड है वरन् कुछ अंशों में अमानुषिक है। दुर्भाग्य से हमारे देश की जनता इस प्रकार के पाखण्ड से बहुत प्रभावित होती है, और यदि उसके साथ धर्म का साइनबोर्ड लगा हो तब तो और भी।

धनी-मानी वर्गों द्वारा एक प्रकार की और समाज-सेवा है जो अन्ततोगत्वा उन्हें और जिनकी सेवा की जाती है, दोनों को ही कुण्ठित बनाती हैं। आपके पास धन है, सही ढंग से ही कमाया हुआ, आप ग़रीबों और छोटे लोगों के बीच जाते हैं, उनकी समस्या का कोई हल नहीं निकालते, उन्हें कम्बल या बर्तन बाँट कर चले आते हैं, उन पर दया और कृपा करते हैं और वे आपकी दया और कृपा के भार से दब कर स्वयं को जितने छोटे थे उससे और छोटे, और बौने महसूस करने लगते हैं। आपका अहंकार बढ़ता जाता है, उनकी असहाय भावना।

ये तो सामन्ती नमूने हैं समाज-सेवा के। कुछ आधुनिक नमूने भी विकसित हुए हैं। यह समाज-सेवा नेतागिरी के नये लटकों के रूप में विकसित हो रही है। एक राजनीतिक दल को वोट लेना है तो उसने मजदूर बस्ती में सस्ते अनाज के स्टोर खुलवा दिये, या बूढ़ों को कुछ अनुदान बाँटना शुरू कर दिया। सेवा लीजिये, वोट दीजिये। इसमें भी अन्ततोगत्वा जिसकी सेवा करने का दम आप भर रहे हैं, उसे केवल एक खरीदी जा सकने वाली जिन्स मान कर चलते हैं; उसकी अस्मिता को नकारते हुए।

और जहाँ सेवा के नाम पर स्वयं व्यवसाय की दूकानें चलती हैं, उन उदाहरणों की तो कोई कमी ही नहीं। बड़े-बड़े नामों वाली शिक्षा संस्थाएँ, अनाथाश्रम वनिताश्रम, वृद्धाश्रम, विधवाश्रम, आदि-आदि।

सच तो यह है कि यह पाखण्ड हमारे समाज में इस क़दर व्यापक हो चुका है, इसकी जड़ें इतनी गहरी हो चुकी हैं कि सेवा, दया, करुणा, परोपकार जैसे शब्द अपने अर्थ खो चुके हैं। ये शब्द चंद अहंकारी, सम्पन्न और विहित स्वार्थ वाले लोगों के हाथों में अपने असली चेहरे छिपाने के मुखौटे बन चुके हैं।

तो रास्ता क्या है? क्या वैषम्य के पार मनुष्य को मनुष्य की तरह देखने और जो साधनहीन हैं उसकी सहायता का हाथ बढ़ाने के सभी रास्ते बन्द हो चुके हैं? क्या मानव-समाज की अन्तिम नियति यही है कि जो साधन-संपन्न हैं वे अपने ऐश्वर्य में आकण्ठ डूबे रहें और जो साधनहीन हैं वे धीरे-धीरे नष्ट होते रहें।

नहीं; रास्ता है, पर वह उस तथाकथित समाज-सेवा का रास्ता नहीं है जिसके छलावे में हम अभी तक पड़े रहे हैं। समाज की सेवा का सबसे पहला सही रास्ता तो यह है कि हम यह भलीभाँति जाँचें कि समाज में यह वैषम्य क्यों हैं? यह अन्यायपूर्ण संपदा-वितरण क्यों है कि कुछ के पास बिना मेहनत के इतनी संपदा है और कुछ दिन-रात मेहनत करके भी अभावग्रस्त हैं।

इसके बाद दूसरे की सेवा करने के पहले हम अपने को जाँचें कि इस अन्याय-पूर्ण व्यवस्था में हम कहाँ हैं? कहीं हम उसके अंग तो नहीं? हम उस अन्याय-तन्त्र के एक पुर्जे तो नहीं? बहुधा तन्त्र को बदलना हमारे वश में नहीं होता, हमें एक दी हुई तन्त्र-व्यवस्था का अंग बनना ही पड़ता है, पर क्या उसमें रह कर भी उसके असली रूप को हम पहचान रहे हैं? आखिर विदेह राजा जनक ने, महावीर स्वामी ने, गौतम सिद्धार्थ ने महलों के बीच अपने को पहचाना था कि नहीं? इस ज्ञान के बिना आप न अपने को जान सकते हैं, न अपने समाज को।

और आप जिसकी ओर सहायता का हाथ बढ़ाते हैं, उसे अपने से बड़ा नहीं तो कम-से-कम अपने बराबर का मानते हैं, या नहीं? उसकी सेवा करने के बहाने आप केवल अपने अहंकार का पोषण तो नहीं कर रहे, या अपने व्यापार-व्यवसाय में तमाम क़िस्म के अनाचार कर सेवा के सदाचार द्वारा अपने अपराध-बोध को भुलाना तो नहीं चाहते? यदि इनमें से कोई भी तत्त्व है तो यह समाज-सेवा समाज का कोई भला नहीं करने वाली।

सच्ची बात तो यह है कि समाज-सेवा का कार्य सबसे पहले अपने व्यक्तित्व-निर्माण से शुरू होना चाहिये। यदि आप एक झूठ से समझौता न करने वाले, दृढ़ निष्ठा वाले, हर मनुष्य-को-मनुष्य के रूप में बराबरी का सम्मान देने वाले व्यक्ति बनते हैं तो कम-से-कम समाज की एक इकाई को स्वस्थ नीरोग और प्राणवान् बनाने का कार्य तो आपने किया। उस अपने व्यक्तित्व-निर्माण में यदि आपको निन्दा मिले, निर्धनता मिले, यन्त्रणा मिले तो क्या आप उसे सहने के लिए तैयार हैं? यदि हाँ, तब आप उनसे अपना सही-सही ढंग का, पथ का संबन्ध जोड़ सकते हैं जो लोग निर्धन हैं, असहाय हैं, पिछड़े हुए हैं। उनके बीच रह कर, उनकी तरह रह कर आप उनमें एक नया आत्मविश्वास, एक नया संकल्प जगा कर उन्हें आत्मनिर्भरता के उस स्तर पर ला सकते हैं जहाँ वे असहाय, क्षुद्र और पददलित न महसूस करें, समाज के स्वस्थ, अर्थवान् अंग बनें।

आप उनमें से एक हो सकने की क्षमता रखते हों तब तो आप उनकी सही सेवा कर सकते हैं, वरना बाकी सब छलावा है, समाज-सेवा नहीं। ○

मिलेगा अगर कुछ

कुछ नहीं मिलेगा किताबों में
कुछ नहीं बचेगा हिसाबों में।
मिलेगा अगर कुछ
तो उस इन्सान के दिल में–
–जो पड़ा है
सख्त मुश्किल में–
उसकी रोज़ी-रोटी के सवाल का
कोई जवाब है तुम्हारे पास ?
क्या तुम्हारे पास
उसका मुक़द्दर बदलने की
कोई तदबीर है ?.
उसके हालात बदलने के लिए
जो भी ज़रूरी हो–
आन्दोलन या इन्क़लाब
उसको कोई तस्वीर है ?

ज़िन्दगी का एक ही मकसद है
जिसका उनवान (शीर्षक)–
–इन्सानी-मोहब्बत है।

कुछ नहीं मिलेगा ख्वाबों में
बुज़दिली छिपेगी नहीं नक़ाबों में।
मिलेगा अगर कुछ–
तो आदमियत के लिए सहने में
एक नया समाज गढ़ने में।

सुबह से शाम

समझ नहीं पाता माँ
कि यह तुम्हारी करुणा है,
या क्रोध ?
तुम दे रही हो
वरदान,

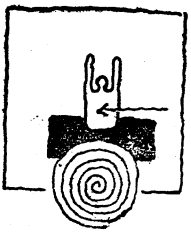

या ले रही हो
कोई प्रतिशोध ?
कुछ घटनाओं के अर्थ
बहुत देर से खुलते हैं
उनका सन्दर्भ।
उनके प्रभाव,
बरसों तक मन के समुन्दर में
घुलते हैं
जिसे हम उपलब्धि समझते हैं
पता नहीं कैसे
वहीं बनने लगती है हमारी बाधा
और जिसे समझते हैं विपत्ति
वही खोल देती है
प्रगति का नया द्वार
दिखा देती है कर्म की नयी दिशा।
इसलिए सोचता हूँ मैं
कि अब समय और
उसके परिणामों की चिन्ता छोड़ कर
करता रहूँ अपना काम
लड़ता रहूँ
एक लम्बी लड़ाई
सार्थकता की खोज में
सुबह से शाम !

☐ *दिनकर सोनवलकर*

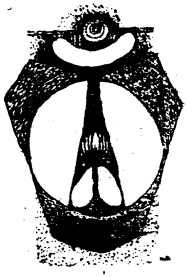

जब तक तुम

तुम सिर्फ
एक ईंट हो
और तुम्हारी सार्थकता
तभी तक है
जब तक तुम
किसी इमारत में लग कर
उसे शक्ति दे रहे हो।
यह अहंकार मत करना
कि तुम्हारे बसबूते पर ही
खड़ी है कोई इमारत।
नहीं।
वह तो फिर भी
टिकी रहेगी
तुम्हारे बगैर
जबकि
उससे अलग हो कर
पड़े रहोगे तुम
कचरे के ढेर में—
और
लोग उठायेंगे तुम्हें
किसी दंगे या
उपद्रव के दौरान
अपने ही भाइयों का
सिर फोड़ने के लिए।

मेरे पास तो है...

आग उनकी है
पेट की
संघर्ष की
विश्वास की
मैं
सिर्फ यही कोशिश कर रहा हूं
कि उनकी आँच से
मेरे शब्द भी
चमक जाएँ—
लेकिन नहीं।
शब्द भी
दरअसल उन्हीं के हैं
मेरे पास तो है
अहसास का
एक पतला-सा तार
जो उनके
दर्द से जुड़ते ही
फेंकने लगता है रोशनी,
जिसके सामने
टिक नहीं सकता
कोई अँधेरा
बस रोशनी देना ही
लक्ष्य मेरा।

तो खुद ही कहोगे

हम एक मामूली आदमी
क्या इतनी बड़ी दुनिया को
बदल सकते हैं ?
हमारी छोटी-सी औक़ात
क्या हम
इन्सानियत के बड़े-बड़े सवाल

हल कर सकते हैं ?
क्या एक आदमी
कर सकता है पूरे जगत् का कल्याण ?
यदि इन प्रश्नों को
जगत् के विराट सन्दर्भ में
सम्पूर्ण निरपेक्षता से देखोगे
तो
उत्तर होगा 'नकारात्मक'
लगेगा कि इसमें सिर खपाना है
नाहक ।
लेकिन यदि देख सको
छोटे-छोटे सम्बन्धों के
सापेक्ष प्रसंगों में,
तो खुद ही कहोगे–
'हाँ
मैं कर्म की ऊर्जा से भर सकता हूं
अपने आसपास को ।
मोहल्ले में अन्याय के खिलाफ़
आवाज़ बुलन्द कर
ज़िन्दा रख सकता हूँ
आदमी के विश्वास को ।'

गहरे में ही होते हैं

सामाजिक व्यवहार में
जो
जितना ही सरल है
समझो
कि भीतर से
वह उतना ही तरल है ।

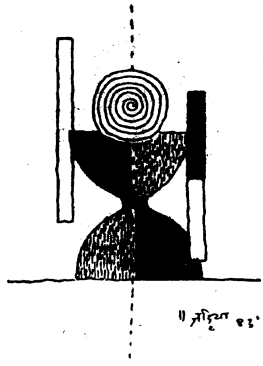

ऐसी सरलता
सहज नहीं–
कठिन साधना है
व्यक्तित्व की ।
वह अभिव्यक्ति है–
(गहरे में ही होते हैं उत्स
मीठे पानी के)
लेकिन जो बकवादी है
हर बात
'मैं' से शुरू करने का
आदी है–
जिसके चेहरे पर
कई-कई मुखौटे हैं–
निश्चय जानो–
कि वह बातें
भले करे लच्छेदार–
करम उसके खोटे हैं ।

☐ दिनकर सोनवलकर

समाज-सेवा को विनम्र प्रणाम

जब साहूजी राष्ट्रकर्मी ,स्वतन्त्रता-सेनानी श्रद्धा के पात्र थे, तब शक्ति-भर वे राष्ट्रीय आन्दोलन और राष्ट्रीय नेताओं का सहयोग कर रहे थे, और जब स्वराज्य के बाद संसद् में जाना इज्जत की बात हुई तो १९५२ से वे राज्य सभा के सदस्य के रूप में अपना योगदान कर रहे थे; और जब देश को उद्योगीककरण की आवश्यकता हुई और उद्योगपति समाज में समावृत हुए तो साहूजी उद्योगपतियों की प्रथम पंक्ति में पहुँच गये, और आज उन्होंने अपना समस्त जीवन धर्मप्राण बन कर समाजसेवा को अर्पित कर दिया है।

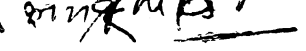

तीसरे मराठा युद्ध के समय मुगलों के वज़ीर नजीबुद्दौला थे। युद्ध के बाद रूहेला क्षेत्र कहलाने वाला यह इलाका इन्हीं नजीबुदौला को दे दिया गया था। उन्होंने उस क्षेत्र का सदर मुकाम बनाया नजीबाबाद। इस प्रकार नजीबाबाद, जहाँ सुप्रसिद्ध साहू-परिवार का निवास रहा, इतिहास-प्रसिद्ध स्थान है।

नजीबुद्दौला के साथी मुफ्ती कहलाते थे। स्वभावतः ये विलासी और मदान्ध थे। इन्हें धन की आवश्यकता बराबर बनी रहती थी। जब-जब इन मुफ्तियों को धन की आवश्यकता होती, तब-तब वे नजीबाबाद के साहुओं के पास ऋण लेने जाते और उसके बदले में जमींदारी के अपने गाँव गिरवी करते जाते और अन्त में बेचते जाते। इस प्रकार साहू-परिवार विशाल जमींदारी का स्वामी बना।

साहू कल्याणमलजी के सुपुत्र हुए सेठ सलेखचन्द्रजी, उनके सुपुत्र हुए श्री दीवानसिंहजी। उनकी चार सन्तानें थीं – साहू श्रेयांसप्रसादजी तथा साहू शान्ति प्रसादजी सुपुत्र तथा दो सुपुत्रियाँ सुश्री राजकलीजी और सब्जकलीजी। सुपुत्रियाँ कम आयु में ही काल-कवलित हो गयीं; और अनुज साहू शान्ति प्रसादजी भी चले गये। अपने ही परिवार के साहू गणेशीलालजी के यहाँ साहू श्रेयांस प्रसाद जी गोद गये थे। इन सबके निधन का प्रभाव साहू श्रेयांस प्रसाद जी पर पड़ते हुए मैंने देखा है। साहू शान्तिप्रसादजी के निधन के बाद वर्षों उनकी आँखों में आँसू सूख न पाये और आज भी जब समग्र जैन समाज के सेवा-कार्यों में रत होते हैं तो अपने अनुज की स्मृति को भुला नहीं पाते हैं।

कविकुल-गुरु कालिदास ने 'रघुवंश' में महाराजा दिलीप के गुणों का वर्णन करते हुए लिखा है: "त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्" अर्थात् रघुवंशी नरेश दान देने के लिए धन बटोरते थे और सत्य की रक्षा के लिए कम बोलते थे। "ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः। गुणा गुणानुबन्धित्वात्तस्य सप्रसवा इव।"

अर्थात् वे सब कुछ जानकर भी चुप रहते थे, शत्रुओं से बदला लेने की शक्ति रहते हुए भी उन्हें क्षमा कर देते थे, और दान दे कर या त्याग करके भी अपनी प्रशंसा की इच्छा नहीं करते थे। चुप रहने, क्षमा करने, और प्रशंसा से दूर भागने के गुण भी उनमें ज्ञान, शक्ति और त्याग के साथ ही उत्पन्न हुए थे।

महाराजा दिलीप एक विस्तृत साम्राज्य के शासक थे और साहू श्रेयांस-प्रसाद जैन भारत के एक महान् उद्योगपति। दोनों की स्थिति में स्वरूप-भेद तो है, किन्तु गुण-भेद कहीं परिलक्षित नहीं होता। सामान्यतः उद्योगपतियों में धन-मद आ जाता है, किन्तु साहूजी के व्यक्तित्व का निर्माण और विकास कुछ ऐसा हुआ है कि उनमें सामन्तों की साहसिकता, सत्यनिष्ठा, उदारता, हृदय की विशालता और दान-शीलता, धर्मनिष्ठा, क्षमाशीलता, परदुःख-कातरता और दयालुता एवं एक कुशल व्यावसायिक की व्यावहारिकता तथा धैर्य का समावेश स्वभावतः हो गया है।

साहूजी के साथ अपने पारिवारिक सम्बन्धों के कारण मुझे उनको बहुत निकट से देखने का मौका मिला है। उन्होंने जीवन में ७५ वसंत, ग्रीष्म, और हेमन्त देखे हैं; किन्तु जीवन का प्रवाह एवं परिवर्तन उन्हें कभी विचलित एवं स्थान-भ्रष्ट नहीं कर सका।

साहूजी को एक सफल एवं महान् उद्योगपति के रूप में दुनिया जानती है। शिक्षा के क्षेत्र में उनके द्वारा स्थापित विद्यालय और महाविद्यालय उनका भौतिक परिचय देते हैं। कला के क्षेत्र में उनकी पैठ सर्वविदित है। सार्वजनिक एवं सामाजिक कार्यों से हर कोई परिचित है। ऐसा लगता है कि उनका जीवन अब सब ओर से खिच कर समाज-सेवा के कार्यों में लग गया है। धर्म-प्राण परिवार में उन्होंने जन्म लिया; अतः वह उन्हें जन्मजात रूप से प्राप्त है। माता अत्यन्त धर्मपरायणा तथा स्नेहिल महिला थीं। निश्चय ही उनकी स्नेहसिक्त निश्चल छाया साहूजी पर छायी है। पितामह साहू सलेखचन्दजी तथा चचेरे बड़े भाई रायबहादुर जुगमन्दरदासजी के रईसी और अमीरी जीवन की झलक भी उनमें मिलती है। बड़े-से-बड़े व्यक्ति राष्ट्र-पति से ले कर मेरे जैसे सामान्य व्यक्ति तक पर उनका स्नेह और उनकी ममता इस बात का प्रमाण है कि अभिजात्य होते हुए भी उनमें समाजवाद के गुण अन्तर्हित हैं।

इसके अतिरिक्त उनके जिस रूप का परिचय कुछ ही व्यक्तियों को है, वह है उनकी राजनैतिक मान्यता एवं स्वतन्त्रता-सेनानी का कार्यकलाप। लाहौर में एक सुप्रसिद्ध बीमा कम्पनी के वे अध्यक्ष थे। उस समय कुछ क्रान्तिकारी (लोक-नायक जयप्रकाशजी के साथी श्री रामानन्द मिश्र सम्भवतः वह महाराजा बनारस के सम्बन्धी भी थे तथा स्वयं जे. पी.) उनके पास आ कर ठहरे थे। दूसरी बड़ी लड़ाई का ज़माना था। १९४२ का आन्दोलन उरूज[1] पर था। तब तत्कालीन विदेशी सरकार उसे कैसे सहन करती उन्हें गिरफ्तार किया गया और लाल किले में नज़र-बन्द कर दिया गया। जेल में प्रारम्भिक कई दिनों तक साहूजी भोजन न कर सके। उनसे मिलने एक पुराने परिचित आई. सी. एस. अंग्रेज जेल में मिलने आये तब उनके खाने की व्यवस्था घर से की गयी और वह अनशन और सत्याग्रह समाप्त हुआ।

१. अरबी शब्द; शीर्षबिन्दु, चरम सीमा।

जेल-जीवन में यह जानने के लिए कि दरभंगा जेल से भागे हुए जे. पी. तथा उनके साथी कहाँ हैं दिन और रात साहूजी से पुलिस और सी.आई.डी. पूछताछ करती रही। हर प्रकार के कष्टप्रद तरीक़े अपनाये गये। चार दिन तक एकाकी कोठरी में भी बन्द रखा गया; किन्तु परिणाम कुछ न निकला। २५ दिनों के बाद उन्हें ७२ घण्टों के अंदर पंजाब प्रान्त छोड़ने का सरकारी आदेश मिला। लाहौर से आकर दो मास दिल्ली रह कर वे बम्बई पहुँचे, जहाँ उन्होंने अपना स्थायी निवास बना लिया।

साहूजी का यह जीवन-प्रसंग अल्पज्ञात और अज्ञात है। इसे संयोग कहें या स्वअर्जित यश कि जब हमारे देश और समाज में जमींदार समादृत थे तो साहूजी उस वर्ग के सम्मानित सदस्य थे। जब राष्ट्रकर्मी, स्वतंत्रता सेनानी श्रद्धा के पात्र थे तब साहूजी अपनी शक्ति-भर राष्ट्रीय आन्दोलन और राष्ट्रीय नेताओं का सहयोग कर रहे थे, और जब स्वराज्य के बाद संसद् में जाना इज्जत की बात हुई तो १९५२ से वे राज्यसभा के सदस्य के रूप में अपना योगदान कर रहे थे; और जब देश को औद्योगीकरण की आवश्यकता हुई और उद्योगपति समाज में समादृत हुए तो साहूजी उद्योगपतियों की प्रथम पंक्ति में पहुँच गये और आज उन्होंने अपना समस्त जीवन धर्मप्राण बन कर समाज-सेवा को अर्पित कर दिया है।

स्वभाव में सामन्तवाद की विशेषताओं के समावेश का सद्परिणाम यह हुआ है कि वे प्रत्येक कार्य आला पैमाने पर करने के आदी हो गये हैं और उसी पर ज़ोर देते हैं। स्वभाव से वे जहाँ सिंधु के सदृश गम्भीर हैं, व्यवहार में हिमालय के सदृश उतने ही उच्च और महान् हैं।

साहूजी का सबसे बड़ा गुण यह है कि बड़े हो कर भी वे विनम्र रहे। तुलसीदास ने कहा है—"निज परिताप द्रवै नवनीता, परदुख द्रवै सो संत पुनीता।" इन अर्थों में वे सन्त हैं और हर दीन-दुःखी और ज़रूरतमन्द के लिए वे सदा सहायता के लिए प्रस्तुत रहते हैं। मैंने देखा है कि जब वे किसी को कुछ देते हैं तो उनकी नज़रें झुक जाती हैं; और तब मुझे याद हो आती है रहीम की यह उक्ति:— "देनदार कोउ और है भेजत सो दिन रैन, लोग भरम हम पर धरैं, या तें नीचे नैन"।

पिछले २-३ वर्षों में उन्होंने जैन समाज को राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आदर प्राप्त कराया है। १९८१ में श्रवणबेलगोल के इन्द्रगिरि पर्वत पर स्थित विश्व-प्रसिद्ध भगवान् गोम्मटेश्वर की मूर्ति की प्रतिष्ठा के एक हज़ार वर्ष पूर्ण होने पर संपन्न सहस्राब्दि-समारोह देश और विदेश में चिरकाल तक याद किया जाता रहेगा और गत वर्ष धर्मस्थल में रत्नगिरि पर्वत पर भगवान् गोम्मटेश्वर की प्रतिष्ठा एवं प्रथम महामस्तकाभिषेक का समारोह भी समग्र जैन एवं इतर समाज (क्योंकि धर्मस्थल भारत के सभी धर्मों का मिलन-स्थल है) में सदा स्मरणीय रहेगा।

भगवान् के २५०० वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर देश की राजधानी दिल्ली में जो वर्द्धमान वनस्थली तथा भगवान् महावीर मेमोरियल का निर्माण हो रहा है, उसकी संचालक समिति के भी साहूजी अध्यक्ष हैं और समग्र जैन समाज की ओर से होने वाले इस चिरस्मरणीय निर्माण-कार्य में भी उनका अपूर्व योगदान है।

समाज-सेवा के कार्य में अग्रणी साहूजी के अमृत महोत्सव के अवसर पर मैं उन्हें विनम्र प्रणाम निवेदित करता हूँ। □□

साधुमना भाई साहब

* दुलहन ने कमरे के भीतर झाँका; पलंग विदेशी रंग-बिरंगे वस्त्रों से सुसज्जित थे।
* दुलहन द्वार पर ही ठहर गयी और पास खड़ी सास से कहा—"माजी, मैं अपने ही बिस्तरे पर सोऊँगी!"
* सास का ध्यान गया, दुलहन की देह खादी के वस्त्रों से शोभित है।
* दुलहन की आशा के विरुद्ध बहुत ही शान्त स्वर में सास ने कहा—"बहू बारात का सामान स्टेशन से आ रहा है; ले तब तक तू इस कुरसी पर बैठ जा। थोड़ी देर में तेरा बिस्तर आ जाएगा; मैं तुरन्त बिछवा दूँगी।"
* दुलहन द्वार-से-लगी कुरसी पर बैठ गयी और बिस्तर आने पर अपने कमरे में चली गयी।
* दूसरे दिन कस्बे भर में बहू की चर्चा फैल गयी कि सुहाग के चिह्न बिछवे वह नहीं पहनती, नथ तो क्या पहनेगी?
* बहू तीन-चार दिन देखती ही रही कि हरेक आने वाली बहू के बिछवों पर होठ बिचकाती है और सास बहू का पक्ष ले कर उसे आने वालियों के आक्रमणों से बचाती है।
* पाँचवें दिन बहू ने सास के पास बैठ कर कहा—"माँ जी मुझे बिछवे पहना दो; सारे दिन आप परेशान होती हैं, मुझे संकोच होता है। फिर खादी की तरह बिछवों की बात कोई सिद्धान्त तो है नहीं!"
* सास ने प्यार से बहू को पुचकार कर कह—"बहू, तू जैसे वहाँ रहती रही है, वैसे ही यहाँ रह। इन सब की चिन्ता तू छोड़, इनसे मैं निमट लूँगी!"
* यह विशिष्ट सास है साहू श्रेयांस प्रसाद और साहू शान्ति प्रसाद की माता श्रीमती मूर्तिदेवी और यह विचित्र बहू है गाँधीजी और जमनालालजी के वातावरण में पली, रामकृष्ण डालमिया की बेटी श्रीमती रमारानी; प्रसंग है नजीबाबाद का।

अब तक जो कहा, क्या अर्थ है उसका? उसका अर्थ है सास का अच्छा स्वभाव और फलितार्थ है; प्राचीनता के, परम्परा के प्रति अपनी आस्था बनाये रखते हुए भी, नवीनता के, परिवर्तन के प्रति तादात्म्य स्थापित करने की वृत्ति; यानी निरन्तरता और नूतनता का संगम, जो प्राचीन समाज को युग-युग में नवीन रक्त देकर स्वस्थ और गतिशील रखता है।

यह है १९५० और स्थान दिल्ली का लाल मन्दिर। यहीं हो रहा है भारतीय दिगम्बर जैन महासभा का अधिवेशन और निर्वाचित अध्यक्ष हैं श्री साहू श्रेयांस

प्रसाद जैन। सामाजिक परिस्थिति निर्णायक दौर में है; एकदम तलवार की धार पर कि डगमगाने की ज़रा भी गुंजाइश नहीं। पहला तंग करने वाला प्रश्न है यह कि कुछ नेता जैनधर्म को स्वतन्त्र मानते हुए भी जैन समाज और हिन्दू समाज की एकता का समर्थन करना चाहते हैं, पर कुछ नेताओं को इसमें यह भय सता रहा है कि इस दशा में हिन्दू कोडबिल और हरिजन मंदिर प्रवेश क़ानून जैन समाज पर लागू होंगे और आगे चल कर जैनियों का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं रहेगा।

विषय-निर्वाचनी में यह भय खुल कर सामने आया, तो अध्यक्षता की अग्नि परीक्षा हुई। साहूजी ने भय-भंजन-मंत्र-तंत्र के रूप में श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय और श्री ऋषभदास राँका का उपयोग किया। गोयलीयजी ने भाषण-कला के प्रचण्ड प्रवाह से भय के पैर उखाड़ दिये और राँकाजी ने यह कह कर कि बम्बई के हरिजन मंदिर प्रवेश क़ानून से जैनियों के मुक्त होने का फल हुआ है कि उधर जैनी एक बहिष्कृत जाति हो चली है, जिससे जैनियों के लिए सम्मानपूर्वक रहना मुश्किल हो गया है, भयभीतों के हाथों में ऐसा दर्पण थमा दिया कि वे अपना मुँह देख सकें। फलस्वरूप एकता का प्रस्ताव नये रूप में तैयार हो गया।

दूसरा प्रश्न हरिजनों के मंदिर-प्रवेश पर था और परिषद् को इस पर इस बार स्पष्ट मत देना था। गत वर्ष मुजफ्फर नगर अधिवेशन में इस प्रश्न पर जो प्रस्ताव पास हुआ था, वह गोलमाल था कि सरकार इस सम्बन्ध में जो कार्रवाई करे, उसमें जैन समाज के नेताओं से भी सलाह ले, क्योंकि जैन मंदिरों की पूजा-विधि अपने ढंग की है। स्थिति की जटिलता यह थी कि प्रमुख दिगम्बर मुनि आचार्य शान्तिसागरजी ने हरिजन-मंदिर-प्रवेश के विरोध में अन्न का त्याग कर रखा था। इस जटिलता को जंगी रूप इस ख़बर ने दे दिया था कि दिगम्बर जैन मुनि श्री नेमिसागर जी के तपोवन में घंटों की बातचीत के बाद यह निर्णय हुआ है कि परिषद् में समर्थक प्रस्ताव को रोकने के लिए उसका अधिवेशन ही न होने दिया जाए।

मैंने परिषद् का प्रस्ताव पढ़ा। वह इतना स्पष्ट था कि मुजफ्फरनगर की तरह कोई आड़ ली ही नहीं जा सकती थी। गोयलीय जी ने कहा–"आज झमेले की तैयारी है"। भारतीय समाज में भड़क उठने की जो वृत्ति है, एक पत्रकार के रूप में मैं उसका अध्येता रहा हूँ। ऐसे अवसरों पर कुछ भी हो सकता है। मैंने साहू श्रेयांस प्रसादजी से कहा–"हरिजन प्रस्ताव जिस स्पष्ट रूप में है, उस पर आज भयंकर झमेला होगा यह निश्चित है; इसलिए उस प्रस्ताव को आज या अभी न लायें, तो कैसा है?" मेरा प्रश्न जैन समाज के सुधारक नेतृत्व के मानस को टोह लेने वाला था और वह टोह पूरी हो गयी। श्रेयांस प्रसादजी ने अपनी शान्त मुद्रा में सहज भाव से कहा–"प्रभाकरजी, हम यह प्रस्ताव पास न करा सकें, तो

फर परिषद् के जीवित रहने से ही क्या लाभ है?" मेरे लिए ही नहीं, राष्ट्रीय जीवन के लिए भी यह उत्तर मार्गदर्शक था। संस्थाएँ बनती हैं किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए। उद्देश्य की दिशा में काम नहीं होता, पर संस्थाएँ चलती रहती हैं। श्रेयांस प्रसादजी की दृष्टि स्पष्ट थी कि संस्थाएँ शोभा-शृंगार का साधन नहीं है, वे परिवर्तन की वाहन हैं और उनका काम इस दिशा में बाधाओं के होते भी बढ़ते रहना है। हंगामा बेहद उग्र था, यथास्थितिवादी मरने-मारने को तैयार हो कर आये थे, पर उस अग्निमय वातावरण में श्रेयांस प्रसादजी जितने शान्त-सन्तुलित रहे, वह उनका ही काम था!

और यह है डालमियानगर। एक दिगम्बर जैन मुनि वहाँ ठहरे हुए हैं। पूरा नाम इस समय स्मरण नहीं, पर उसमें 'सूरज' शब्द था। उन्हें दाह का रोग हो गया है और वे भयानक प्यास से विह्वल हैं। पानी दो, 'पानी दो' हर क्षण उनकी यही पुकार है, पर परंपरा के अनुसार नियत समय पर चौबीस घंटों में एक बार पानी पीना ही मुनिधर्म है, दूसरी बार पीना पाप कर्म है। अब एक बड़ा ही करुण दृश्य कि जैन धर्मावलम्बी स्त्री-पुरुष मुनिजी को चारों ओर से घेरे हुए हैं और दाह सहने एवं पानी न पीने के लिए मुनिजी को समझा रहे हैं। मुनिजी थोड़ी देर चुप होते हैं और फिर पानी के लिए पुकार मचाते हैं। कष्टदायक दारुण स्थिति यह है कि रोग में औषधि लेना भी मुनिधर्म के विरुद्ध है।

दूसरे दिन स्थिति मुनिजी के लिए असह्य हो गयी और पुकार चीत्कार में बदल गयी पर धर्मात्मा दर्शकों की दृढ़ता और भी पक्की हो गयी कि मुनिधर्म की रक्षा आवश्यक है। इस दृढ़ता का प्रदर्शन इस रूप में हुआ कि कोई सहृदय दर्शक चीत्कार से द्रवित हो पानी ले लाया, तो उसे धकेल कर भगा दिया गया। शाम तक स्थिति और बिगड़ गयी और मुनिजी ने कहा—"मैं मुनिधर्म का पालन करता रहा हूँ, पर अब मैं मुनि-पद का ही परित्याग करता हूँ। मैं एक साधारण नागरिक हूँ, मुझे पानी पिलाओ।" स्थिति अब स्पष्ट थी, पर धर्मात्माओं की धर्म-श्रद्धा अजेय थी; मुनि-पद का त्याग करने पर भी, वे उन्हें मुनि बनाये रखने के लिए पानी देने को तैयार नहीं हुए!

रात-भर यही हंगामा रहा; सुबह छह बजे साहू शान्ति प्रसाद जैन बम्बई से डालमिया नगर लौटे। मुनिजी के रोग का और धर्मात्माओं के योग का समाचार सुनते ही वे मुनिजी के स्थान पर गये और सबको इधर-उधर कर मुनिजी के पास पहुँचे। उन्होंने धर्मात्माओं की ओर दोनों हाथ आकाश की ओर उठा कर कहा—"यदि इन्हें पानी पिलाना पाप है, तो उस पाप को मैं अपने सिर लेता हूँ और इन्हें पानी पिलाता हूँ"। मुनिजी ने जाने कितना पानी पिया, कितना पानी पिया, पर साहू शान्ति प्रसादजी ने धर्मात्माओं की धिक्कार का विष उससे बहुत ज्यादा

(शेष पृष्ठ २०० पर)

आत्महित ही समाजहित

एलाचार्य मुनि विद्यानन्द/डॉ. नेमीचन्द जैन; बाहुबली (कुंभोज): ७ सितम्बर, १९८३

डॉ. नेमीचन्द जैन : १९८३-८४ में समाजसेवी साहू श्रेयांस प्रसाद जैन का अमृत-महोत्सव संपन्न हो रहा है। ऐसे संदर्भ मेरे लिए स्थूल न होकर सूक्ष्मतर होते हैं विशेषत: तब जब मैं किसी व्यक्ति को मूल्यांकन-की-प्रक्रिया में एक संस्था के रूप में विकसित पाता हूँ।

मैं चाहता हूँ कि समाज-सेवा की प्रक्रिया में सहज ही संस्था बनते गये ऐसे व्यक्तियों की प्रेरणा से सामाजिक नेतृत्व की एक ऐसी निर्मल परम्परा खड़ी हो कि जो भी लोग समाज-सेवा के क्षेत्र में आयें वे निरभिमान और समर्पण की भावना से उमंगित हो कर ही अपना पग उठायें। इसे दृष्टि में रखते हुए मैं आपसे कुछ सवाल कर रहा हूँ।

पहला प्रश्न यह कि आप सारा देश पाँव-पैदल घूमते हैं और एक व्यापक लोक-संपर्क अनायास ही आपका बनता है। फिर भी मैंने देखा है आप आठों पहर आत्मोन्नयन में डूबे रहते हैं। इस तरह आत्मोत्थान करते हुए आप समाज को एक उदात्त-उदार अन्तर्दृष्टि प्रदान करते हैं। आज भारतीय, कहें, विश्व-समाज हिंसा, आतंक और भीषण संत्रास से घिरा हुआ है। उसका खान-पान विकृत है और रहन-सहन तृष्णाओं में कराह रहा है। ऐसे क्षणों में उसके उत्थान के लिए क्या किया जाए?

एलाचार्य मुनि विद्यानन्द : प्रश्न व्यापक और गूढ़ है। यदि हम इसे आध्यात्मिक दृष्टि से लें, तो हमारे आचार्यों ने बहुत कम शब्दों में बहुत गहन कह दिया है। उनका कथन है कि व्यक्ति को आत्महित करना चाहिये, क्योंकि आत्महित में ही लोकहित सन्निहित है। सन्निहित क्यों है? इसलिए कि आदर्श यदि व्यक्ति स्वयं बन जाएगा, तो उसे देख कर दूसरे व्यक्ति भी आदर्श बनने का प्रयत्न करेंगे। और यदि खुदी को उठाये बिना हम समाज-सेवा में लगेंगे, तो वह कोरमकोर बात होगी, उसके पीछे आचरण-बल नहीं होगा। इसलिए खुद वह जितना उस रास्ते चलेगा, दूसरों के लिए वह उतना ही प्रेरक और उपकारी सिद्ध होगा।

ने. : अर्थात् समाज-सेवा के लिए आत्मोत्थान आवश्यक है।

वि. : हाँ; क्योंकि उसमें एक आदर्श की स्थापना है। जो व्यक्ति एक आदर्श जीवन व्यतीत करता है, उसके लिए समाज-सेवा बहुत सुगम हो जाती है।

ने. : समाज ऐसे लोगों का ही अनुकरण करता है।

वि. : हाँ; वह अपने-आपमें आदर्श बन जाएगा। आत्महित करने वाला परहित कर सकता है; क्यों? जैसे आप एम.ए. तक पढ़े हैं, तो आप एम.ए. तक

पढ़ा सकते हैं। यदि आप अठन्नी कमाते हैं, तो इकन्नी दे सकते हैं। यदि आप तैरना जानते हैं, तो तैरना सिखा सकते हैं।

ने. : यदि पूँजी ही नहीं होगी, तो लगेगी क्या ?

वि. : खुद की शक्ति अर्जित करने के लिए स्वयं को आदर्श बनना होगा और आत्महित करना होगा। स्वार्थ इसमें दीखता है, पर इस स्व-अर्थ (स्वार्थ) में परम-अर्थ (परमार्थ) निहित है। यह जैनाचार का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है। आत्महित के साथ जिसमें परहित का सामर्थ्य है, उसे परहित अवश्य करना चाहिये। जब पूछा गया कि भगवन्, आत्महित और परहित – इन दोनों में श्रेष्ठ कौन-सा है ? तो हमारे महर्षियों ने आत्महित को श्रेष्ठ बताया। क्यों है श्रेष्ठ आत्महित ? इसलिए कि यदि व्यक्ति अपने जीवन को ऊँचा उठायेगा, तो दूसरों का जीवन आपोआप ऊँचा उठेगा और यदि वह दूसरों के जीवन को ऊँचा उठाने में लगेगा, तो खुद खाली रह जाएगा।

ने. : 'आत्महित-में-समाजहित' – अद्‌भुत सूत्र है।

वि. : मात्र सूत्र ही नहीं, मूलभूत आध्यात्मिक सिद्धान्त है। लगभग हज़ार वर्ष हुए आचार्य अमितगति ने कहा कि आप सामायिक करें, ध्यान करें। ध्यान के सूत्रों से भी उन्होंने ऐसे लोकहित के सूत्र बया पक्षी की तरह गूँथ दिये। कहा–'सत्वेषु मैत्री' समस्त प्राणियों के लिए समताभाव रखें। उनके मित्र बनें।

ने. : समाज के सखा बनें। एक व्यापक सख्यभाव विकसित करें।

वि. : फिर कहा : 'गुणिषु प्रमोदम्'– जो गुणवान व्यक्ति हैं, उनके प्रति आह्लाद का भाव रखें। इससे यह होगा कि व्यक्ति सोचेगा, मुझे और भी गुणवान बनना चाहिये। आगे कहा–'क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्' – जो दुःखी हैं, तन, मन, वचन से उनके दुःख दूर करने का यत्न करें।

ने. : यह सब तो सेवा का मूलाधार हुआ।

वि. : बहुत बड़ी बात कही। वह भी सामायिक/ध्यान/योग-जैसे सूत्र में 'क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्'– दुःखी लोगों का दुःख दूर करना ध्यान है, तप है; धर्मचर्या का एक अभिन्न अंग है; सामाजिक/राष्ट्रीय चर्या का एक महत्त्व का अंग है। समझाया उन्होंने कि देखो कि यदि अपनी झोपड़ी में आग लगी हो या किसी दूसरे की झोपड़ी में आग लगी हो तो जब सब मिल कर बुझाते हैं तो ठीक हैं; क्योंकि दूसरे की झोपड़ी की आग बुझाना स्वयं की झोपड़ी को बचाना है। इसी तरह दूसरों के जो दुःख हैं, उन्हें दूर करने के लिए तन, मन, धन से निष्काम समर्पित होना सुन्दर सामाजिक वातावरण तैयार करना ही है। 'क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा-परतत्वम्'– दुःखी जीवों का दुःख दूर करना करुणा की यह जो भावना है; सुनिये तीर्थंकर-प्रकृति का बन्ध इसीसे होता है।

ने. : इतनी उत्कट भावना है यह।

वि. : जो व्रती हैं, साधु-सन्त हैं, उनके द्वारा दु:खी जीवों का दु:ख दूर करने का जो प्रयास किया जाता है उसमें विकास की असंख्य संभावनाएँ हैं।

ने. : सेवा में इतनी बड़ी शक्ति है ?

वि. : हाँ। सेवा है क्या ? असल में आध्यात्मिक दृष्टि से लोकसेवा आत्मा-की-सेवा ही है; क्योंकि सेवा से आत्मा आनन्दित होता है। ऋषि-मुनियों ने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति के मन में धर्म समाया हुआ है। वास्तव में सेवा करते हुए हमारे मन में जो आनन्द उत्पन्न होता है, वही धर्म है।

ने. : फिर आप कृपण क्यों हों; इस आनन्द को अपने तक सीमित न रख कर सबको बाँट दें।

वि. : इससे वह सब तक फैल जाएगा। स्वभाव ही है यह उसका। समाज-सेवा को लें। धर्मानन्द कौसाम्बी ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है कि पार्श्वनाथ के युग में जैन समाज में दु:खी जीवों के दु:ख दूर करने की बहुत बड़ी परिपाटी थी, कालान्तर में जिसे हम छोड़ते गये। ईसाइयों ने इसे अपना लिया और सेवा से दुनिया को जीत लिया। वस्तुत: हमें दूसरों के मन जीतना है; समाज और राष्ट्र के मन को जीतना है। सेवा से ही यह संभव है और सेवा के लिए चाहिये त्याग/ नि:स्पृह समर्पण।

ने. : यह तो प्राकृतिक है कि यदि त्याग मन में है, तो उत्कृष्ट सेवा होगी। निष्काम सेवा दुनिया की सबसे बड़ी नियामत है।

वि. : निष्कामता ज़रूरी है।

ने. : नि:स्वार्थ भाव और निष्काम आचरण।

वि. : सेवा में ये दोनों हों।

ने. : और समर्पण।

वि. : अमृतचन्द्राचार्य ने कहा कि मैं जो शास्त्र लिख रहा हूँ, वह मेरी आत्मा की विशुद्धि के लिए है। सभी आचार्यों ने कहा है कि यदि हम किसी की सेवा करते हैं, तो उस पर हम कोई उपकार नहीं करते; क्योंकि यदि वह हमारी सेवा को स्वीकार कर लेता है, तो यह हम पर उसका उपकार है।

ने. : अच्छा।

वि. : वह धन्यवाद का पात्र है, क्योंकि उसने हमारी सेवा को स्वीकार कर लिया।

ने. : इसमें विनम्रता है। विनम्रता भी सेवा है।

वि. : हाँ; असली सेवा तो वही है।

ने. : कहा गया है कि हमारा सामाजिक चरित्र आत्मचरित्र का ही प्रतिबिम्ब है; क्योंकि समाज में प्रामाणिकता, विश्वसनीयता और निष्कपटता आ सकते हैं तभी,

जब व्यक्ति स्वयं निर्दोष बने, ऊँचा उठे; छल-छिद्र से बचे। लगभग सारा समाज आज हिंसा की ओर दौड़ रहा है; क्या इसका कोई समाधान है ?

वि. : यह कलियुग है; विषमताएँ इसमें कभी बढ़ती हैं, कभी घटती हैं।

ने. : उतार-चढ़ाव चलता है।

वि. : हाँ; मुझे यह लग रहा है कि आज जो विषमता है, वह बहुत समय टिकने वाली नहीं है। जैसे दीया है, और तेल चुक रहा हैं, तो वह बुझ जाएगा; उसी तरह समाज में/राष्ट्र में हिंसाचार की दुष्प्रवृत्ति बढ़ेगी, तो वह अधिक दिन टिक नहीं पायेगी। हिंसा मनुष्य का मूल स्वभाव नहीं है।

ने. : पराकाष्ठा आ रही है।

वि. : हाँ; वह ज्यादा दिन टिकने वाली नहीं है। बात यह है कि दुनिया बदलती है, खान-पान बदलते हैं; मकान की, कपड़ों की डिज़ाइनें भी बदलती हैं। खाद्य वस्तुओं के बनाने की पद्धतियाँ बदलती हैं। लिपि, भाषा, व्याकरण – सब बदलते हैं; परन्तु धर्म कभी नहीं बदलता।

ने. : अच्छा।

वि. : क्योंकि अहिंसा अहिंसा है; क्योंकि आचार्यों ने धर्म की असन्दिग्ध परिभाषा दी है–'वत्थु सहावो धम्मो' (वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म है)। जैसे, अग्नि का अपना धर्म है जलाना, वह बदलता नहीं है। सूर्य का अपना धर्म है प्रकाश देना; चन्द्रमा का शीतलता देना है, वह कभी बदलता नहीं है। जो वस्तु की मौलिकता है; उसमें कोई परिवर्तन नहीं होगा। वह शाश्वत, ध्रुव है; पर्यायें बदलती रहेंगी।

ने. : अस्तित्व जहाँ-का-तहाँ रहता है; उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता।

वि. : सामाजिक परिवर्तन भी होते हैं। समाज परिवर्तनशील है। परिवर्तन प्रकृति का नियम है।

ने. : परिवर्तन आकृतिमूलक होते हैं; द्रव्यमूलक नहीं।

वि. : इसलिए जो परिवर्तन हो रहा है, उसे हिंसा से बचाये रखने के लिए तदनुरूप वातावरण बनाना होगा। इस दृष्टि से जनता, सरकार, और समाज – तीनों को ही कुछ करना होगा।

'तत्त्वार्थसूत्र' में समाज-सेवा का एक बहुत प्रेरक सूत्र आया है : 'पस्परोपग्रहो जीवानाम्'–हम परस्पर उपकार करके ही जी सकते हैं; शिष्य आज्ञा पालन कर सेवा करता है। ताँगे वाले को हमने अठन्नी दी, उसने सामान-सहित घर पहुँचा दिया। यदि हम कहें कि हमने अठन्नी दे कर उपकार किया, तो वह कहेगा कि मैंने अठन्नी ले कर घर पहुँचाया। समाज में परस्पर उपकार यानी सेवा बहुत जरूरी है। दुनिया परस्पर उपकार से चल रही है। पेड़/वृक्ष हैं, छाया देते हैं; सूखने के बाद लकड़ी देते हैं,

उससे अलमारी-टेबल इत्यादि बनते हैं। एकेन्द्रिय; जैसे वृक्ष का यदि उपकार हो सकता है, तो पंचेन्द्रिय जीव, जो पढ़ा-लिखा और समझदार है, उपकार कर ही सकता है; लेकिन उपकार की प्रक्रिया में मुझे खयाल रखना होगा कि मेरी सेवाएँ लोगों ने स्वीकार कीं, अत: मैं धन्य हूँ; मुझ पर उनका उपकार है। आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान से ओतप्रोत सेवा व्यक्ति को संसार से मुक्त भी कर सकती है और समाज में प्रतिष्ठित भी।

ने. : सेवा ?

वि. : हाँ।

ने. : एक उलझन है कि नामालूम क्यों बुराइयाँ जल्दी संगठित हो जाती हैं, और अच्छाइयों को संगठित होने में बहुत समय लगता है।

वि. : है यह। जैसे, यदि कोई आपको धक्का दे दे, तो आप एकदम गिर जाते हैं। जब ऊँचाई चढ़ते हैं, तो साँस फूलता है। मकान बनाने में बहुत पुरुषार्थ करना होता है, लेकिन किसी को गिराने में देर नहीं लगती। ग्लास बनाने में समय लगता है, लेकिन तोड़ने में नहीं। इसी तरह एक अच्छा घराना पैदा करने में पीढ़ियाँ लग जाती हैं और उसी घराने को खत्म करने में एक पीढ़ी काफी है। बुराई में छल, षड्यन्त्र; अच्छाई में सद्भाग्य, पुरुषार्थ है।

ने. : हिंसक दल यानी सेना तो बहुत जल्दी बन जाती है, लेकिन अहिंसक जन संगठित क्यों नहीं होते ? मारने के लिए तो शक्ति पैदा कर लेते हैं; किन्तु · · ·

वि. : अहिंसा भावना है, वह व्यक्तिगत है; इसलिए इसमें संगठन की बात कदाचित् नहीं है। एक बात बताऊँ, यह बहुत वैज्ञानिक है, अहिंसा के बारे में आपने पूछा, इसलिए बता रहा हूँ। 'भगवती आराधना' के रचयिता कहते हैं : 'दुनिया में जितनी भी आत्माएँ हैं, वे सब बीज-रूप में अहिंसक हैं'। आप कहेंगे कि शेर तो हिंसक है, फिर भी वह अपने बच्चों तथा शेरनी के लिए अहिंसक है। कसाई भी अपनी पत्नी, बच्चों, दूध देने वाले पशुओं को नहीं मारता। एक रूप हिंसक, दूसरा अहिंसक। दुनिया में ऐसा कोई प्राणी नहीं है; जिसके हृदय में अहिंसा नहीं, तथापि अपने-पराये के कारण हिंसक भाव बन जाते हैं।

ने. : यानी हम आत्मीयता का विस्तार करेंगे, तो हिंसा आपोआप समाप्त हो जाएगी ?

वि. : हाँ।

ने. : सेवा के माध्यम से उस आत्मीयता का विकास हो सकता है ?

वि. : क्यों नहीं, अवश्य हो सकता है। सम्पत्ति, या सत्ता के कारण भी हिंसा होती है; जैसा हम सुनते हैं कि सम्पत्ति, या सत्ता के कारण पुत्र ने अपने पिता को जेल में डाल दिया, या पति ने पत्नी को ज़हर दे दिया। दुनिया में अहिंसक भाव

स्वतः सिद्ध विद्यमान है। भव्य आत्माओं ने उसे वटवृक्ष-जैसा विशाल रूप दे दिया; लेकिन अन्यों में वह बीज-रूप में तो है ही।

ने. : बीज है, किन्तु सुषुप्त।

वि. : उसे जागृत करने का काम बुद्धिजीवी, धार्मिक, साधु-साध्वी ब्रह्मचारी, त्यागी इत्यादि कर सकते हैं।

ने. : स्त्री-शक्ति भी महत्त्वपूर्ण है। आधी मानव-जाति स्त्रियों की है—थोड़ा-सा फर्क हो सकता है। स्त्री को सेवा का प्रतीक मानते हैं – माँ के रूप में। महिलाओं के सामने सेवा की कौन-सी दृष्टि रखनी चाहिये?

वि. : वास्तव में, उनका अपना जो परिवार है, यदि वे अपने परिवार को आदर्श रूप में सँभाल लें, तो आश्चर्यजनक कुछ हो सकता है। बच्चे पर इतना अच्छा संस्कार करें कि वह भगवान् ऋषभदेव बन जाए, राम बन जाए, महात्मा गाँधी बन जाए, आचार्य शान्तिसागर बन जाए, आचार्य समन्तभद्र बन जाए। यदि स्त्रियाँ अपना घर सँभाल लें, बच्चों को सँभाल लें, तो समाज सँभल सकता है।

ने. : परिवार भी तो मिनी समाज ही है।

वि. : है ही; यदि इकाई ठीक होगी, तो पूरा समाज ठीक होगा।

ने. : घटक को संस्कार देना ज़रूरी है।

वि. : हाँ।

ने. : इससे पूरा समाज सुसंस्कृत हो सकता है।

वि. : हो सकता है। महात्मा गाँधी ने एक बात कही थी – बहुत मार्के की कि दुनिया बढ़ती जा रही है, या तो उसके साथ बढ़ते जाओ या फिर ऐसी शक्ति अर्जित करो कि दुनिया को अपने विचार-आचार के साथ चला सको। हमें स्वयं में ऐसी शक्ति अर्जित करनी चाहिये कि हम समाज को साथ ले जा सकें।

ने. : यह संभव है, यदि हम अंशतः करते चले जाएँ, तो एक दिन वह वट-वृक्ष का रूप धारण कर सकता है।

वि. : बहुत अच्छी बात कही आपने।

ने. : हमारे समाज में लगभग १० हजार साधु हैं, दिगम्बर नहीं, वे तो क़रीब ३०० होंगे। साधुओं को सेवा के संदर्भ में क्या करना चाहिये? ऐसे वे 'आत्मसेवा' तो करते ही हैं।

वि. : सच बात तो यह है कि आत्मकल्याण में मग्न रहना सबमें बड़ी समाज-सेवा है। सिन्धु और बिन्दु अलग-अलग होने पर भी एक अखण्ड हैं। यदि समुद्र में से एक बूँद निकाल कर पत्थर पर रख देते हैं, तो सूरज की किरणें उसे सुखा देती हैं। इसी प्रकार जल-बिन्दु की तरह ही साधु भी समाज से अलग नहीं रह सकता;

अतः उसे चाहिये कि वह आदर्शों पर स्वयं यथाशक्ति चले और फिर ज्ञान दे, विचार दे; दिशाबोध दे।

ने. : उसे समाज को स्वस्थ चिन्तन देना चाहिये।

वि. : यथासंभव/यथाशक्ति। उसे सेवा-कार्य का परिचालन करना चाहिये।

ने. : आपने कहा कि साधु भी समाज का अंग ही है, लेकिन विशिष्ट अंग है।

वि. : विशिष्ट तो है ही।

ने. : इसलिए उसका दायित्व बढ़ जाता है।

वि. : बढ़ेगा; बढ़ना चाहिये। बात यह है कि साधु यदि केवल दूसरों को सुधारने के पीछे चलेगा, तो वह आत्मबोध खो सकता है; इसलिए स्वरूप को न खोते हुए, उसे विकासोन्मुख रखते हुए उसे क्वचित्, कदाचित्, किंचित्, थोड़ा चिन्तन समाज को अवश्य देना चाहिये। यह भी धर्म का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है।

ने. : वह स्वयं आदर्श बने।

वि. : उसकी सबमें बड़ी जिम्मेदारी ही यह है कि वह आदर्श बने; लेकिन इसकी पूरी-पूरी सावधानी रखे कि दूसरों को सुधारने में वह स्वयं को खो न बैठे। यदि कदाचित् ऐसा हुआ, तो वह सेवा के स्थान पर अ-सेवा ही होगी।

ने. : महाराष्ट्र में दक्षिण भारत जैन सभा (वीर सेवा दल) द्वारा जो व्यसन-मुक्ति-आन्दोलन चलाया जा रहा है, वह भी समाज-सेवा ही है।

वि. : है; पूज्य समन्तभद्रजी महाराज ने बाहुबली (कुंभोज) के क्षेत्र में डॉ. धनंजय गुंडे-जैसे कर्मठ कार्यकर्ताओं के सहयोग से ११७ गाँवों के युवकों का एक वीर सेवा दल बनाया है, जिसका उद्देश्य है : 'निर्व्यसनी बनो, स्वाध्याय करो, मन्दिर जाओ, शास्त्र को सुनो-समझो, दूसरों को निर्व्यसनी बनाओ'। गत २२ मई, ८३ को कोल्हापुर में वीर सेवा दल द्वारा व्यसन-मुक्ति-पदयात्रा के अन्तर्गत एक प्रशस्त और विशाल रैली निकाली गयी, जिसमें लगभग २००० वीर सैनिकों ने भाग लिया। सामान्य लोगों पर इसका अच्छा प्रभाव पड़ा। व्यसन छोड़ने-छुड़ाने का प्रचार किया गया। ये वीर-सैनिक व्यसनों से बच कर समाज-सेवा में लगे हुए हैं।

ने. : व्यसन-मुक्ति-आन्दोलन की मूल प्रेरणा समन्तभद्रजी महाराज हैं क्या?

वि. : हाँ; यह उन्हीं की देन है। उन्हें यह विचार आया और वीर सेवा दल का गठन हुआ, जो अब 'सेना' के रूप में अनेकविध सेवा-कार्य कर रहा है।

ने. : इस तरह उन्होंने एक आदर्श भी रख दिया कि अच्छाइयाँ संगठित हो सकती हैं। अच्छा, महाराजश्री, व्यसन के बारे में कुछ बताइये।

वि. : जो वस्तु/प्रवृत्ति मनुष्य के मस्तिष्क को विकृत करे, वह व्यसन है; और जो मनुष्य को सन्मार्ग पर लाये – लगाये, वह संस्कार है। जुए के व्यसन से पाण्डवों

को पन्द्रह साल जँगल में भटकना पड़ा। महाभारत हुआ। शराब से यदुवंश का नाश हुआ। महाभारत में लिखा है कि कलियुग में जन्म-से-मृत्यु तक जो शराब की एक बूँद भी नहीं पीता, उसे हम 'मुनि महाराज' समझेंगे। इससे स्पष्टतः सिद्ध होता है कि उन्हें भय था कि पाण्डवों और यादवों के युग में आगे चल कर शराब का दुष्प्रभाव होगा। आज इसके कारण ग़रीबी और बढ़ रही है; क्योंकि जिसे शराब की लत एक बार लगी कि फिर वह बर्बाद करके ही छोड़ती है।

ने. : वह तामसिक शक्ति है ?

वि. : हाँ; सम्राट् अशोक का उदाहरण है, जब उसकी पत्नी ने भोजन में प्याज परोसा, तब उसने कहा : देवि, मैं क्षत्रिय हूँ, प्याज कैसे खा सकता हूँ? राजा सात्त्विक आहार ही ले सकता है। प्याज (पलाण्डु) से मानसिक विकृति पैदा होती है; तामसिकता बढ़ती है।

ने. : यानी वनस्पतियों में भी सात्त्विक और तामसिक का भेद किया गया है, तो माँसाहार की तो बात ही नहीं है।

वि. : वह तो अत्यन्त तामसिक है, सर्वथा त्याज्य।

ने. : श्रवणबेलागोला में संपन्न महामस्तकाभिषेक में साहू श्रेयांस प्रसादजी ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया। उनका उल्लेखनीय नेतृत्व रहा। आपने भी उन्हें काम करते हुए देखा ही है। ऐसे नेतृत्व के विशिष्ट गुण क्या हैं ?

वि. : साहूजी का जो परिवार है, उसकी साठ-सत्तर साल की सुदीर्घ सेवा-परम्परा है। उनके पिताश्री ने भी उनका नाम श्रेयांस प्रसाद रखा। हस्तिनापुर के पास होने से शायद ऐसा हुआ है। साहू-घराने में संस्कृति को बनाये रखने के लिए, आदर्श कायम रखने के लिए बच्चों में सुसंस्कार डालने की उज्ज्वल परिपाटी आयी। हस्तिनापुर से संबन्धित श्रेयांस राजा बाहुबली के पुत्र थे; वास्तव में आज श्रावक-शिरोमणि के रूप में श्रेयांस प्रसादजी का समाज में बहुत बड़ा त्याग है। राष्ट्र में उद्योगों के रूप में तो उनकी देन है ही; परन्तु २५०० वें महावीर निर्वाण महोत्सव में उन्होंने बहुत बड़ा योगदान किया। उसके बाद उन्हें महासमिति का अध्यक्ष बनाया गया। साहू शान्ति प्रसादजी के जाने के बाद समाज को नेतृत्व कौन दे, यह बहुत बड़ी चिन्ता थी। ऐसे में श्रेयांस प्रसादजी उपलब्ध हुए। वे बहुत विनम्र, शान्तिप्रिय और कार्यकर्ताओं को साथ में लेकर चलने में कुशल हैं।.

वि. : हाँ; अपने साथियों को ले कर महामस्तकाभिषेक-संबन्धी योजनाएँ बनायीं। उनमें सरकार का सहयोग लिया तथा बहुत सफल नेतृत्व किया।

ने. : यह बहुत बड़ी बात है।

वि. : विश्व के कोने-कोने में यह धर्म-भावना फैले, सभी जातियों और संप्रदायों में सहभाव बने, दुनिया के लोगों के मन में सात्विक भावना उत्पन्न हो, एक

मानवीय सद्भावना स्थापित हो, इस दृष्टि से उन्होंने तन-मन-धन से सेवा की। अथक परिश्रम किया। सफलता भी मिली। उनकी समर्पण-भावना उल्लेखनीय है। इसी तरह धर्मस्थल (कर्नाटक) में महामस्तकाभिषेक और पंचकल्याणक प्रतिष्ठा-महोत्सव हुआ। वहाँ भी वे बैठकों में आये और विचार-विमर्श किया। उन्होंने अपनी सेवाएँ अर्पित कीं और धर्म के प्रचार-प्रसार में पूरा-पूरा योगदान किया। वैसे ही यहाँ गुरुकुल दिव्यावदान समारोह (१८ से २० फरवरी ८३) संपन्न हुआ। इसमें भी वे बड़े उत्साहपूर्वक आये और वृद्धावस्था होते हुए भी तरुणों की तरह काम करते रहे। वास्तव में समाज में वे कर्मठ, शान्तिप्रिय और समाज को संगठित करने वाले व्यक्ति हैं। 'न धर्मो धार्मिकैर्विना'–'धर्मात्मा के बिना धर्म नहीं टिकता' की उक्ति उन पर अक्षरशः चरितार्थ होती है। उनके वात्सल्यपूर्ण आचरण से श्रावक वर्ग संगठित हुआ है। समाज पर उनका यह बहुत बड़ा उपकार है।

ने. : यह साहूजी ने किया।

वि. : बड़ी कुशलता से। वे खान-पान और व्यवहार में शुद्धि रखते हैं। उन्होंने सदैव प्रेम से काम लिया है। उनकी सेवाओं को तो हम शब्दों में कह नहीं सकते। उन्होंने धर्म को चमकाने में अपना सर्वस्व ही अर्पित कर दिया है।

आश्चर्य की बात है, बाहुबली भगवान् के दो पुत्रों में से एक का नाम था श्रेयांस; जिन्हें अपने पितामह भगवान् आदिनाथ को प्रथम आहार (इक्षुरस) देने का श्रेय मिला। यहीं से दान-तीर्थ स्थापित हुआ। वे दान-तीर्थंकर कहलाये, उन्होंने दान की प्रवृत्ति प्रवर्तित की।

ने. : बाहुबली के पुत्र श्रेयांस दान के प्रवर्त्तक थे।

वि. : पता नहीं उनके माता-पिता ने किस अंतः प्रेरणा से उनका नाम रखा 'श्रेयांस'। बाहुबली के सहस्राब्दि-महोत्सव यानी महामस्तकाभिषेक में 'श्रेयांसप्रसादजी ने स्वयं को अर्पित कर दिया। यह बहुत बड़ी घटना थी। कदाचित् इतिहास उनमें जी उठा था।

ने. : एक सुखद सांस्कृतिक संयोग – मणि-कांचन योग।

वि. : उन्हें किसी ने नेता बनाया नहीं, वे अनभिषिक्त सम्राट् हैं, मात्र अपने सेवा और समर्पण के कारण।

ने. : एक बात और। उत्तर तथा दक्षिण को जोड़ने का काम भी उन्होंने किया है। भगवान् बाहुबली को दक्षिण से उत्तर भारत लाने का काम उन्होंने किया है।

वि. : भारत में जहाँ भी ऐसे काम/कार्यक्रम होते हैं, वे उसमें सम्मिलित होते हैं। वे यथाशक्ति सर्वश्रेष्ठ कर रहे हैं। श्रेयांसजी द्वारा धार्मिक/सामाजिक उत्थान के विविध सेवा-कार्यों में और अभिवृद्धि हो, ऐसा हम उन्हें आशीर्वाद देते हैं।

□

ने. : लेखक अपनी लेखनी से कैसे समाज-सेवा कर सकता है; उसे मार्गदर्शन दीजिये।

वि. : लेखन एक कला है। लेखनी में वह शक्ति निहित है, जो समाज को संगठित या विघटित कर सकती है। जैसे सुई होती है, वह सिलाई करती है, वैसे

ही क़लम भी जोड़ने का काम कर सकती है। आज के विज्ञान-युग में तो शस्त्रों से बढ़ कर लेखनी है। मेरा तो मानना है कि एक लेखक चाहे तो अपनी लेखनी से महापुरुष बनने की प्रेरणा दे सकता है और चाहे तो वही आदमी को मूर्ख बनने की दिशा में धकेल सकता है।

ने. : इतनी शक्ति/ऊर्जा उसकी लेखनी में होती है।

वि. : हाँ; वह समाज का उपकार करने में प्रतिपल समर्थ है। बड़े-बड़े तपस्वियों ने जंगल में बैठ कर जो लिखा है, वह आज हमारा सिरहाना बना हुआ है। एक-एक शब्द लिखते समय उन्होंने कितना चिन्तन किया है। लेखक का सबसे बड़ा कर्तव्य है, मन-मस्तिष्क को खुराक देना। जैसे खाया हुआ अन्न खून बनता है, और उपकारक सिद्ध होता है, वैसे ही लेखक का स्वानुभूतिपूर्ण चिन्तन होता है, जो जीवन को उदात्त आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर ले जाता है।

ने. : समाज की नसों में उसके विचार दौड़ने चाहिये।

वि. : समाज को वह निश्चित दिशा दे सकता है।

ने. : लेखक को चरित्रवान तो होना ही चाहिये।

वि. : हमारे जो पुरखे थे, उन्होंने कागज़ या ताड़ या भूर्ज पत्र पर लिखने से पहले अपने जीवन पर लिखा था।

ने. : पहले वह चरित्र पर लिखे।

वि. : पहले तन-मन पर लिखे और लिखे फिर कागज़ या ताड़पत्र पर। अपने जीवन पर लिखने वाला लेखक ही सफल होता है और वही समाज को कुछ दे सकता है। उसका दिशा-दर्शन कर सकता है।

□

ने. : और संपादक ?

वि. : संपादक में विवेक बहुत अधिक चाहिये। उसे होना चाहिये परम विवेक-संपन्न, ऐसा कहा जाए तो कदापि अतिशयोक्ति नहीं है। 'परम विवेक-संपन्न' का अर्थ है कि उसे 'परिपक्व ज्ञानी' होना चाहिये। जैसे कच्चा अन्न खाते हैं, तो दुःख होता है; पक्का खाते हैं, तो सुख होता है। इसी प्रकार यदि उसका ज्ञान परिपक्व होगा तो वह समाज को स्वस्थ बनायेगा। समाज भी उसे तत्काल ग्रहण कर लेगा। हर बुद्धिजीवी उससे लाभ उठायेगा; इसीलिए मैंने कहा है कि संपादक को 'परम विवेकी' होना चाहिये। उसमें करुणा भी होनी चाहिये।

ने. : करुणा ज़रूरी है।

वि. : ज़रूरी है। करुणा का अर्थ यह नहीं कर रहा हूँ कि उसके शब्द कठोर न हों; पर उनकी पृष्ठभूमि पर समाज को सुधारने का सद्भाव हो जैसे किसी को हाथ में फोड़ा हो जाए और यदि डॉक्टर उस पर दया करता जाए, तो सारा हाथ ही सड़ जाएगा। तो चिकित्सक शस्त्र से चीरता तो है, लेकिन चीरते समय उसकी इच्छा रहती है कि रोग मिट जाए; व्यक्ति स्वस्थ हो जाए। इसी प्रकार समाज के हृदय को थोड़ा-सा दर्द हो भले ही, किन्तु उससे सामाजिक हित होना चाहिये।

ने. : वह समाज के भविष्य को सामने रखता है।

वि. : हाँ; आलोचना करते समय उसके मन में किसी को गिराने की दुर्भावना नहीं रहती। वह व्यक्ति अथवा समाज को पतन से बचाने की स्वस्ति-भावना से प्रेरित होकर ही लिखता है। हाथ में लाठी हम सहारे के लिए रखते हैं; उसी प्रकार समाज के, संस्कृति के सहारे के लिए लाठी के रूप में साधु-सन्त, लेखक-संपादक हैं।

ने. : वह समाज के लिए लाठी बन सकता है।

वि. : हाँ; 'परम विवेक-संपन्न' होने पर।

ने. : संपादक को समाज-सेवा का ठीक-ठीक मार्गदर्शन देना चाहिये। उसे लगे जहाँ कि समाज में विकृतियाँ हैं, वहाँ वह ध्यान खींचे, और जहाँ उसे अच्छा कुछ दीख पड़े, प्रेरित करे।

वि. : प्रेरित तो करे; लेकिन सुधार का आग्रह रखे।

ने. : विशेष आग्रह रखे।

वि. : आग्रह कभी-कभी दुराग्रह बन जाता है। सहजता से जो बात बनती है, वह दुराग्रह से कैसे बनेगी? मन में सद्भावना रहना चाहिये।

ने. : सद्भावनापूर्ण लेखन करे; दिशा-दर्शन दे।

वि. : समाज में कहाँ गड्ढा है, कूड़ा-करकट कहाँ है, काँटा-कंकर कहाँ है, यह वह बता सकता है। समाज को गड्ढे से वह बचा भी सकता है उसे आगाह कर सकता है। इस प्रकार संपादक और लेखक को 'टॉर्च बिअरर' का काम करना चाहिये।

ने. : उसे दीया हाथ में ले कर चलना चाहिये। वह अंकुश का काम भी कर सकता है।

वि. : समाज, या राष्ट्र-रूपी हाथी के लिए उसका विवेक अंकुश का काम कर सकता है।

ने. : बालकों के लिए समाज-सेवा का क्या स्वरूप हो सकता है?

वि. : इसमें माता-पिता की बहुत बड़ी भूमिका है। आज स्कूल-कॉलेजों में नाना तरह के उपद्रव होते हैं; कौन उत्तरदायी है इस विनाश-लीला के लिए?

ने. : विनाश बहुत करते हैं।

वि. : राष्ट्र की संपत्ति नष्ट होती है। हम विदेशों से करोड़ों-अरबों का कर्ज़ लाते हैं और देश में उसे इस तरह बर्बाद करते हैं। माता-पिता को समझाना चाहिये कि तोड़-फोड़ की यह प्रवृत्ति अच्छी नहीं है; विनाशकारी है। समाज में कोई बच्चा चोर/डाकू बनता है, तो उसके लिए माँ-बाप और गुरु भी जिम्मेदार हैं।

ने. : क्या गुरुकुल-परम्परा इसमें हमारी मदद कर सकती है?

वि. : वास्तव में समन्तभद्रजी महाराज ६५ साल से अधिक समय से गुरुकुल-प्रणाली का सफल प्रयोग कर रहे हैं। समाज-सेवा के अनुकूल वातावरण बनाने का यह अत्यन्त सार्थक प्रयत्न है। गुरुकुल-प्रणाली के पुनरुज्जीवन का श्रेय समन्तभद्रजी महाराज को ही है। धार्मिक/सांस्कृतिक वातावरण से अनुप्राणित ये गुरुकुल समाज के लिए दीप-स्तंभ सिद्ध हुए हैं। समाज-सेवा के ये प्रेरक स्थल हैं। समाज-सेवकों को तैयार करने में इनकी उल्लेखनीय भूमिका है। □

धर्म और समाज-सेवा

आचार्य समन्तभद्र/डॉ. नेमीचन्द जैन; ८ सितम्बर; ८३, बाहुबली (कुंभोज)

डॉ. नेमीचन्द जैन : जैनों में आप गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के प्रवर्तक हैं, कृपा-पूर्वक बतायें कि ऐसे गुरुकुल और कहाँ चल रहे हैं ?

आचार्य समन्तभद्र : कारंजा (महाराष्ट्र) में पहला गुरुकुल खोला; फिर यहाँ, फिर सोलापुर में, जब पं. भीसीकरजी ने सोलापुर में कार्य करना स्वीकार किया तब वहाँ गुरुकुल खोला; क्योंकि पहले कार्य करने वाले हों, तभी पीछे कार्य होता है।

ने. : कार्यकर्ता पहले, फिर कार्य।

स. : क्योंकि कार्यकर्ता हो तो कार्य हो सकता है।

ने. : कार्यकर्ता कैसा हो, उसमें कौन-कौन-से गुण होने चाहिये ?

स. : कार्यकर्ता खुद को बनना चाहिये।

ने. : कार्यकर्ता मैं तो बन जाऊँगा, लेकिन बनूँ कैसे ? मुझमें क्या-क्या हो कि आप 'कार्यकर्ता' कह सकें ?

स. : आपमें वह सब है।

ने. : मुझे तो नहीं दीख पड़ता।

स. : 'तीर्थंकर' चलाना आपको किसने सिखाया ? आप में जो जोत थी, वह जागृत हो गयी।

ने. : यानी सबमें पहले ज्योति (स्पार्क, चिनगारी) होनी चाहिये।

स. : कार्यकर्ता में कोई ज्योति होनी चाहिये; कार्य तब होगा। जब यह प्रज्वलित हो जाएगी, तब सर्वत्र प्रकाश हो जाएगा।

ने. : धर्म और समाज-सेवा का कोई संबंध है क्या ?

स. : धर्म सब कुछ है। समाज-सेवा आदि सब कुछ धर्म-में-से हैं। अगर धर्म का पालन किया जाए, तो इससे आत्म-कल्याण भी होता है। धर्म के परिपालन से ही समाज-सेवा पुष्ट होती है। धर्म के पालन से क्या नहीं हुआ, क्या नहीं होता और क्या नहीं होगा ? आप ही बताइये। ध्यान रखिये, जो भी उत्तम कार्य होते हैं; वे सब समाज-सेवा के अन्तर्गत ही आते हैं। उत्तम कार्यों का समाज पर अमिट प्रभाव पड़ता है।

ने. : गुरुकुल/आश्रम की मुख्य उपलब्धि क्या है ?

स. : महात्मा गाँधी ने आश्रम खोले, उनमें राष्ट्र-सेवक/समाज-सेवक तैयार हुए। इस तरह अगर कारंजा में आश्रम नहीं खोला जाता, तो समाज-सेवा की हमारी १०-११ संस्थाएँ कहाँ से आतीं ? क्योंकि जो विद्यार्थी हमारे पास रह कर पढ़े; वे ही कार्यकर्ता बन कर समाज-सेवक बनते गये; फिर उन्होंने समाज-सेवा के महत्त्वपूर्ण कार्य किये। □

अनेकान्त के सहज साधक श्रेयांसजी

श्रेयांसजी प्रायः अपने-में खोये यह प्रश्न कर उठते हैं कि आखिर इस जीवन का उद्देश्य क्या है? इस सिलसिले में मैंने उन्हें फ़ादर कामिल बुल्के की आत्मविह्वला जिज्ञासा की बात सुनायी कि वे सच्चे आनन्द की परिभाषा समझने के लिए आकुल-व्याकुल-से विभिन्न संदर्भों में भटकने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि 'सच्चा आनन्द तो सेवा में है'। इस पर श्रेयांसजी ने जैसे अपना नाम सार्थक-सा करते हुए कहा कि 'सेवा में जिसे रोमांस की अनुभूति हो वही उसका सच्चा आनन्द प्राप्त कर सकता है'।

—डॉ. शिवमंगलसिंह 'सुमन'

अमृत महोत्सव जीवन की चरितार्थता का परम-पावन मुहूर्त माना जाता है। अमृत तत्त्व की उपलब्धि स्वयं में ही एक उत्सव है, जिसमें सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, आशा-निराशा में मन उल्लास, या उद्वेग का उत्क्रमण कर जाता है, समस्त सृष्टि के साथ सहज आत्मीयता की चरम सिद्धि का क्षण। भगवान् महावीर ने इसी अमृत तत्त्व की प्राप्ति के लिए आत्मज्योति का आह्वान किया था—'अप्पदीपो भव'। उपनिषदों में भी इसका अत्यन्त उदात्त निरूपण मिलता है। जब याज्ञवल्क्य ऋषि संन्यास आश्रम में प्रवेश-हेतु तत्पर हुए तब उन्होंने अपनी दोनों पत्नियों को बुला कर संबोध दिया कि मैं तुम्हारे लिए हीरे, मोती, ज़वाहरात तथा राजा जनक द्वारा प्रदत्त स्वर्णमण्डित शृंगोंवाली सहस्रों गौओं के रूप में अपार धनराशि छोड़े जा रहा हूँ, जिससे तुम्हें भविष्य में किसी प्रकार की कमी, या चिन्ता न होगी। इस पर विदुषी साधिका मैत्रेयी ने प्रश्न किया कि 'इस सबसे जीवन का अमृत प्राप्त होगा, या नहीं?' इस अप्रत्याशित प्रश्न पर ऋषि चौंक पड़े पर झूठ भी कैसे बोलते? उन्होंने अत्यन्त आश्वस्ति के स्वर में कहा कि 'इससे तुम्हें भोजन, वस्त्र, आभूषण आदि सभी ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ तो सुलभ हो जाएँगी पर जीवन का अमृत तो नहीं प्राप्त होगा'। यह सुन कर उस परम साध्वी ने सात्त्विक उन्मेष में उद्घोष-सा करते हुए कहा : 'येनाहं नामृता स्याम् किमहंतेन कुर्याम्'; अर्थात् जिससे मैं जीवन का अमृत ही न प्राप्त कर सकूँ उस सबको ले कर क्या करूँगी? मैं भी इस समस्त वैभव को ठुकरा कर तप्स्या का वरण करूँगी। अस्तु, जीवन में अमृत तत्त्व की चरितार्थता अभिनन्दनीय ही नहीं स्पृहणीय भी है।

जहाँ तक याद आ रहा है, महाप्रयाण से लगभग ४ वर्ष पूर्व दिनकरजी ने श्रेयांसजी से मेरा परिचय कराया था। **समय जात नहिं लागहिं बारा**—लगता है जैसे कल की बात हो। गो, क़रीब-क़रीब इतना समय गुज़र गया कि रामचन्द्रजी वनवास बिता कर लौट भी आये। इसके पूर्व 'ज्ञानोदय' के नाते इनके दिवंगत अनुज साहू

शान्ति प्रसाद जैन और उनकी सुसंस्कृत धर्मपत्नी स्व. रमाजी से यदा-कदा मिलना-जुलना हो जाया करता था, पर उसे घनिष्ठता की संज्ञा नहीं दी जा सकती। दिनकरजी से उनकी (श्रेयांसजी की) बड़ी घनिष्ठता थी। दोनों घंटों खुल कर जान-जहान की बातें करते और शेरो-शायरी में डूबे रहते। बम्बई में दिनकरजी शिखर-कुंज में उन्हीं के पास ठहरते भी थे। संयोग से जब मैं कारमाइकल मार्ग-स्थित इस भव्य भवन में दिनकरजी से मिलने गया तो श्रेयांसजी उन्हीं के कक्ष में विराजमान थे। पहले परिचय में कुछ विशेष तो नहीं घटित हुआ पर चश्मे से झाँकती उनकी प्रशान्त-स्निग्ध चितवन ने अपनी सादगी से स्पर्श तो किया ही। हम दोनों को शायद खुल कर मिलने और बतियाने का अवसर देने के ख्याल से ये दो मिनट में ही वहाँ से चले गये। दूसरे दिन जब मैं दिनकरजी से मिलने फिर गया तो मालूम पड़ा कि वे कहीं बाहर गये हैं। मैं अपना अता-पता दे कर लौट ही रहा था कि नीचे लिफ्ट के पास श्रेयांसजी मिल गये और बड़े आग्रह से अपने कक्ष में लिवा गये। थोड़ी देर में दिनकरजी भी आ गये। जब उनसे मैंने पहले परिचय में ही श्रेयांसजी के सहज सौहार्द्र की प्रशंसा की तो बड़ी भोली अदा से मुस्कराते हुए बोले कि–

बेखुदी ख़ुदी न बन जाए
अहतियातन गुनाह करता हूँ।

इस पर दिनकरजी ने ठहाका लगाते हुए कहा कि 'पुराने पापी हैं'। जब मैंने इस शेर की नज़ाकत का अहसास कराया तो बड़े अनाहत अंदाज़ से बोले कि जी, 'अहतियातन' का अनुवाद नहीं हो सकता। मैं चौंका कि एक श्री-सम्पन्न व्यक्ति संवेदना की सूक्ष्म अभिव्यक्ति का ऐसा मर्मज्ञ कैसे हो सकता है? **'पर्युत्सुकी भवति यत्सुखितोपि जन्तुः'** को सार्थक-सा करता हुआ। ऐसे शीलनिधि सत्संगी का साक्षात्कार कर मैं भी कुछ उत्तेजित हो उठा और शब्दों की व्यंजनात्मक शक्ति के पारखी रघुपत सहाय फ़िराक के उस शेर का हवाला दे बैठा जिसमें वे कहते हैं कि जवानी में तो सभी छलक लेते हैं, अन्तिम साँस तक छलकते रहने की साधना बड़े संयम की, अहतियात की अपेक्षा रखती है :

बड़ी अहतियाततलब है जो शराब साग़रे दिल में है
जो छलक गई तो छलक गई, जो भरी रही तो भरी रही।।

शेर पढ़ते ही उन्होंने 'अहतियाततलब' शब्द पर उँगली रख दी। फिर तो 'अहतियातन' और 'अहतियाततलब' के वज़न पर हम दोनों ऐसे फ़िदा हुए कि एक दूसरे के मुरीद हो गये। शब्द का जादू क्या-से-क्या नहीं कर सकता। यों ही बेसिलसिलेवार बातों का सिलसिला चलता गया और किसी रागात्मक रश्मि के स्पर्श से चिन्तन के दल-पर-दल खुलते गये। उनके अँग्रेजी, हिन्दी, प्राकृत, फ़ारसी, और उर्दू साहित्य के अध्ययन को देख कर मैं विस्मित रह गया। शेरो-शायरी में तो ऐसे

डूबे हुए हैं कि बात-बात में अनीस, दाग़, ज़ौक, मीर, ग़ालिब, सौदा, फिराक आदि के अशार प्रत्येक प्रसंग के साथ चस्पा करते चलते हैं। शायद अयोध्या प्रसाद गोयलीय के 'शेरो-सखुन' के संकलन के मूल में अंतर्हित प्रेरणा का यही राज़ है। निकट से इनकी रहन-सहन को देख कर लगा कि जैसे इस वैभव-विलास से इन्हें कुछ लेना-देना न हो, दूसरों के दुःख-दर्द में ही डूबा हुआ समर्पित निस्संग जीवन। मानवीय संवेदना के ऐसे अनेकों बहुमूल्य क्षण कुरेदने पर उभरते रहे हैं। बातों-बातों में इन्होंने बताया कि एक बार जब पण्डित जवाहरलाल नेहरू से मिलने गये तो उन्हें चिन्तित और ग़मगीन देख कर ये भी कुछ विचलित हो उठे। थोड़ी देर में जब बड़े साहस से पण्डितजी की उदासी का कारण पूछा तो वे कुछ खोये-खोये से बोले कि 'श्रेयांस ! समझ में नहीं आता कि क्या करूँ कि सबको खुश कर सकूँ, भरसक तो पूरी कोशिश करता हूँ' ? इस पर उनकी अंतर्व्यथा से मर्माहत श्रेयांसजी ने यह शेर सुना कर जैसे उनकी कसकती रग को छू दिया –

नहीं है अताबे ज़माना ख़िताब के क़ाबिल
तेरा जवाब यही है कि मुस्कराये जा।

शेर सुनते ही पण्डितजी उठ खड़े हुए और बड़े भोले अंदाज़ में बोले कि यह शेर मुझे लिख दो, इससे मुझे बड़ी तक़वियत मिली है। श्रेयांसजी पण्डितजी की बच्चों की-सी शुद्ध-बुद्ध सरलता और मासूमियत पर बेहद फिदा थे, उनके अनुसार पण्डितजी की सबसे बड़ी परेशानी यही थी कि हर काम के औचित्य-अनौचित्य में उलझ जाते थे, इसी फ़िक्र में कि उनसे कोई ग़लत, या छोटा काम न हो जाए। उनके सात्त्विक उन्मेष और दुविधा के आत्मकथ्य को पण्डितजी की ही जुबान में ढालने के लहजे में उन्होंने सुनाया कि–

इरादे बाँधता हूँ, सोचता हूँ, तोड़ देता हूँ
कहीं ऐसा न हो जाये, कहीं वैसा न हो जाये।

वैसे तो इनका जन्म उत्तरप्रदेश के बिजनौर जिले के नजीबाबाद नगर में ३ नवम्बर सन् १९०८ को हुआ था, जहाँ इनकी अच्छी ख़ासी ज़मीदारी थी पर सन् १९३८ में ये भारत इंश्योरेंस कम्पनी के जनरल मैनेजर के रूप में लाहौर चले गये थे। बचपन से ही ये रोमैंटिक, भावुक, और विद्रोही स्वभाव के थे। किसी भावावेश में ये भगतसिंह की फाँसी के ठीक एक दिन पूर्व उनके वकील श्यामलाल के साथ लाहौर सेंट्रल जेल भी पहुँच गये थे। उनका (भगतसिंह का) सौम्य स्वरूप देख कर जिसमें भय, चिन्ता अथवा अवसाद का कोई चिह्न नहीं था; ये ऐसे मंत्रमुग्ध से एकटक निहारतें रह गये थे कि भगतसिंह भी मुस्करा दिये। शहीदी दीवानगी तथा बलिदानी वर्चस्व की बालारुण के समान वह अलौकिक आभा ये आज तक नहीं भुला पाये हैं। स्वतन्त्रता-संग्राम के दौरान गाँधीजी के अहिंसक आन्दोलन के प्रशंसक होते हुए भी क्रान्तिकारियों की गोपनीय गतिविधियों को भी

मुक्त-सक्रिय सहयोग देने में ये कभी पीछे नहीं हटे और अन्ततः १९४२ के आन्दोलन की चपेट में खुद भी आ गये। सन् १९४३ में जयप्रकाशजी के साथी बिहार के श्री रामनन्द मिश्र भागलपुर जेल से भाग कर लाहौर में इन्हीं के यहाँ आ धमके। पूर्वपरिचय न होने पर भी केवल क्रान्तिकारी सद्भावना के नाते उन्हें अपने यहाँ ठहराने में इन्होंने कोई आपत्ति नहीं की। पहले तो उनके साथ रिवॉल्वर, बम आदि देख कर चौंके पर बाद में उनके उत्सर्गी स्वरूप पर मुग्ध हो कर, कई बार उनके (रामानन्द मिश्र के) साथ छिपे-छिपे फ़ौजी बैरकों में भी गये। रामानन्द मिश्र की गिरफ्तारी के बाद यद्यपि इनके घर की तलाशी में कोई आपत्तिजनक वस्तु नहीं निकली पर एक ख़तरनाक क्रान्तिकारी को आश्रय देने के अपराध में इन्हें लाहौर फोर्ट जेल में बन्द कर दिया गया। वहाँ की मोटी-मटमैली रोटियों और काली-काली पनीली दाल में तैरते कीड़े-मकोड़ों को देख कर ये कुछ ऐसे स्तब्ध रह गये कि तीन-चार दिन केवल पानी पी कर रह गये। अन्न के अभाव में इनकी गिरती हालत के कारण जब जेल-सुपरिटेंडेंट के सामने इनकी पेशी हुई तो इन्होंने बिना किसी लाग-लपेट के साफ़-साफ़ कह दिया कि ऐसा खाना निगलने में ये नितान्त असमर्थ हैं।

विकल्प पूछने पर इन्होंने बड़े सहज भाव से कहा कि या तो मुझे खाना घर से मँगाने की इजाज़त दी जाए या मेरे रसोइये को भी गिरफ्तार कर यहीं भिजवा दिया जाए। इस पर अँग्रेज जेल-सुपरिन्टेंडेंट मुस्करा तो दिया पर इन्हें किसी तरह की सहूलियत देने को राज़ी न हुआ। बाद में इनके मित्र लाहौर के सेटिलमेंट कमिश्नर मि. मार्थ के कहने पर इन्हें घर से खाना मँगाने की इजाज़त मिल गयी। पुलिस द्वारा तरह-तरह की यातनाएँ देने पर भी, कुछ भेद न मिलने पर इन्हें काल-कोठरी में बंद कर दिया गया। एक छोटी-सी कोठरी में खाना, पखाना, और सोने की विवशता के साथ-साथ मच्छरों की भरमार ने इन्हें साक्षात् नर्क का अनुभव करा दिया। चार दिनों तक उस काल-कोठरी में रखने के बाद इन्हें ४८ घंटों के भीतर लाहौर छोड़ देने की शर्त पर रिहा किया गया। निदान २३ नवम्बर १९४३ को घर-बार सब भगवान् भरोसे छोड़ कर ये बम्बई आ पहुँचे। यहाँ पहले पाँच साल तो भारत इंश्योरेंस के फ्लैट में रहे, फिर १९४८ में वर्तमान शिखरकुंज महाराजा ओरछा से ७ लाख रुपयों में खरीद लिया। राजसी ठाट-बाट वाले उस प्रासाद का स्वरूप तब और ही था। वर्तमान ढाल से पोर्च तक संगमरमर की सीढ़ियाँ, प्रत्येक कक्ष में झाड़-फ़ानूसों की सजावट, बरामदों में इटैलियन मारबल में ढली अर्धनग्न अँगनाएँ, और महाराजा द्वारा मारे गये शेर, चीते, तेंदुए, भालू और बनैले भैंसों की समग्र आकृतियाँ। इसके अतिरिक्त महाराज के अन्तःपुर से भीतर-ही-भीतर सड़क तक एक सुरंग की भी व्यवस्था। अब तेरह मंज़िल के इस भवन में पहली मंज़िल में अतिथि-आवास और दूसरी में श्रेयांसजी का निवास। प्रवेश-द्वार पर पन्द्रहवीं शताब्दी के कारु-कार्य से अलंकृत चन्दन का दरवाजा, अन्दर दो सोफ़ासेट, दो पुस्तकों से भरी आलमारियाँ, रा-लकड़ी से निर्मित एक युग्म, शीशे के शोकेस में हाथी दाँत से निर्मित जैन साधुओं

और साध्वियों की मुखाकृतियाँ और बीचोंबीच मूर्त्तिमान तपस्या-सा विद्यानन्दजी महाराज का चित्र। चौकोनी टेबिल पर फैले हिन्दी-अँग्रेजी के नवीनतम प्रकाशन। कोने में एक तिकोनी टेबिल पर टेबिल लैम्प के पास स्व. अनुज शान्ति प्रसाद जैन का चित्र। इसी परिवेश में राजनीतिज्ञों, दार्शनिकों, साधु-संतों और कवियों-कलाकारों का नितान्त अनौपचारिक समागम। इस घर के सद्भाव और आतिथ्य की प्रतीक इनकी बहू दुर्गा जैन इस कला मंदिर की मधुर-स्मित दीप-शिखा हैं।

जैनधर्म के प्रति पूर्णतया समर्पित होने पर भी हिन्दू, बौद्ध, इस्लाम, ईसाई सभी धर्मों के सारतत्त्व को आत्मसात् करने की अनेकान्ती साधना इनकी विशेषता है। अमृत-महोत्सव की बात चलने पर जब मैंने ईशावास्योपनिषद् के 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' अर्थात् संसार की प्रत्येक वस्तु को त्याग कर भोगो, लालच मत करो, धन किसी का सगा नहीं हुआ है, का उल्लेख किया तो उससे तदाकार से होते हुए अपनी सहज मुस्कान के स्वर में बोले कि बहुत ठीक है, लक्ष्मी किसी की भी सगी नहीं और होनी भी नहीं चाहिये; क्योंकि जिसने ग़रीबी झेली, संघर्ष किया, वह तो कमाने का दर्द जानता है पर बिना किसी तबालत के प्राप्त वैभव को भोगने वाला, उसके उत्सर्गी अंश से अछूता रह जाता है, जिससे उसकी चमड़ी मोटी हो जाती है; मज़ाक-मज़ाक में वे कहते भी रहते हैं कि–

माजी की याद, आज का ग़म, कल की उलझनें,
इनको मिलाइए, मेरी तस्वीर बन गई।

शायद इसीलिए गुप्तजी की यशोधरा इन्हें बहुत प्रिय है। सूफी संत और सहजिया संप्रदाय के मर्मी जैसे वेदना की व्यग्रता को अनुभव करने के लिए आकुल रहते थे, उसी तरह की कोई खोज, या सोज़ इन्हें भी बेचैन बनाये रहता है। दुःख-दर्द को वे मनुष्यता को सँवारने का साँचा मानते हैं–

ख़ुदा की देन है, जिसको नसीब हो जाए
हरेक को ये ग़मे जाबिदा नहीं मिलता।

रोमैण्टिक युगीन स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों की पुरानी रूढ़ियों और अन्ध-विश्वासों को ध्वंस करने की उन्मुक्तता में ही उनके जीवन-दर्शन का राज़ अन्तर्हित प्रतीत होता है। प्रायः कहा करते हैं कि राम के जीवन में कोई इनीशिएटिव्ह अगुआई नहीं है, कृष्ण के जीवन में वह पग-पग पर पुष्पित है। राम की अन्ध-आज्ञाकारिता, अनुशासनबद्ध विनम्रता, विद्रोह-विहीन मर्यादावादिता, लोकमंगल का संदेश तो देती है, पर आत्मा को जैसे जकड़ती-सी रहती है। मूलतः अनेकान्त के उपासक होने के कारण जैनधर्म की रूढ़िवादिता भी इन्हें अखरती है। दशलक्षण पूजा में 'संसार में विषबेल नारी तजि गये जोगीश्वरा' पाठ के स्थान पर उन्होंने 'संसार में विषयाभिलाषा' पाठ कर लिया है, क्योंकि सृष्टि की धात्री नारी को विषबेल कहना उन्हें गवारा नहीं; इसीलिए विद्यानन्दजी महाराज के उन्मुक्त चिन्तन

में इनका मन बहुत रमता है। बम्बई के वर्ली समुद्रतट पर अलस प्रातः टहलते हुए प्रायः प्रकृति के उल्लास में खो जाने की भावना इनके रोमैण्टिक परिवेश की परिचायक है। जीवन और जगत् के संबंधों के प्रति इनके मन में बड़ी छटपटाहट है। प्रायः अपने में खोये से यह प्रश्न कर उठते हैं कि आखिर इस जीवन का उद्देश्य क्या है ? इस सिलसिले में मैंने इन्हें फ़ादर कामिल बुल्के की आत्मविह्वला जिज्ञासा की बात सुनायी कि वे सच्चे आनन्द की परिभाषा समझने के लिए आकुल-व्याकुल से विभिन्न संदर्भों में भटकने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि 'सच्चा आनन्द तो सेवा में है'। इस पर श्रेयांसजी ने जैसे अपने नाम को सार्थक-सा करते हुए कहा कि 'सेवा में जिसे रोमांस की अनुभूति हो वही उसका सच्चा आनन्द प्राप्त कर सकता है'।

दूसरों की व्यथा-कथा के प्रति व्यग्र और चिन्तित श्रेयांसजी अपना दुःखदर्द पी जाने और पचा लेने की आँच में सिकते-से रहते हैं। अभी कुछ वर्ष पूर्व अपनी एकमात्र पुत्री के वैधव्य से वे भीतर-ही-भीतर ऐसे टूट गये थे कि एकान्त में बैठे-बैठे कुछ विसूरा करते थे। मुझे जब भी अकेला पाते चले आते और काफी देर तक गुम-सुम बैठे रहते। उन दिनों वे शेरो-शायरी भी भूल गये थे, जैसे खुद को ही भूल गये हों। अपने रूढ़िमुक्त, उन्मुक्त चिन्तन द्वारा उन्होंने फिर मानसिक सन्तुलन के नये आयाम खोज़ निकाले हैं और बड़े फक्कड़ाना अंदाज़ में कहा करते हैं कि–

दैरो हरम भी मंज़िले जाना में आए थे,
सद्शुक्र है कि बढ़ गए दामन बचा के हम।

अमृत-महोत्सव तो उनकी बज्म में आने का एक बहाना है। औपनिषदिक परम्परा में 'अदीनास्याम् शतं शरतं जीवेम्' की मंगल कामना से इसका अभिषेक किया जाता है कि वे दीर्घजीवी और यशस्वी होने के साथ-साथ अदीन हो कर जियें, कभी किसी का सहारा न लेना पड़े। जीवन के श्रेय और प्रेय को सार्थक करने वाला श्रेयांस नामकरण स्वयं में ही किसी तीर्थंकर की तपस्या से अनुप्राणित है। □□

साहूजी : दृष्टि और सृष्टि

☐ नेतृत्व के लिए ओजस्विता चाहिये, मूल्यों के प्रसार के लिए संकल्पशीलता चाहिये। जहाँ ओजस्विता है, संकल्पशीलता है, नेतृत्व है, कृतित्व है; वहाँ सामाजिक मान्यता सहज-सुलभ हो जाती है।

☐ **जिस जीवन-दृष्टि से संकल्पशीलता जन्म लेती है, या परिणाम में जो नेतृत्व प्राप्त होता है, वह साधना का फल होता है। साधना बिना श्रम और संयम के नहीं सधती, इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण साहू श्रेयांस प्रसादजी का जीवन है।**

–लक्ष्मीचन्द्र जैन

पाश्चात्य समाज-शास्त्र का एक पुराना प्रचलित वाक्य है–'मैन इज़ ए सोशल एनीमल' अंग्रेजी में तो यह वाक्य दिमाग़ में रच-पच गया है; किन्तु यदि इसका हिन्दी में अनुवाद करने लगें तो अटपटा हो जाता है–'मनुष्य सामाजिक पशु है'। हमारी जीभ पर जो वाक्य चढ़ा हुआ है, वह है 'मनुष्य सामाजिक प्राणी है'। तात्त्विक दृष्टि से देखा जाए तो प्राणी अधिक व्यापक शब्द है, जिसमें 'पशु' तो सम्मिलित है ही। पाश्चात्य चिन्तन में सामाजिकता को परिभाषित करने के लिए मनुष्य को पशु-वर्ग में गिन लिया गया है। एक तरह से यह वैज्ञानिक बात है; क्योंकि पशु प्रायः झुण्डों में रहते-बसते हैं; उनका अपना सामाजिक आधार प्रत्यक्ष दिखायी देता है। भारतीय चिन्तन में भी मनुष्य को पशु के साथ जोड़ कर पंक्ति-बद्ध किया गया है, और वैज्ञानिक दृष्टि अपनायी गयी है कि मनुष्य और पशु समान हैं–जहाँ तक आहार, निद्रा, भय, और मैथुन का प्रश्न है; किन्तु भारतीय मनीषा का क्षितिज बहुत व्यापक है, लोकोत्तर है, क्योंकि जहाँ पशु और मनुष्य के अन्तर को इस मौलिक आधार पर व्याख्यायित किया गया है कि पशु जहाँ सहजवृत्ति से चलता है और अपनी सामाजिकता निभाता है, वहाँ मनुष्य धर्म और विवेक की पहचान से, आचरण से, व्यक्ति की इकाई से, अपने उत्कर्ष से, अपने उत्सर्ग से, अपना अस्तित्व, समाज से संबद्ध होते हुए भी, अलग स्थापित करता है। यह मनुष्य ही है जो अन्तरंग निष्ठा के बल पर सही रास्ते को पहचानता है, पकड़ता है, और साथियों का आह्वान करता है। यदि कोई नहीं सुनता है तो अपनी श्रद्धा को अक्षुण्ण रखते हुए रवीन्द्र की वाणी में कह उठता है–'जोदि तोर डाक शुने केऊ ना आशे, तौबे एकला चौलो रे' (यदि तुम्हारी पुकार सुन कर, कोई नहीं आता, तब अकेले ही चलते चलो)। यह था गाँधीजी का प्रिय गीत; राष्ट्रीय अभियान का प्रयाण-संगीत।

जो अनूठा और संकल्पशील व्यक्ति होता है, वह समाज को दिशा देता है, गति देता है, प्रगति की ओर ले जाता है। संकल्प जागता कैसे है? यह जीवन की लम्बी प्रक्रिया है। पृष्ठभूमि में संस्कार होते हैं जो जीवन-निर्माण में सहायक होते

हैं। जीवन-निर्माण जिन सिद्धान्तों और मूल्यों पर आधारित होता है समाज उन्हें मान्यता देता है । सामूहिक रूप से समाज उन मूल्यों पर जब तक जब आचरण करता रहता है, अपनी अस्मिता और अपना अस्तित्व अक्षुण्ण रखता है । समाज का सामूहिक रूप विशाल राजनैतिक परिवर्तनों और आर्थिक परिस्थितियों के कारण भंग हो जाता है, परिवार भी टूटते हैं, बिछुड़ते हैं। तब व्यक्ति अपने अस्तित्व का आधार स्वयं निश्चित करता है; नये सम्बन्ध और नये समूह जन्म लेते हैं। इस सब उथल-पुथल में जीवन-मूल्य भी नया रूप लेते हैं, या उन्हें द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव के अनुसार पुनः परिभाषित करना पड़ता है। यही कारण है कि तीर्थंकर नया तीर्थ रचते हैं, आचार्य नयी व्याख्याएँ देते हैं, और गुरुजन दिशा-बोध देते हैं ।

किन्तु अब जब मैं विचारों के स्रोत में बहता हुआ 'तीर्थंकर' तक आ गया तो आचार्यों और गुरुजनों के उल्लेख के रूप में मैं वास्तव में गणधरों तक पहुँच गया हूँ। अटपटा तो नहीं लगेगा यदि मैं कहूँ कि सामाजिक नेता की भूमिका गणधर की भूमिका है, होनी चाहिये। 'गण' शब्द को हम उसके नितान्त शास्त्रीय संदर्भ से अलग करके सामाजिक और राष्ट्रीय संदर्भ से उस अर्थ में जोड़ सकते हैं, जिसमें 'जन-गण-मन अधिनायक' कहा गया है। 'गणधर' कहें या 'जन-गण-मन अधिनायक' कहें, बात एक ही है – संदर्भ अलग-अलग हैं। मानें तो अलग-अलग हैं, अन्यथा गणधर भी आधारभूत जीवन-मूल्यों को समाज में ही जन-मन-तक पहुँचाता है। यह नेतृत्व का काम है। नेतृत्व के लिए ओजस्विता चाहिये, मूल्यों के प्रसार के लिये संकल्प-शीलता चाहिये, जिसकी ओर मैं पहले संकेत कर चुका हूँ। जहाँ ओजस्विता है, संकल्पशीलता है, नेतृत्व है, कृतित्व है; वहीं सामाजिक मान्यता सहज सुलभ हो जाती है।

जिस जीवन-दृष्टि से संकल्पशीलता जन्म लेती है, या परिणाम में जो नेतृत्व प्राप्त होता है, वह साधना का फल होता है। साधना बिना श्रम और संयम के नहीं सधती, इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण साहू श्रेयांस प्रसादजी का जीवन है।

साहूजी की जीवन-दृष्टि क्या है ? पहली बात यह कि वे आस्थावान् पुरुष हैं। यदि आस्था सम्यक् दर्शन है तो वे सम्यग्दृष्टि हैं। जिन जीवन-मूल्यों में उनकी आस्था है, वे परम्परा से उन्हें प्राप्त हैं; किन्तु उन मूल्यों को उन्होंने आज के जीवन की कसौटी पर कस कर पुनः प्राप्त किया है। केवल एक उदाहरण लें । अपनी प्राप्ति को दूसरों तक पहुँचाने के लिए वे विद्वानों की संगोष्ठी आयोजित करने के लिए, यदि भारतीय ज्ञानपीठ के अध्यक्ष के नाते प्रयत्नशील होते हैं, तो इसलिए कि वे समझते हैं कि अहिंसा, अनेकान्त, समता, उद्यम, संयम, अपरिग्रह आदि जीवन-मूल्यों की विरासत जो हमें मिली है, उसे आज के संदर्भ में परिभाषित किया जाए। उनके नेतृत्व की दूरदर्शिता यह है कि उन्होंने प्राचीन पद्धति के विद्वानों की शास्त्रीय दृष्टि

(शेष पृष्ठ १९८ पर)

साहू श्रेयांस प्रसाद जैन : कवि के वातायन से

····इक्षु-रस की धारा श्रेयांस के हाथ के रत्न-कलश से, ऋषभेश्वर के पाणि-पात्र में प्रवाहित है····। मानवों की समस्त कर्मभूमि उससे फलद्रूप हो गयी। उस इक्षु-रस की एक बूंद सहस्राब्दियों के आरपार चुपचाप संक्रमित होती हुई, मानो आज एक व्यक्ति के रूप में उपलब्ध हो गयी। साहू श्रेयांसप्रसाद जैन···

□ **वीरेन्द्रकुमार जैन**

पुराना नजीबाबाद। गढ़वाल की सरहद। हिमालय का आँगन। बर्तनों की मण्डी। शाही ज़माने की एक पीछे छूटी लकीर। आर्य समाज का ध्वजा-दण्ड। जैन रईसों की जागीर—नजीबाबाद। घनी अमराइयाँ; फलों के बाग़ों से लदी सरहदें। फ़िज़ाओं में फलों की मुद्रित, गहरी, रसाल, महीन सुगन्ध। मेरा बहुत गहरा सरोकार है इस भूमि से। शायद इतिहास के आगे का। मुझे क्या पता था सन् १९४४ में, कि इसी फलोद्यान की एक डाल, लिखने से पहले ही 'मुक्तिदूत' के फल-भार से झुक आयी थी। मगर अदीठ फल। हवा में तैरता वह फल मालवा (इन्दौर) चला आया था। मेरी क़लम पर आकार लेने लगा 'मुक्तिदूत'। नजीबाबाद के फलोद्यान का एक फल। जो मेरे जीवन में इतिहास बना। हिमालय की उपत्यका की माटी, जिसने मालवे में एक नया आकार लिया। रिश्ते ऐतिहासिक ही नहीं, जन्मान्तरीण भी होते हैं।····

योगायोग : सन् '४३ में श्रद्धेय जैनेन्द्रजी इन्दौर आये। बोले कि 'भारतीय ज्ञानपीठ के लिए जैन पुराण-कथा पर काम करना होगा'। जैनेन्द्र का शब्द मेरे लिए सदा मन्त्र रहा, आदेश रहा; लेकिन इस मन्त्र के पीछे, इस बार एक त्रिमूर्ति खड़ी थी : साहू श्रेयांसप्रसाद, श्री-सरस्वती रमारानी, साहू शान्तिप्रसाद। श्रेयस्-रमा-शान्ति। ऐसे यज्ञ के पुरोधा जैनेन्द्र ही हो सकते थे। मधुपर्क के रूप में मैंने पाया 'मुक्तिदूत'। भारतीय ज्ञानपीठ की 'लोकोदय ग्रंथमाला' का सबसे पहला साहित्यिक प्रकाशन। अजीब नियति रही इस पौराणिक रोमांस की। साहित्य-क्षेत्र की आँख इस श्रीफल को पहचान न पायी। मगर इस देश के हिन्दी-अहिन्दी हज़ारों पाठकों के हृदय इसके रस से अनायास आप्लावित हो गये। ····मेरे जीवन में उसने जन्मान्तरीण सम्बन्धों के द्वार खोल दिये; ऐसे कि मेरी जीवन-कथा एक महाकाव्य का विषय बन गयी। ख़ैर, वह मेरी निजी बात है। मगर मैंने कहा न, नजीबाबाद की माटी से मेरा सरोकार बहुत गहरा है। वह बहुत मर्मीली, लचीली, रसाल और सुगन्धित है।····

'भारतीय ज्ञानपीठ' के बीज-मंत्री और मेरे अभिन्न अग्रज, बाबू लक्ष्मीचन्द्र जैन ने लिखा : 'साहू-परिवार' 'मुक्तिदूत' पढ़कर मंत्र-मुग्ध है। श्रेयांसजी उसकी तारीफ़ करते नहीं अघाते। शान्तिजी गद्‌गद् हैं। रमारानी चुप नहीं रह सकीं : अमुक द्रव्य-राशि का यह उपहार उनकी ओर से आ रहा है। आशा है, स्वीकारोगे। मैंने

लिखा : 'भाई साहब' पुरस्कार नहीं, बस माँ का प्रेम पर्याप्त है। मुझे उनका केवल यह आशीर्वाद चाहिये कि, 'मुक्तिदूत' का यह सृजन मेरी क़लम से आगे परम्परित हो।....' भाई साहब ने लिखा : 'नहीं, यह पुरस्कार नहीं, माँ का वात्सल्य है, जो मूर्त हुए बिना चैन नहीं पाता। यह उसी का एक जीवन्त स्पर्श है।'....और वह स्पर्श ऐसा गहरा था, कि उसने मुझे केवल साहू-परिवार का अंग नहीं बना दिया, विशाल भारत के शत-लक्ष साहित्य-प्रेमी परिवार की रक्त-शिराओं में संचरित कर दिया।

....संगतियों में सोचना मेरे कवि का स्वभाव है। वस्तु और व्यक्ति का समग्र बोध मैं संगतियों (एसोसिएशन्स) में ही पाता। मसलन – नील नदी, पिरामिड, क्लीओपेट्रा : मिस्र। चित्रित पंखे, विशाल चायना वाज़, रेखिल लेंडस्केप, लाओत्से, कनफूशियस : चीन। एपोलो-वीनस की मूर्तियों से मंडित ग्रीक उद्यान, सुकरात और प्लेटो : ग्रीस। हिमालय, गंगा, ऋषभदेव, वेद व्यास : भारत वर्ष।

....जैन पुराण-कथा कहती है : कर्मभूमि के आद्य तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने महाभिनिष्क्रमण करते ही, एक वर्ष-व्यापी अखण्ड महातप किया था : निर्जल, निराहार, एकासन खडगासीन। और उसके बाद उन महाश्रमण भगवान को प्रथम आहारदान किया था राजा श्रेयांस ने।....इक्षु-रस की धारा श्रेयांस के हाथ के रत्न-कलश से, ऋषभेश्वर के पाणि-पात्र में प्रवाहित है....। मानवों की समस्त कर्मभूमि उससे फलद्रूप हो गयी। उस इक्षु-रस की एक बूँद सहस्राब्दियों के आरपार चुपचाप संक्रमित होती हुई, मानो आज एक व्यक्ति के रूप में उपलब्ध हो गयी। साहू श्रेयांस प्रसाद जैन....!

मैंने कहा न, संगतियों में ही मेरे निकट व्यक्ति और वस्तुएँ खुलती हैं। और श्रेयांस नाम मेरे मन महज़ एक सूचक संज्ञा पर समाप्त न हो सका। चाहें तो इसे आप मेरे मन की एक सब्जेक्टिव काव्य-फेंसी कह लें। पर सत्य का आकलन अपने स्वभाव से ही तो कर सकता हूँ। फेंटेसी स्वभावगत होती है : और कभी-कभी वह जन्मान्तरीण सत्यों को भी अनजाने ही अनावरित कर देती है।

व्यक्तिगत रूप से, और सार्वजनिक तथा व्यावसायिक क्षेत्र में भी जो लोग श्रेयांसजी के समीप आये हैं, उन्हें हृदय के इक्षु-रस की इस कच्ची हरियाली मधुरता ने आप्लावित न किया हो, ऐसा हो नहीं सकता। द्रव्य के दानेश्वर वे जितने हैं, उससे तो सभी परिचित हैं : पर अन्तस्-द्रव्य के उनके इस सहज आत्मदान ने ही मुझे सबसे अधिक विभोर किया है।

घर और ऑफिस से लगा कर, अपने विस्तार के तमाम क्षेत्रों में श्रेयांसजी 'बाबूजी' के मधुर सम्बोधन से ही सर्वाधिक प्रख्यात हैं। एक लोक-पिता की गरिमा, भव्यता, वात्सल्य, सर्वजन-सुलभता है उनके व्यक्तित्व में। कोई अदना व्यक्ति अपनी कष्ट-कथा या समस्या लेकर उनके पास चला जाए, निराश या खाली नहीं लौट

सकता। बहुत मृदु, मधुर, परदुःख-कातर, सवहितकामी है उनका हृदय। सब की सहाय को सदा उद्यत। सुन्दर, सौम्य चेहरे पर एक सरल-सहज मुस्कान, जो सम्मुख होते ही एक बार आगन्तुक आरत जन को आश्वस्त करती है। घर के परिचारक हों या ऑफिस के कर्मचारी 'बाबूजी' उच्चरित करते हर बार वे गद्‌गद् प्रतीत होते हैं। उन्हें जब भी पुकारता हूँ 'बाबूजी', तो मेरा हृदय होठों पर आये बिना नहीं रहता। अपने पिता को मैंने नहीं देखा : मेरे पैतृक अभाव का वह ज़खम सदा बाबूजी के सामीप्य में अनायास रूझ जाता है, भर जाता है। पता नहीं कितने न लोगों ने उनसे वात्सल्य की यह तृप्ति पायी होगी।

सन् '६० में जब 'धर्मयुग' के प्रधान सम्पादक के आसन पर मेरी पदोन्नति का प्रश्न उठा, तो बाबूजी ने मेरा ज़ोरदार समर्थन किया था। फिर भी यदि फ़ैसला मेरे हक़ में न हो सका, तो निश्चय ही उसके पीछे भगवान का मांगलिक आयोजन था। मेरे स्वजनों, क़द्रदानों और हितैषियों ने ही वह किया था। वह मेरे विरुद्ध हो ही कैसे सकता था? उसमें मेरे जीवन का भावी कल्याण-मंत्र गोपित था। तब मेरे स्वजनों ने लाड़-प्यार वश, स्नेह-सम्मानपूर्वक यदि मुझे 'धर्मयुग' की प्रधान सम्पादकीय कुर्सी पर प्रतिष्ठित कर दिया होता, तो आज जो आत्म-स्वातंत्र्य, तेज और सृजन-शक्ति का सूर्य मेरे ललाट पर तप रहा है, उससे मैं वंचित ही रह जाता। कुर्सी पाने पर, बेशक, दुनिया की हर नियामत मेरे इन्तज़ार में होती, मगर पेशानी का जल्वा कुछ और बात है। अपनी फ़क़ीरी और फ़ाक़ामस्ती के मोल, दुनियावी जल्वे भोग सकूँ, यह मेरी फ़ितरत में नहीं। मैं स्वभाव में रह सका, यही मेरे अकिंचन जीवन की एकमात्र सफलता है। मौत के दामन में मिलने वाली इस सौग़ात का मज़ा कहने में नहीं आता।

मेरी इलेक्ट्रिक (वैद्युतिक) चेतना के लिए 'धर्मयुग' की कुर्सी कारागार ही सिद्ध होती। उस पर मुझे न बैठा कर, मेरे आत्मीयों ने एक घातक अवरुद्धता से मुझे उबार लिया। आज जब 'अनुत्तर योगी : तीर्थंकर महावीर' उपन्यास लिख रहा हूँ तो मुझे सचोट प्रतीति हो रही है, कि किसी बड़े ओहदे की कुर्सी पर बैठ कर, मैं वैशाली के विद्रोही राजपुत्र वर्द्धमान महावीर का सृजन नहीं कर सकता था। ऐसा बाग़ी, जो सर्वजन-हिताय, सर्वजन-सुखाय, स्वयम् अपने खून के विरुद्ध, स्वयम् वैशाली के वैभव के विरुद्ध, स्वयम् अपने विरुद्ध, एक दिगम्बर ज्वालामुखी की तरह उठा। अपनी तमाम नावें जो जला चुका हो, अपने तमाम घर और किनारे जो तोड़ चुका हो, वही ऐसा लिखने की गुस्ताख़ी कर सकता है।....'शीश काट भुई पै धरै, तापै धारे पाँव.....

आज मेरी आँखों में कृतज्ञता के आँसू छलक आते हैं, अपने उन ज्येष्ठों और स्वजन-वल्लभों के प्रति, जिन्होंने उस दिन मुझे 'कैरियर' के क़ैदख़ाने से सदा को मुक्त कर के, मेरी आत्मा को अपनी मुक्ति के महाकाश में स्वच्छन्द उड़ने को परिन्दे की तरह आज़ाद कर दिया था। आज जो मेरे जीवन में सृजन का एक अपूर्व नूतन पर्व

उदय हुआ है, उसकी पृष्ठभूमि में 'श्रेयांस-रमा-शान्ति' की वही मांगलिक त्रिमूर्ति अविचल आशीर्वाद की तरह खड़ी दिखायी पड़ती है, जिसने एक दिन मुझ से 'मुक्ति-दूत' का सृजन करवाया था ।

बहुआयामी है साहू श्रेयांस प्रसाद का व्यक्तित्व। बेशक वे रईसुद्दौला हैं पैदायशी : जन्मजात राजा। अभिजात्य उनके व्यक्तित्व के कण-कण से टपकता है। पर वह महज़ भौतिक शान-शौकत नहीं, एक आत्मिक अभिजात्य है। ऐश्वर्य के रत्न-दीपों के बीच, आत्मा का यह सौम्य आलोक अलग पहचाना जा सकता है। यह पद्मनाभ कस्तूरी की ख़ुशबू है, जो दुनिया के फूलों और इत्रों की तरह पराधीन और क्षणिक नहीं यह वह सुगन्ध है, जो भीतर से चुपचाप महकती रहती है, और अनायास हज़ारों दिलों में बसती चली जाती है। अपने समस्त सुख-वैभव के बीच बाबूजी को मैंने पंकज की तरह, अपने पंक से ऊपर उठे देखा है। सांसारिक ऐश्वर्य की सीमा, भंगुरता, पराधीनता और विरूपता के प्रति वे सतत जागरूक हैं। कांचन और कामिनी की मदिरा का प्याला उनके ओठों को जीत नहीं सका है। अपने वैभव-महल की सुख-शैया में, वे मूर्च्छित हों, ऐसा मुझे नहीं लगा। और यह शायद साधारण उपलब्धि नहीं।

बल्कि बेचैन हैं साहू श्रेयांसप्रसाद की आत्मा, और यह इतना बड़ा राजवैभव भी उसे सुला नहीं सका है। उनके भीतर एक तीव्र मुमुक्षा है, अन्तिम सत्य को जानने के लिए एक अनिर्वार जिज्ञासा है। एक लाइन्तहा तलाश है उनमें यह समझने की, कि आख़िर यह सब मामला क्या है ? अपने परम्परागत रक्त-संस्कार में वे पक्के और कट्टर जैनी हैं : मगर उनकी जागृत चेतना किसी साम्प्रदायिक जकड़ में क़ैद नहीं रह सकी है। जैनधर्म ही नहीं, दुनिया का कोई भी धर्म, दर्शन, योगी, गुरु और शास्त्र अभी तक उन्हें पूरा समाधान नहीं दे सका है। वे सत्य के एक निर्ग्रंथ खोजी हैं, और उनके भीतर एक अन्तहीन प्रश्न है। वे किसी भी बड़ी-से-बड़ी ईश्वरीय ऑथॉरिटी को, शास्त्र अथवा गुरु को, अपने तीखे प्रश्न के फल पर परखे बिना, स्वीकारने को तैयार नहीं। वे अपनी सर्वथा स्वतंत्र संचेतना से, सारे विश्व-प्रपंच और संभवित विश्वातीत सत्ता का सीधा साक्षात्कार करने को व्याकुल रहते हैं।

इसी कारण उनका सबसे प्रिय व्यसन है, निरन्तर स्वाध्याय। दर्शन, अध्यात्म, योग, इतिहास, साहित्य और जीवन-चरित्र उनके अध्ययन के कुछ चुनिन्दा विषय हैं : ज़ाहिर है कि वे जीवन को उसकी समग्रता और विविधता में जानना, भोगना और जीना चाहते हैं।

उद्योग-व्यवसाय के क्षेत्र में वे एक शिखर-पुरुष हैं। भारत के साथ ही विश्व-राजनीति और मौजूदा दुनिया के तमाम अर्थनीतिक संघर्षों पर उनका अपना एक साफ़ नज़रिया है। चोटी के पूंजीपति होकर भी पूंजीवाद के पक्ष में दलील करते मैंने उन्हें नहीं सुना। अपने वर्ग और अपनी स्थिति के प्रति वे कहीं से भी अन्धे नहीं हैं। उसकी कोई हिमायत उनके मन में नहीं। कई बार उन्हें कहते सुना है :

'भैया, मैं तो ये मानता हूँ कि राज्य और सम्पत्ति का अर्जन अत्याचार और शोषण के बिना सम्भव ही नहीं। अब पुण्य से इसका क्या सम्बन्ध है, ये मेरी समझ में नहीं आता। अगर यही पुण्य है, तो फिर पाप किसे कहेंगे ?'

सुन कर मैं स्तब्ध रह जाता हूँ। नत-मस्तक हो जाता हूँ। साहू श्रेयांस प्रसाद अपनी बाहरी स्थिति को, अपने से अलग करके देख सकते हैं। वे अपने को कठघरे में खड़ा करके, अपने से जवाब-तलबी कर सकते हैं। ऐसा कोई रईस मेरे देखने में अभी तक नहीं आया।

अपनी जुस्तजूए हक़ीक़त के दौरान, अक्सर बाबूजी आज के साधु-सन्तों के गुरु-दरबारों में भी चले जाते हैं। वहाँ के अनुभवों का बयान करते हुए एक दिन वे बोले : भैया, ये आजकल के गुरु-महात्मा मेरी समझ में कुछ आये नहीं। सभी धर्म-शास्त्रों और इतिहास के पुराने ज़माने के ऋषि-मुनियों, सन्त-महात्माओं, वलियों और फ़क़ीरों को देखें आप, तो पता चलता है कि स्वयम् सिंहासन-धर और सम्पत्ति उनके चरणों में आ कर पड़ते थे। अब ये हाल है कि आज के अधिकांश गुरु स्वयम् ही सत्ताधारियों और सम्पत्तिशालियों के घर जाते हैं। भारी ख़र्च और भर-पेट भेंट के बिना उनकी मेहमानी नहीं हो सकती। वे सत्ता और सम्पदा के द्वार पर याचक हैं। श्रीमन्त ही उनके सब से बड़े कृपापात्र हैं।

'मेरा अनुभव तो ये है, भैया, कि जिस भी गुरु के द्वार पर हम गये, हमें ग़रीबों पर तर्ज़ीह दी गयी है। जन-साधारण भक्तिवश घंटों धूप में उनके द्वार पर क्यू लगाये रहते हैं, और हमारी मोटर लगते ही, हमारा विज़िटिंग कार्ड देखते ही, हमें फ़ौरन बुला लिया जाता है। आख़िर हमारे में ऐसा क्या सुर्ख़ाब का पर लगा है, सिवाय इसके कि हमारे पास दो पैसे हैं। इन हज़ारों ग़रीब लोगों के दिलों में श्रद्धा-भक्ति की बड़ी तीव्र लौ-लगन है। वे गुरु-दर्शन के लिए घण्टों धूप में तप करते हैं। उनके कष्टों और समस्याओं का पार नहीं। पर उन्हें गुरु-दर्शन दुर्लभ हैं। उनके दुःख-दर्द से ये सन्त-महात्मा बेसरोकार हैं। अगर यही भगवान का दरबार है, तब तो फिर बिना भगवान ही हम अच्छे हैं।

इस प्रसंग में आज के कुछ बहुत विशिष्ट और विख्यात भारतीय योगी-गुरुओं के आश्रमों और मठों के अपने अनुभव, उन्होंने उदाहरण-रूप में, पूरी तफ़सील के साथ सुनाये। सुन कर मैं दंग रह गया। बाबूजी किस कदर ,कोई ऊँची रूहानी हस्ती देखने को तरसते हैं, और हर आज के महात्मा में उसे ग़ैरहाज़िर पा कर, वे कितने निराश और उदास हुए हैं। ज़ाहिर है कि अपनी जागतिक सत्ता के अहंकार का चौग़ा उतार कर, श्रेयांस प्रसाद हक़ीक़त को खुली आँखों, अनासक्त भाव से देखने का साहस और आत्मतेज रखते हैं : किसी की भी व्यक्तिगत निन्दा-आलोचना उनके अभिजात मुख से नहीं सुनी जा सकती। ऐसे मौक़ों पर वे चुप हो जाते हैं। मगर उपरोक्त आलोचना, उनके निर्वैयक्तिक, क्षुरधार सत्यान्वेषण का अंग है। और इस जगह पर

····चोटी के पूंजीपति हो कर भी, पूंजीवाद के पक्ष में दलील करते मैंने उन्हें नहीं सुना। अपने वर्ग और अपनी स्थिति के प्रति वे कहीं से भी अन्धे नहीं हैं।

वे अपने को ही नहीं बख्श सकते, तो औरों को कैसे बख्श सकते हैं? व्यवहार में उनका सौजन्य लासानी है। साधु-सन्त से लगा कर साधारण जन तक को वे यथेष्ट सम्मान और विनय से मिलते हैं, इस हद तक कि, मैं तो उनके घर का लड़का हूँ, फिर भी चलते वक्त वे मुझे लिफ्ट तक पहुँचाने अचूक आते हैं, और ख़ुद ही ग्राउंड-फ्लोअर का बटन दबा देते हैं। यह एक सच्चे ऐश्वर्य-पुरुष की पहचान है।

उनकी कुशल व्यवसाय-नीत, उनके मधुर सौजन्य-मूर्ति व्यक्तित्व और सेवा-तत्पर चित्त के कारण, सारे व्यापार-उद्योगिक संघ और सारे ही देश की कई सामाजिक संस्थाएँ उन्हें अपने प्रमुख या नेता के रूप में पाने को होड़ लगाये रहती हैं। उनके पाँच सुयोग्य पुत्र उनकी व्यावसायिक कोठी के कुशल संचालक हैं, फिर भी अपने व्यवसाय-राज्य की हर छोटी-से-छोटी हलचल पर उनकी चौकस निगाह है। बावजूद इसके यदि कभी फ़ोन पर पूछ लेता हूँ कि 'बाबूजी, कब फ़ुर्सत होगी कि जम कर कभी सत्संग हो, या फलाँ जगह चला जाए, तो जवाब मिलेगा कि—

'भैया, मुझे तो फ़ुर्सत ही फ़ुर्सत है। मुझे क्या काम है? जब चाहो आ जाओ, एक फ़ोन पहले कर लेना, ताकि मुझे आपको 'मिस' न करना पड़े।'

यानी यह कि 'बिज़नेस' और संस्थाओं के विशाल प्रपंच के बीच खड़े बाबूजी सदा अपने स्व-समय के अवकाश में सहज ही रह लेते हैं। 'लीज़र' उनकी तबीयत में है, उनकी चेतना में है। बाहरी व्यस्तताओं की वह क़ायल नहीं, व्यस्तताएँ ख़ुद उनकी मुन्तज़िर हों तो हों।

शेरे-शायरी का उन्हें गहरा शौक़ है। उर्दू और फ़ारसी के कई लाजवाब शेर उनकी ज़बान पर हैं। कवियों और शायिरों की महफ़िल में बड़ी शौकत और तमन्ना से बैठते हैं। बड़ा हाज़िर जवाब और शायिस्ता मज़ाक करते हैं। तर्क उनका इतना धारदार है कि, हर विचार, दर्शन या पैग़म्बर की तहें छानते चले जाते हैं। किसी भी रहस्य-चमत्कार को चाक़-चाक़ करके देखे बिना चैन नहीं लेते।

उनके प्रेमिक और मुग्ध स्वरूप को भी देखते ही बनता है। सन् '६८ में मेरे बेटे डॉ. ज्योतीन्द्र जैन के चित्रों की एक प्रदर्शनी देखने वे बशौक़ बम्बई की 'जहाँगीर आर्ट गॅलरी' में आये। ज्योतीन को साथ ले कर बहुत ग़ौर से हर चित्र देखा। एक विशाल नीले फलक को उन्होंने ख़ासतौर पर पसन्द किया। फिर चलते वक्त ज्योतीन के दोनों कन्धों पर हाथ रख कर बहुत प्यार से बोले:

'बेटा, तुम को देख कर मैं बहुत ख़ुश हुआ।····मेरे लायक कोई काम हो तो बेहिचक मेरे पास चले आना।····'

····तीन बरस यूरप में रह कर, वियेना युनिवर्सिटी से पीएच. डी. करके ज्योतीन

पिछले बरस लौटा। बाबूजी से हम मिलने गये। बाबूजी की मुग्ध वात्सल्य से छलकती वे आँखें भूलती नहीं हैं! अपने बेटे पर आफ़रीन, निसार····! बोले कि: 'बेटा, आय एम प्राउड ऑफ यू!' दो घंटे तक ज्योतीन की तमाम प्रवृत्तियाँ बहुत दिलचस्पी से सुनते रहे। और सुन कर गद्‌गद्‌। ····अम्माजी आयीं, प्रेम बाबू आये, दुर्गा बहू को भी बुलाया गया। और यह भी कि : 'बेटा दुर्गा, ज्योतीन के लिए, इसके लायक कोई बढ़िया बहू खोजो।····' एक सघन पारिवारिक मिलन। चलते वक्त ज्योतीन से बोले: 'बेटा, तुम्हारे लिए कोई प्रीवियस एपॉइण्टमेंट की ज़रूरत नहीं। जब जी चाहे, बेखटक मेरे पास चले आओ।' और फिर ज्योतीन के जैनॉलॉजीकल सर्वेक्षण के मुतअल्लिक़ सारा इन्तज़ाम करने का आश्वासन उन्होंने दिया। उनकी सादगी, सरलता, गम्भीरता के समन्वय को देख कर मैं प्रायः आनन्द-विभोर हो जाता हूँ। प्यार, छलकता नहीं, भीतर उतरता चला आता है, और चुपचाप सक्रिय हो जाता है।

मौजूदा दुनिया की तमाम उथल-पुथल बाबूजी का निजी सरोकार है। विश्व-मानवता उनकी चिन्ता का विषय है। किसी नये रास्ते की तलाश उनमें सदा चलती रहती है। अब इधर हाल में उनका सोचना यह है कि क्या दुनिया के राजनीतिक और अर्थनीतिक मामलात को किसी ऐसी ज़मीन पर नहीं सुलझाया जा सकता, जहाँ सारे राष्ट्र और वर्ग अपने हितों को सुरक्षित महसूस करें? उनका ख्याल है कि चाहे श्रमिक हो या स्वामी हो, ग़रीब हो या अमीर हो, शोषक हो या शोषित हो, सब में कुछ बुनियादी मानवीय दुर्बलताएँ समान रूप से पायी जाती हैं। मसलन अहंकार, स्वार्थ, लोभ, भोगाकांक्षा, अधिकार-भावना, सत्ता-लोलुपता। मनुष्य की इन सीमाओं और दुर्बलताओं को स्वीकार किया जाए और कोई ऐसा समाधान उपलब्ध किया जाए, जिसमें सभी मनुष्यों की इन मूलभूत वृत्तियों को समान रूप से परितुष्टि मिल सके। उसके बिना महज़ किसी आदर्शवादी सिद्धान्त-रचना से क्रिया-प्रतिक्रिया, हिंसा-प्रतिहिंसा, शोषण-प्रतिशोषण के दुश्चक्र का अन्त नहीं हो सकता। ऐसे तमाम सिद्धान्तों के आदर्शवादी मुखौटों के बावजूद, आदिम मनुष्य की दुर्बलताएँ, अहंकार, प्रतिशोध-भावना, उनके पीछे समान रूप से सक्रिय रहती हैं। इस तरह आज का शोषित कल सत्ता के सिंहासन पर बैठते ही अनिवार्य रूप से शोषक होता ही है। आज का श्रमिक सत्ताहीन होने पर कल स्वामित्व के सर्व शोषक अहंकार और मद से प्रमत्त होता ही है। शोषण का रूप भौतिक से बदल कर मानसिक और आत्मिक भले ही हो जाए, जो कि ज्यादा ख़तरनाक होता है।

बाबूजी को कभी मैंने साम्यवाद की कटु आलोचना और उसका विरोध करते नहीं सुना। उसके उपलब्धि-पक्ष को वे तटस्थ भाव से स्वीकारते हैं। पर उनके मन में प्रश्न यही है कि साम्यवादी राष्ट्र भी मौजूदा दुनिया की हिंसक और शोषक व्यवस्था से उबर नहीं सके हैं। उनकी प्रजाएँ भी औसत, जीवन-साधन

यानी यह कि 'बिजनेस' और संस्थाओं के विशाल प्रपंच के बीच खड़े बाबूजी सदा अपने स्व-समय के अवकाश में सहज ही रह लेते हैं। 'लीज़र' उनकी तबीयत में है, उनकी चेतना में है। बाहरी व्यस्तताओं की वह कायल नहीं, व्यस्तताएँ ख़ुद उनकी मुन्तज़िर होती हैं।

की समान उपभोक्ता होने पर भी, आत्मिक पक्ष पर बन्दी, शोषित, दमनग्रस्त और पीड़ित ही हैं। वे भी केवल एक विरोधी प्रतिपक्ष हो कर, हिंसा के इस दुश्चक्र को वेग ही दे रहे हैं। गांधीवाद और सर्वोदय के आदर्श भले ही अहिंसा और प्रतिक्रिया-मुक्ति के हों, पर वे सत्ताश्रित हो कर मौजूदा विकृत प्रतिष्ठान के अंग ही बने हुए हैं। इस आदर्शवादी खेमे के व्यक्ति से लगा कर, नेता, समाज और राष्ट्र भी अपने सतोगुणी मुखौटे के पीछे उतने ही स्वार्थ-पोषक और अपनी सुरक्षा और महत्ता की कामना से पीड़ित हैं, जितने कि यथार्थवादी, हिंसक उपायों के पक्षधर, न्यस्त-स्वार्थी, स्थिति-पोषक लोग। अन्तर केवल दिखावे का है। बल्कि इस अर्थ में आदर्शवादी लोग पाखण्ड-पूजा को सरे आम स्थापित करते हैं। 'रोटी खाओ शक्कर से, और काम चलाओ मक्कर से।'····बाबूजी का निष्कपट हृदय इस आदर्शवादी पाखण्ड को स्वीकार नहीं कर पाता, जब कि वह उनके वर्ग की हित-रक्षा के पक्ष में ही पड़ता है।

बाबूजी के विचार मैंने अक्सर सुने हैं, और मैंने उन्हें यहाँ अपने तरीके से खोल कर, विस्तारित कर, अपने ढंग से प्रस्तुत करने की कोशिश की है। चूँकि मेरी विचार-धारा भी कुछ इसी तरह गतिशील है, इस कारण उनके विचारों को यथेष्ट रूप में पेश करना मेरे लिए आसान हो गया है। फिर भी यदि किसी मुद्दे पर वे और तरह सोचते हों, तो ये विचार मेरे माने जाएँ, जो मेरे ख्याल से काफी हद तक उनके ख्यालात का प्रतिनिधित्व करते हैं।

दुनिया इस वक्त सत्यानाश के कगार पर खड़ी है और विशेषकर भारत आज जिस शासकीय भ्रष्टाचार और अराजकता के चंगुल में फँसा है, उससे निष्क्रान्ति का कोई सही और अचूक उपाय जल्दी ही नहीं सोचा गया, तो भारत में एक ऐसी हिंसक क्रान्ति का विस्फोट अनिवार्य है, जो सर्जक और कल्याणी होने के बजाय, आमूल विनाशक ही हो सकती है।

साहू श्रेयांस प्रसाद भारत के अर्थ-सत्ता क्षेत्र के एक समर्थ नेता और कर्णधार हैं। यह वह वर्ग है जिसके हाथों में राजसत्ता भी कमोवेश कठपुतली बन कर खेलती रहती है। दिल्ली के सत्ता-सिंहासन के अन्तिम और असली भाग्य-निर्णायक, सामान्य प्रजा और राजनेता नहीं, देश के सम्पत्ति-तंत्र के संचालक व्यवसायी और उद्योगपति हैं।

मेरा एक विनम्र सुझाव है। क्यों न सर्वहित-चिन्तक साहू श्रेयांस प्रसाद अपने अर्थसत्ताधीश वर्ग के भीतर अपने उपरोक्त मांगलिक और तटस्थ विचार

(शेष पृष्ठ १८६ पर)

हम बदलें : समाज बदलेगा

साहू श्रेयांस प्रसाद जैन/डॉ. नेमीचन्द जैन; बम्बई : २९-३० जुलाई, १० सितम्बर, १९८३

डॉ. नेमीचन्द जैन : बातचीत का सिलसिला है आपका अमृत-महोत्सव। आप अपने जीवन की लगभग पौन शताब्दी संपन्न करने जा रहे हैं; यह हम सबके लिए हर्ष का विषय है। मैं समझता हूँ इन पचहत्तर वर्षों में जो कुछ आपके द्वारा हुआ, वह सारे जैन समाज का इतिहास भी है। मैं बातचीत इसी दृष्टि से करूँगा।

साहू श्रेयांस प्रसाद जैन : आप इन्दौर से पधारे, इसके लिए मैं आपका कृतज्ञ हूँ।

ने. : आप मेरे कृतज्ञ होंगे? आप तो पितृतुल्य हैं।

सब-में-पहले

श्रे. : वह ठीक है; लेकिन इसके अलावा आप विद्वान् हैं। इस नाते मैं आपको प्रणाम करता हूँ। आपकी जो जिज्ञासा है, वह मात्र मेरे संबन्ध में ही नहीं, जैन समाज के संबन्ध में भी है; उसे ले कर आप जो जानकारी चाहते हैं, मैं उसे देने का प्रयत्न करूँगा।

ने. : सबमें पहले आप अपने प्रारंभिक जीवन के संबन्ध में बतायें।

श्रे. : मैं एक ऐसे वैश्य कुल में जन्मा, जिसका व्यवसाय जमींदारी था। जानते ही हैं आप कि जमींदारी में कुछ अधिक काम और श्रम नहीं करना होता है; लेकिन मेरी जो नियति रही है, वह इस प्रकार, कि शुरू से ही कोई-न-कोई संस्था मुझे चलानी पड़ी।

ने. : पहली संस्था कौन-सी थी?

श्रे. : कन्या विद्यालय।

ने. : कहाँ?

एक मित्र थे

श्रे. : नजीबाबाद में। बाद को उसका नाम मेरी पूज्या माता के नाम पर 'मूर्तिदेवी कन्या विद्यालय' हुआ। मैं मन्त्री बना; और उसका सारा कार्य करता रहा। मेरे एक मित्र थे, जगत्प्रसाद जी। वे समाज-सेवा में बड़ी रुचि रखते थे।

ने. : विद्यालय कौन-से वर्ष में शुरू हुआ?

श्रे. : जहाँ तक याद पड़ता है १९२१ में। तब मैं तेरह साल का था।

ने. : अर्थात् तेरह वर्ष की उम्र में आपने समाज-सेवा का कार्य शुरू किया।

'दस्तूर-उल-अमल'

श्रे. : इसी समय के लगभग लोगों में ऐसी धारणा बनी थी कि हम शादी-विवाह पर जो खर्च करते हैं; उस व्यर्थ खर्च का समाज पर बोझ पड़ता है, इसलिए एक कमेटी बनायी : 'दस्तूर-उल-अमल' [1]। उस ज़माने में उर्दू का बोलबाला था; नामकरण आदि ज्यादातर उर्दू में ही होते थे। 'दस्तूर-उल-अमल' यानी क्या अमल किया जाए, इसका दस्तूर (रीति-रिवाज़) कायम करना या उसकी कोई सामाजिक संहिता बनाना।

ने. : याने नये सिरे से कुछ कर गुज़रने की बात थी।

श्रे. : एक परम्परा कि विवाह-शादी में यह काम इस-इस तरह से करो। उसका भी मैं सेक्रेटरी बना। वह केवल नजीबाबाद तक सीमित नहीं था। वह तमाम बिजनौर जिले का था। तेरह-चौदह वर्ष की उम्र में मैं जगह-जगह जा कर लोगों को समझाता था कि यह काम, इस तरह करना चाहिये। जो 'दस्तूर-उल-अमल' बना, उसका प्रचार करता था। वह केवल जैनों के लिए था, किसी अन्य समाज के लिए नहीं।

ने. : तब तक आपकी शिक्षा का क्या था?

श्रे. : जब मैं ग्यारह का था, तब मेरे पूज्य पिताजी [2] का देहान्त हो गया, अतः मुझे पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी। मैंने छठी क्लास तक तालीम ली। उसके बाद मैंने पंजाब यूनिवर्सिटी से मैट्रिक का इम्तहान प्राइवेट पास किया।

ने. : कौन-सा वर्ष रहा होगा यह?

श्रे. : सन् १९२४ की बात है।

ने. : तब तो मेरा जन्म भी नहीं हुआ था।

श्रे. : उस समय मुझे दो विषयों – संस्कृत और मैथेमेटिक्स – में डिस्टिंक्शन (विशेष योग्यता) मिला था।

ने. : बधाई आपको!

घर-में-लायब्रेरी

श्रे. : मेरी सारी शिक्षा प्राइवेट हुई। इस सब के बाद भी मुझे पढ़ने-लिखने, सुनने-सुनाने का एक व्यसन रहा। व्यसन ही कहूँगा इसे – शौक की बजाय। घर में एक लायब्रेरी स्थापित की; जिसमें से लोगों को पुस्तकें लेता-देता था।

---

१. 'दस्तूर' (फारसी शब्द) का अर्थ है : व्यवहार, परम्परा, रीति-रिवाज; तथा 'अमल' (अरबी शब्द) के मायने हैं : लोकाचार, आचरण; तदनुसार 'दस्तूर-उल-अमल' का संपूर्ण अर्थ हुआ समाज के जन-कल्याणकारी परिवर्तन के लिए कृतसंकल्प रीति-रिवाजों के लोकाचरण का एक संशोधित विधान अथवा आचार-संहिता।

२. श्री दीवानसिंहजी। साहू गणेशीलालजी के यहाँ श्रेयांसजी दत्तक गये थे।

साहू श्रेयांस प्रसाद जैन से बातचीत रिकॉर्ड करते हुए डॉ. नेमीचन्द जैन

ने. : किस क़िस्म की पुस्तकें थीं लायब्रेरी में ?

श्रे. : उस ज़माने में तो लोग ज्यादातर उपन्यास और काव्य पढ़ते थे।

ने. : आपका शौक कविता में ज्यादा था या उपन्यास में ?

श्रे. : उपन्यास में। बाद को कविता में हुआ।

ने. : कौन-सा उपन्यास ध्यान में आता है उस ज़माने का ?

श्रे. : प्रेमचन्द (१८८०-१९३६) के उपन्यास 'ग़बन' (१९३०), 'गोदान' (१९३६) पढ़े। शरत्-साहित्य पढ़ने का शौक था। मैंने बंगला में शरत्-साहित्य पढ़ा। शरत्-साहित्य पढ़ने के लिए मैंने बंगला सीखी। एक बंगाली बाबू मुझे घर पढ़ाने आते थे।

बंगला सीखी

ने. : क्या नाम था उनका ?

श्रे. : शैलेशचन्द्र चटर्जी। उनसे मैंने बंगला सीखी और शरच्चन्द्र (१८७६-१९३८) के क़रीब-क़रीब सारे उपन्यास मूल बंगला में ही पढ़ डाले। अब बंगला भूल गया हूँ।

ने. : 'गृह-दाह' वगैरह-वगैरह।

श्रे. : सब।

ने. : 'चरित्रहीन' अच्छा लगा?

श्रे. : बहुत अच्छा; 'चरित्रहीन' (१९१३) तो एक तरह से अ-समाप्त है।

ने. : उसके बाद आपकी रुचि कविता में बढ़ी?

श्रे. : हिन्दी-कविता में नहीं, उर्दू-शायरी में। हमारे एक दूसरे अध्यापक थे, जो कविता करते थे। जब होलिकोत्सव, या वसन्तोत्सव होता, तो वे कहते कि 'कविता लिखो'। थोड़ा-सा लिखता भी था, लेकिन ठीक तरह से लिखना कभी नहीं आया।

ने. : कोई लिखी हुई कविता याद आती है?

श्रे. : 'याद रखने लायक' लिखना कभी आया ही नहीं।

ने. : मूर्तिदेवी कन्या विद्यालय की दूसरी गतिविधियाँ क्या रहीं?

श्रे. : कन्या-शिक्षा।

ने. : क्या वह अभी चल रहा है?

श्रे. : हाँ, अभी चल रहा है। उसका प्रबन्ध हमारे जिम्मे आ गया है। पहले वह सार्वजनिक था, अब सारा प्रबन्ध हम लोग करते हैं। हम ही उसे चला रहे हैं।

ने. : उसके 'तब' और 'अब' में क्या फ़र्क आ गया है?

श्रे. : पहले और लोग भी शामिल थे; शामिल तो आज भी हैं, लेकिन अब उसका सारा प्रबन्ध हमारे जिम्मे है।

ने. : उसकी प्रवृत्तियों में अब क्या फ़र्क आ गया है?

श्रे. : पढ़ाने की पद्धति, सोचने का तरीक़ा, पहले से थोड़ा भिन्न हो गया है। उस जमाने में भी कढ़ाई-बुनाई आदि सिखाते थे।

उजाला : इधर भी, उधर भी

ने. : आपका जन्म कब हुआ?

श्रे. : तिथि तो याद नहीं, सन् याद है।

ने. : वह क्या है?

श्रे. : सन् १९०८ की दूसरी और तीसरी नवम्बर की रात्रि।

ने. : दूसरी या तीसरी; या दोनों?

श्रे. : अंग्रेजी हिसाब से तीसरी।

ने. : बारह के बाद?

श्रे. : हाँ भारतीय दृष्टि से दूसरी।

ने. : यह तो वैसे ही है जैसे देहलीज पर रखा हुआ दीया; उजाला इधर भी, उजाला उधर भी।

श्रे. : मालूम नहीं, उजाला था या नहीं।

ने. : मैंने 'देहलीज के दीप' का उदाहरण दिया है। क्या उस ज़माने की राजनीति में आपकी रुचि थी?

गोद गये

श्रे. : राजनीति में मेरी बड़ी रुचि थी। मेरे चचेरे भाई रायबहादुर जुगमन्दर-दास जी और मेरे पिता रायसाहब गणेशीलालजी[1] थे, जिनमें से कोई रायसाहब था, कोई जागीरदार। यह सब मैं अपने चारों तरफ देखता था।

ने. : माताजी के जीवन की छाप आप पर क्या हुई?

श्रे. : यह मैं बाद में बताऊँगा। पहले मैं इसे समाप्त कर लूँ। जब मैं 'नजीबाबाद म्युनिसिपैलिटी' का वाइस चेयरमैन बना तब मेरी उम्र बीस साल थी। उम्र के हिसाब से तब मैं 'वाइस चेयरमैन' नहीं बन सकता था। बन्दिश थी कि उम्र इक्कीस से अधिक होनी चाहिये; किन्तु कलेक्टर ने मेरे लिए नियम को निलम्बित कर मुझे वाइस चेयरमैन बनाया। इस तरह उस ज़माने में मेरी दिलचस्पी राजनीति में भी रही; और समाज-सेवा में भी। स्वागत-अभिनन्दन — तमाम मेरे जिम्मे रहे। जहाँ तक अतिथि-सत्कार का सवाल है···।

आतिथ्य के संस्कार

ने. : कैसा सवाल?

श्रे. : आतिथ्य के संस्कार का। इसकी छाप मुझ पर मेरे पितामह साहू सलेखचन्दजी[2] की पड़ी। उनका उसूल था कि रोज सुबह मन्दिर जाना। वहाँ वे ऐसी जगह बैठते थे कि बाहर से आने वालों को उनके सामने से सहज ही गुज़रना होता था। उस जमाने में साहबी घरों में यह परिपाटी थी कि सुबह का ब्रेकफास्ट (नाश्ता) या दूध कहिये, तभी मिलता था, जब मन्दिर हो कर आते थे। वे निगाह रखते थे कि आज किस परिवार का कौन-सा सदस्य मन्दिर आया है और कौन-सा नहीं आया है। इसका भी वे बराबर खयाल रखते थे कि नगर के बाहर का कौन आदमी आया है? ऐसे आदमी से वे परिचय कर लेते थे। बड़ी आत्मीयता से पूछ लेते थे: 'आप कहाँ से आये हैं? आइये, भोजन कीजिये।' वे स्वयं आतिथ्य करते तथा दूसरों को प्रेरित करते थे।

ने. : नगर के लोगों को भी?

श्रे. : नगर के जो लोग जिस दिन मन्दिर नहीं आते थे उस दिन वे मन्दिर से सीधे उनके घर पहुँच जाते थे और कहते थे कि आज आप मन्दिर में नहीं दिखायी दिये; तबीयत तो ठीक है न? कुशल तो हैं? वे यह नहीं पूछते थे

१. इनके यहाँ श्रेयांसजी गोद गये थे।

२. नजीबाबाद के लोग आदरवश उन्हें 'सेठ' कहा करते थे।

कि मन्दिर क्यों नहीं आये? इस तरह उसे अगले दिन मन्दिर आना ही पड़ता था। वे पता लगा लेते थे कि वह प्रमादवश नहीं आया है, या उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं है?

सब-पर-नज़र

ने. : अर्थात् वे यह जता देते थे कि उसकी अनुपस्थिति की जानकारी उन्हें है?

श्रे. : तो फिर इस तरह वह आता ही था। मेरे ताऊजी के सुपुत्र राय-बहादुर जुगमन्दरदासजी (रमेशचन्द्र, जो 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' में हैं, के पिताजी), पर उनका बड़ा असर था।

ने. : दादाजी (पितामह) तो 'रोल कॉल' लेते ही थे मन्दिर जाने वालों की।

श्रे. : वे सब पर नज़र रखते थे।

ने. : उस समय आप नियमित मन्दिर जाते होंगे?

श्रे. : नियमित; नहीं जाने पर पिटाई होती थी।

पिटा : सिर्फ एक दफा

ने. : पिटाई तो जरा ठीक नहीं लगता; 'परैड' शब्द शायद ज्यादा ठीक है। क्या कभी आपकी परैड हुई?

श्रे. : एक दफा हुई थी। वह इस कारण कि उस जमाने में विजातियों के घर खाना वर्जित था। मेरे एक मित्र थे। थे तो वे वैश्य, लेकिन दस्सा थे; इसलिए विजातीय कहलाये। हम दोनों में मित्रता थी। मित्र की माता मुझे पुत्रवत् मानती थीं। उसके घर आना-जाना बना रहता था। एक बार मैंने वहाँ खाना खा लिया। दादाजी को पता चला, तो उन्होंने पूछा कि तुमने वहाँ खाना कैसे खाया?

ने. : पिटाई का स्वरूप क्या था?

श्रे. : डण्डा।

ने. : डण्डा किस प्रकार का, कैसा?

श्रे. : छड़ी-जैसा।

ने. : डण्डे और छड़ी में तो फ़र्क है न? डण्डा कुछ मोटा होता है।

श्रे. : वह मोटी छड़ी थी। (हँसी)।

ने. : कितनी छड़ियाँ खायीं?

श्रे. : तीन-चार। कहने लगे, तुम धर्म-भ्रष्ट हो गये। तुमने जाति का अपमान कर दिया। यह कर दिया, वह कर दिया।

ने. : उस क्षण आपके मन में थोड़ा विद्रोह तो हुआ ही होगा?

श्रे. : विद्रोह तो नहीं हुआ; क्योंकि उनके प्रति मेरी श्रद्धा बहुत थी।

ने. : क्या रही होगी तब आप की उम्र?

ऊर्ध्वं बाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किन्न सेव्यते।

यह मैं हाथ ऊँचा करके कह रहा हूँ कि धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है; तो फिर वह धर्म तुम आचरण में क्यों नहीं लाते? परन्तु मेरा यह कहना कोई सुनता नहीं है।

—महाभारत; 18-5-49

श्रे. : पन्द्रह-सोलह।

मे. : यह आपकी पहली और अन्तिम पिटाई थी?

श्रे. : उसके बाद शायद कभी नहीं हुई।

ने. : किसी ने नहीं की?

मैंने : किसी को नहीं

श्रे. : किसी ने नहीं।

ने. : इसके बाद तो आप ही समर्थ हुए पीटने को?

श्रे. : मैंने तो किसी को पीटा नहीं आज तक।

ने. : डण्डा ले कर नहीं पीटा हो; और भी तरीके हो सकते हैं। फिर क्या हुआ, आप मन्दिर की बात कर रहे थे; कुछ उसूल-आदर्श स्थापित किये।

श्रे. : किये; लोगों को प्रेरणा देते रहे कि मन्दिर ज़रूर जाना चाहिये, स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये और किसी कारण से नहीं आयें तो पितामह (दादाजी) को समाचार दे देना चाहिये कि तबीयत ठीक नहीं है।

ने. : जो खबर नहीं देता था, उसे वे खबरदार करते थे। यह उनका खास काम था।

धार्मिक शिक्षा

श्रे. : स्वाध्याय पर दादाजी का बड़ा ज़ोर था। शास्त्राभ्यास के लिए उन्होंने पाठशाला स्थापित की। उसमें विद्वान् अध्यापक को रखा। मैंने सब पढ़ा है—तत्त्वार्थसूत्र, द्रव्यसंग्रह, भक्तामर-स्तोत्र आदि।

ने. : यह सब पन्द्रह की उम्र के इर्दगिर्द हुआ ?

श्रे. : पढ़ा ही नहीं; सेठ माणिकचंद दिगम्बर जैन परीक्षालय, सोलापुर से परीक्षाएँ भी दीं और उनमें उत्तीर्ण भी हुआ।

जैनधर्म : दादाजी से

श्रे. : जैनधर्म आपके पूर्व संस्कार के रूप में तो है ही; दादाजी/पिताजी से भी यह विरासत में मिला ?

ने. : दादाजी से। पिताजी से कुछ नहीं मिला। सारे संस्कार मुझे दादाजी से और माँ से ही मिले हैं।

श्रे. : दादाजी से आपको जो कुछ मिला है, उसका अहवाल पूरा अभी आपने नहीं दिया है। कृपया, इस सिलसिले में आप कुछ और भी बताइये।

श्रे. : वे बहुत धार्मिक व्यक्ति थे। सुबह मन्दिर जाना, शाम को सामायिक करना, कायोत्सर्ग-पूर्वक जाप करना, इत्यादि उनके नित्य-नैमित्तिक कर्म थे।

ने. : धर्म उनके जीवन में घुल-मिल गया था।

श्रे. : जमींदारी थी; काम वे कुछ भी नहीं करते थे। सिर्फ धार्मिक जीवन बिताते थे।

माँ-से-मिला शुद्ध जीवन

ने. : अब बताइये, माताजी की आप पर क्या छाप पड़ी ?

श्रे. : हम दो भाई थे : मैं और मेरा छोटा भाई शान्तिप्रसाद। कुल जमा हम थे दो भाई, दो बहिन। बहिनों की असमय मृत्यु हो गयी, सत्रह-अठारह वर्ष में। एक की प्रसूति में; दूसरी की डिप्थीरिया से। मैं अपने चाचा के यहाँ दत्तक गया। उनका नाम जैसा मैंने पहले कहा है—रायसाहब साहू गणेशीलालजी था और पिताजी का साहू दीवानसिंहजी। पिताजी का मस्तिष्क थोड़ा विकृत था। उन्हें सुल्फ़ा वगैरा पीने की आदत थी। जमींदारी के कारण भी उनमें ऐसा हुआ। अपने पिता से मुझे कभी स्नेह नहीं मिला। उनसे मेरा कोई अधिक/विशेष संपर्क भी नहीं रहा। उनके जीवन से मुझे कोई प्रेरणा नहीं मिली। जब मैं बारह साल का था तब १९२० के आसपास उनकी मृत्यु हो गयी और १९२१ में, जिन्होंने मुझे गोद लिया था, उनकी भी मत्यु हो गयी।

ने. : अगल-बगल में दोनों स्वर्ग सिधार गये।

श्रे. : हाँ। एक बात मैं आप से कहना चाहूँगा कि मेरी माताजी मेरे प्रति बहुत सतर्क रहती थीं। वे सबकी बहुत देखभाल करती थीं। हमारे परिवार में उस समय लगभग सत्तर-अस्सी लोग होंगे। सबकी रसोई एक साथ बनती थी। वे सबका प्रबन्ध करती थीं। मैं कभी-कभी उनसे कहा करता था कि प्रबन्ध आप ही क्यों

करती हैं? इस पर वे कहती: भई, मुझे इसमें आनन्द मिलता है। इसे मैं किसी के दबाव से तो करती नहीं हूँ।

ने. : अंतरंग प्रेरणा से वे करती थीं? उसमें उन्हें रस आता था?

श्रे. : हाँ। एक ही कुटुम्ब था। उस वक्त तक कोई विघटन नहीं हुआ था। उस समय उनकी दृष्टि थी कि एक तो मैं नौजवान हूँ; दूसरे, ज़मींदार कुल में उत्पन्न हुआ हूँ। मुझमें कोई ऐसे व्यसन न आ जाएँ कि मैं रास्ते-से-भटक-जाऊँ। इसके प्रति वे बराबर सतर्क रहती थीं; और यह उनकी इस सतर्कता का ही सुफल है कि मैं अपने जीवन को शुद्ध बनाये हुए हूँ। मैंने आज तक शराब नहीं पी, सिगरेट भी नहीं पी, और किसी प्रकार का व्यसन मुझे नहीं रहा; यह सब माँ की ही कृपा का अमृतफल है। जब मैं अपना विगत परिवेश देखता हूँ, तो लगता है कि यदि माँ इतनी सतर्कता नहीं बरततीं, तो मैं बिगड़ गया होता।

बिकेम हेड ऑफ द फेमिली

ने. : आपके चारों ओर की परिस्थितियाँ काफी अलग थीं। यदि माताजी का वरद हस्त न होता, तो हो सकता है आप भटक जाते?

श्रे. : हो सकता था, मैं बिगड़ जाता, भटक जाता। क्या हो जाता? यह कहना तो आज मुश्किल है; लेकिन विषम परिस्थितियाँ मेरे चारों तरफ थीं। कुछ ऐसे परिजन भी थे, जो चाहते थे कि मैं बिगड़ जाऊँ—(जायदाद के कारण संभव है उनमें थोड़ा द्वेष/ईर्ष्या रही हो)। ऐसे तो ग्यारह की उम्र में ही 'आई बिकेम द हेड ऑफ द फेमिली' (मैं अपने परिवार का मुखिया बन गया)। जब मेरे पिता, जिन्होंने मुझे दत्तक लिया था, नहीं रहे, तब (१९२१ में) मेरी उम्र तेरह की थी। सारा दायित्व अकस्मात् मुझ पर आ गया। जब कभी समाज में शादी-विवाह होते, तब मैं ही वहाँ जाता, क्योंकि मैं था परिवार का मुखिया।

ने. : कैशोर्य में ही वृद्धावस्था की ओर आ गये?

क्रिकेट : घुड़सवारी : पिंगपाँग

श्रे. : लेकिन सर्वथा ऐसा नहीं था। उस समय मैं टेनिस भी खेलता था; घुड़सवारी भी करता था।

ने. : इन दोनों बिन्दुओं के बीच सेतु क्या था?

श्रे. : जब मैं गाँव जाता, तब घोड़े पर जाता और नजीबाबाद रहता, तो टेनिस खेलता।

ने. : और क्या खेलते थे?

श्रे. : तीन चीजें: क्रिकेट, घुड़सवारी और पिंगपाँग (टेबिल टेनिस), क्रिकेट में तो मुझे चोट भी लगी। देखिये, मेरी बायीं आँख पर यह जो निशान है, वह इसी की यादगार है। आँख तो शुक्र है बाल-बाल बच गयी।

ने. : घुड़सवारी के कारण आपको घोड़ों का अच्छा अध्ययन हो गया होगा?

श्रे. : घोड़ों का अध्ययन (हँसी)।

ने. : आदमियों का अध्ययन तो है ही···।

श्रे. : घोड़ों का अध्ययन इसलिए हुआ कि हमारे जो कोचवान थे, वे बताते थे कि यह घोड़ा शुभ है। इसे मार्किंग कहते हैं। ऐसा घोड़ा लेना चाहिये। यह शुभ होता है, वह अशुभ इत्यादि।

ने. : आदमी शुभ-अशुभ कौन-सा होता है, यह तो मैं आपसे बाद में पूछूंगा। लेकिन घोड़ा कौन-सा शुभ होता है, यह आप ज़रूर बतायें?

श्रे. : मार्किंग होता है। इस समय तो मैं बिलकुल नहीं बता सकता।

ने. : अशुभ घोड़े के बारे में खयाल है?

श्रे. : घोड़े के सिर पर कोई चिह्न होता है।

ने. : आपको तो घुड़सवारी करनी थी, शुभ-अशुभ से आपको क्या सरोकार?

श्रे. : अपने यहाँ तो सब शुभ घोड़े ही आते थे (हँसी)। एक बार मेरठ में नौचन्दी में खुद घोड़ा खरीदने गया था। मेरे साथ कोचवान रहता था।

ने. : कितनी दूरी तक आपने घुड़सवारी की?

श्रे. : यही कोई दस-पन्द्रह मील।

ने. : अकेले होते थे, या कोई साथ होता था?

श्रे. : कोचवान रहता था, जो दूसरे घोड़े पर पीछे-पीछे चलता था। ज़मींदारी की प्रतिष्ठा थी। जमींदार के बच्चे का अकेले जाना 'बिलो डिग्निटी' (प्रतिष्ठा के विरुद्ध) माना जाता था। स्कूल में जाते थे, तो नौकर किताबें साथ में ले कर जाता था।

ने. : यह बतलाइये कि जब सबसे पहली बार आपने घुड़सवारी की, तब कैसा लगा?

श्रे. : अच्छा।

ने. : 'अच्छा' तो बड़ा अनिश्चित शब्द है। किस तरह का 'अच्छा' लगा? जैसे कविता पढ़ते हैं, वैसा; या और किसी तरह का।

श्रे. : आनन्द आया। बस।

ने. : क्या कभी घोड़े ने शरारत की?

श्रे. : एक-दो दफा गिरा भी; लेकिन चोट नहीं आयी।

ने. : कोई खास घोड़ा था आपके लिए?

श्रे. : हमारे यहाँ बैल भी थे, हाथी भी, और घोड़े भी। सवारी का घोड़ा कोई अलहदा नहीं था। ये सारे घोड़े गाड़ियों में जोते जाते थे। उनमें से कोई घोड़ा मैं सवारी के लिए ले लिया जाता था।

हाथी पर बहुत बैठा

ने. : घोड़े के नाम वगैरा कुछ थे ?

श्रे. : नाम तो थे, लेकिन याद नहीं आ रहे हैं।

ने. : हाथी पर भी बैठने का मौका आया ?

श्रे. : हाथी पर तो मैं बहुत बैठा हूँ।

ने. : आपसे हाथी पर या घोड़े पर बैठने का चुनाव करने का कहा जाए, तो अब आप हाथी पर बैठेंगे या घोड़े पर ?

श्रे. : घोड़े पर।

ने. : एक बात और। क्या साहू शान्ति प्रसादजी को भी घुड़सवारी का शौक था ?

श्रे. : शान्ति को घुड़सवारी का बहुत शौक था ?

ने. : आपसे अधिक ?

श्रे. : बहुत ! जब कभी हम साथ-साथ पहाड़ पर जाते थे—कश्मीर, शिमला। मैं घुड़सवारी करता था; लेकिन मुझे उसका व्यसन नहीं था; शान्ति प्रसाद को व्यसन था। वे कहते थे कि भाई साहब, बैठो घोड़े पर। शान्ति प्रसाद को उसके छोटा होने पर भी मैंने अपनी जवान से उसे कभी 'नो' (नहीं) नहीं कहा।

शान्ति प्रसाद : 'न' का रिश्ता नहीं था

ने. : क्या उन्होंने कभी 'नो' कहा ?

श्रे. : कभी नहीं।

ने. : एक-दूसरे के प्रति 'नो' का रिश्ता ही नहीं था।

श्रे. : मैंने एक जगह लिखा है, घोड़े की पीठ थकी नहीं, मेरी पीठ थक गयी; लेकिन शान्ति प्रसाद हमेशा तैयार रहते।

ने. : ऐसा कभी हुआ कि आप दोनों अलग-अलग घोड़ों पर अलग-अलग समय गये हों ?

श्रे. : जब वे होते थे, तो साथ···साथ ही जाते थे। जब वे अपनी जमींदारी में व्यस्त होते, तो अलग जाना पड़ता था। एक जगह रहने पर तो साथ ही जाते थे।

ने. : घोड़ा चतुर भी होता है; शायद आदमी से अधिक ?

श्रे. : आदमी से अधिक, यह तो मैं नहीं कह सकता; लेकिन वास्तव में अच्छा घोड़ा मालिक से प्रेम अवश्य रखता है, उसके प्रति लॉयल (वफादार) होता है। मालिक के दुःख में वह दुःखी होता है; आँसू बहाता है।

ने. : ऐसा मौका आपकी ज़िंदगी में आया क्या ?

श्रे. : नहीं; सुना है।

ने. : जब घोड़े ने आपको गिराया, तब नहीं लगा?

श्रे. : वह बस खड़ा हो गया; भागा नहीं। पीछे आदमी रहता ही था।

ने. : पिंगपाँग?

श्रे. : पिंगपाँग पर तो मेरा पूर्ण अधिकार रहा। मैं बुन्देलखण्ड डिवीजन का चेम्पियन था।

ने. : और क्रिकेट में?

श्रे. : खास नहीं।

प्रजातन्त्र : खेलों में जीवन्त

ने. : जो आदमी सोशियल (सामाजिक) हो जाता है, क्या उसके ऐसा होने में खेलों का कोई हाथ होता है? आप के जीवन को उदात्त बनाने में खेलों की क्या भूमिका है?

श्रे. : डेमोक्रेसी (प्रजातंत्र) जीवन्त कहीं है, तो वह खेलों में है; खेल के मैदान में है। ब्रिज को ही लीजिये।

ने. : ब्रिज आपको आता है?

श्रे. : ब्रिज मैं अच्छा समझता हूँ; खेलता भी हूँ।

ने. : शतरंज?

श्रे. : शतरंज सीखने की कोशिश की, लेकिन उसमें दक्ष नहीं हुआ।

ने. : ब्रिज तो आपका प्रिय खेल है?

श्रे. : यह एक ऐसा खेल है, जिसमें आदमी अपने प्रतिद्वन्द्वी को खोजता है। बगैर प्रतिद्वन्द्वी के खेल नहीं खेला जा सकता।

ने. : हराने में आनन्द आता है, या हारने में?

श्रे. : खेल यदि खेल है, तो हारने-जीतने दोनों में ही एक जैसा आनन्द आता है। हारने में यदि, आप एक अच्छे खिलाड़ी से हारते हैं, तो मन में थोड़ा सा क्षोभ तो होगा, लेकिन फिर भी नाखुश न होंगे।

दिनचर्या

ने. : अब आपकी दिनचर्या के विषय में प्रश्न करता हूँ; सबेरे कब उठ जाते हैं?

श्रे. : आजकल, या पहले?

ने. : आजकल।

श्रे. : साढ़े चार बजे।

ने. : साढ़े चार बजे आपकी नींद खुल जाती है।

पत्नी कहती है : 'घर में चाहे जो करो, लेकिन संसार में ठीक तरह चलो। सारी गन्दगी घर में ले आओ। मैं उसे साफ करने की शक्ति रखती हूँ। मेरे ऊपर चिल्लाओ, मेरे ऊपर क्रोध करो। अपना काम-क्रोध शान्त हो जाने दो। अपना पशुत्व मुझमें होम दो। मैं तुम्हारे पशुत्व को होमने की पवित्र वेदी हूँ। बाहर मनुष्य बन कर जाओ। पशुपति बन कर जाओ। शिव बन कर जाओ।'

—साने गुरुजी

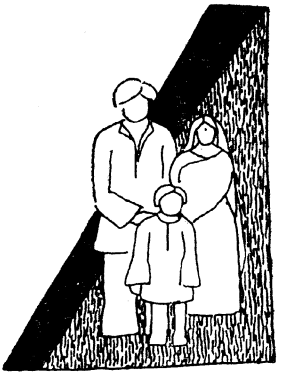

श्रे. : अलार्म देने की जरूरत नहीं; आपोआप खुल जाती है। वैसे अलार्म भी लगाता हूँ।

ने. : आप उठना चाहते हैं, या ऐसे ही उठ जाते हैं?

श्रे. : उठना भी चाहता हूँ। टहलने जाता हूँ।

ने. : टहलने से पहले कोई कार्य करते हैं?

श्रे. : बस, शौच जाता हूँ। वहाँ से निवृत्त होकर साढ़े चार बजे बाद टहलने जाता हूँ; साढ़े चार से साढ़े पाँच बजे तक। जब वर्षा होती है, नहीं जाता हूँ।

ने. : कोई आदमी साथ रहता है?

श्रे. : हाँ! रहता है; मोटर भी।

ने. : और लोग भी साथ रहते होंगे?

श्रे. : हाँ।

ने. : या मिल जाते होंगे, रास्ते में।

श्रे. : हाँ, घनश्यामदासजी बिड़ला जब जीवित थे और बम्बई में रहते थे, तब हमारा नियम था एक साथ, एक स्थान पर मिल जाना – दस-पाँच मिनट आगे-पीछे।

ने. : साढ़े पाँच बजे तक यह क्रम चलता होगा, फिर आप शिखरकुंज आ जाते होंगे?

श्रे. : हाँ, आ कर आधा घण्टा विश्राम करता हूँ।

ने. : विश्राम का क्या स्वरूप होता है?

श्रे. : सो जाता हूँ।

ने. : अच्छा; विश्राम यानी शयन (हँसी)। छह बज जाते हैं।

श्रे. : उठ कर थोड़ी 'एक्जरसाइज' करता हूँ।

ने. : व्यायाम कहें इसे या प्राणायाम ?

श्रे. : प्राणायाम। मुझे जो तकलीफ है और जो बताया गया है कि इससे उसमें फायदा होगा, वह करता हूँ।

ने. : कितनी देर चलता है ?

श्रे. : बीस मिनिट।

ने. : क़रीब-क़रीब साढ़े छह बजे तक हो जाता है ?

श्रे. : उसके बाद; मेरे पास मुनिश्री विद्यानन्दजी के कुछ प्रवचन हैं।

ने. : अच्छा; प्रवचनों की रिकॉर्डिंग सुनते हैं ?

श्रे. : सुनते हुए हज़ामत भी बना लेता हूँ।

ने. : दोनों काम साथ-साथ चलते हैं। उस समय आप अकेले होते होंगे ?

श्रे. : बिलकुल अकेला।

ने. : यह कब तक चलता है ?

श्रे. : कोई पौन घण्टा।

ने. : साढ़े सात बजे तक।

श्रे. : उसके बाद स्नान; और फिर मन्दिर।

ने. : स्नान आप ठण्डे पानी से करते हैं, या गरम से ?

श्रे. : पहले गरम से, फिर ठण्डे से।

ने. : एक साथ करते हैं ?

श्रे. : हाँ ; पहले गरम से नहाता हूँ, फिर ठण्डे से।

ने. : यह तो ऐसा हुआ कि पहले क्रोध करते हैं, फिर क्षमा।

श्रे. : मुझे ऐसा बताया गया है कि गरम पानी के बाद ठण्डे पानी से नहाने से ब्लड सरक्यूलेशन (रक्त-संचार) ठीक होता है, रहता है।

ने. : आपने किसी चिकित्सक की राय पर ऐसा किया होगा ? इससे आपको स्वास्थ्य-लाभ हुआ होगा ?

श्रे. : यह तो मुझे पता नहीं। मुझे अटपटा नहीं लगता। इससे मुझे किसी प्रकार की तकलीफ भी नहीं होती।

ने. : स्नान के बाद आपका क्या कार्यक्रम रहता है ?

श्रे. : कपड़े पहिनकर मन्दिर जाता हूँ; वहाँ पाँच मिनिट दर्शन करता हूँ।

ने. : मन्दिर कहाँ है ?

श्रे. : यहीं शिखरकुंज में; ऊपर।

ने.: मुझे आपने कभी बताया नहीं; वहाँ कितनी देर रुकते हैं।

श्रे.: पाँच मिनिट। 'णमोकार महामन्त्र' का जाप देता हूँ।

ने.: इसके बाद।

श्रे.: चाय, नाश्ता, अखबार।

ने.: नाश्ते में क्या प्रिय है?

श्रे.: ज्यादातर मैं पपीता लेता हूँ। एक और चीज भी; कॉफी पीता हूँ। फिर सो जाता हूँ। मुझे आदत यह है कि सुबह जितना व्यवसाय या संस्थाएँ मेरे पास हैं उन सबसे टेलीफोन करके पूछ लेता हूँ दिल्ली, मद्रास आदि।

ने.: प्रतिदिन?

श्रे.: हाँ, जानकारी के लिए।

ने.: औद्योगिक?

श्रे.: औद्योगिक हो, या सामाजिक। रोज नहीं; हफ्ते में दो-तीन बार पूछ लेता हूँ। क्या हो रहा है—क्या चल रहा है? सिर्फ़ जानकारी के लिए।

ने.: इसकी कुछ उपयोगिता है?

श्रे.: मन को संतोष होता है।

ने.: आपको ही संतोष होता है, या इसका और भी प्रभाव पड़ता है?

श्रे.: उन लोगों को लगता है कि कोई पूछने वाला है। सतर्क रहना चाहिये।

ने.: समाजसेवी को, या एक सतर्क परिजन को सावधान देखभाल करना ही चाहिये। यह आप नौ-दस बजे के बीच कर लेते हैं?

श्रे.: दस बजे तक।

ने.: उसके बाद क्या करते हैं?

श्रे.: साढ़े दस बजे, या पौने ग्यारह बजे ऑफिस जाता हूँ। काम हो, या न हो; पाँच-साढ़े पाँच बजे तक वहाँ बैठता ही हूँ।

ने.: नहीं होता है, तो क्या करते हैं?

श्रे.: पहले किताब पढ़ता था, अब आँखों के कारण किताब नहीं पढ़ सकता। कोई काम न हो, तो कुछ-न-कुछ काम निकाल लेता हूँ।

ने.: 'कुछ-न-कुछ' तो बड़ा अनिश्चित शब्द है; 'कुछ-न-कुछ' यानी क्या करते लगते हैं?

श्रे.: चिट्ठी लिखवाना शुरू कर देता हूँ (हँसी)।

ने.: चिट्ठी लिखवाना आपको अच्छा लगता है?

श्रे.: बहुत अच्छा।

ने. : मान लीजिए, कोई चिट्ठी ऐसी न हो, जिसका उत्तर देना ज़रूरी हो, तो भी चिट्ठी लिखवायेंगे ?

श्रे. : 'कोई-न-कोई' कार्य चल रहा है, उसकी जानकारी दो ।

ने. : यानी आप लोगों की आत्मीयता की रक्षा करते हैं ?

श्रे. : पाँच-सवा-पाँच बजे तक उठ जाता हूँ ।

ने. : बीच में आप 'लंच' (मध्याह्न-भोज) के लिए यहाँ (शिखरकुंज) आते हैं ?

श्रे. : 'लंच' के लिए नहीं आता हूँ । कभी किसी के साथ भोजन करना हो, तो आता हूँ । प्रायः मैं 'लंच' नहीं लेता ।

ने. : ग्यारह से पाँच बजे तक कुछ नहीं ?

श्रे. : कुछ नहीं । एक प्याला कॉफी पीता हूँ ।

वक्त पर काम

ने. : अच्छा; और 'समय की पाबन्दी' उसका क्या है ? मान लीजिये किसी ने कहा कि मैं तीन बजे आ रहा हूँ और आया वह सवा तीन बजे, तब आप क्या करते हैं ?

श्रे. : थोड़ी-सी आकुलता रहती है; क्यों नहीं आया ?

ने. : लोग समय की पाबन्दी रखते हैं ?

श्रे. : कुछ लोग रखते हैं ।

ने. : परसेंटेज (प्रतिशत) कैसा रहता है ? फिफ्टी-फिफ्टी (पचास-पचास) लोग हैं, जो समय का मूल्य जानते हैं ?

श्रे. : कुछ लोग तो समय का मूल्य जानते ही नहीं हैं ।

ने. : ऐसे लोग समाज के ज्यादा हैं, या उद्योग के ?

श्रे. : सबमें ।

ने. : ऐसे लोगों की संख्या बढ़ गयी है ?

श्रे. : बम्बई में तो बहुत पाबन्द हैं लोग ।

ने. : बम्बई से बाहर के लोग आते हैं, वे नहीं निभाते हैं। आप ऑफिस से कब उठते हैं ?

श्रे. : पाँच-सवा-पाँच बजे उठता हूँ। क़रीब घण्टे-भर के लिए क्लब; वहाँ छह बजे पहुँचता हूँ और पौने आठ बजे उठता हूँ।

ने. : क्लब में क्या करते हैं ?

श्रे. : ब्रिज खेलता हूँ (कांट्रेक्ट ब्रिज)।

ने. : यह तो आपको बहुत अच्छा लगता है।

श्रे. : यह एक क़िस्म का रिक्रिएशन (मनोरंजन) समझ लीजिये – डायवर्जन मान लीजिये।

ने. : घर कब पहुँचते हैं?

श्रे. : पौने आठ बजे घर; खाना, टी.वी. पर खबरें*। साढ़े आठ से पौने नौ तक वह सब हो जाता है।

ने. : फिर विश्राम करने जाते हैं? यह आपकी दिनचर्या है। इससे आप पूरी तरह संतुष्ट हैं, या कोई परिवर्तन चाहते हैं?

श्रे. : परिवर्तन कुछ नहीं। अभ्यस्त हो गया हूँ।

ने. : स्वाध्याय के लिए कोई गुंजाइश है?

श्रे. : स्वाध्याय जो भी है दफ्तर में होता है।

आस्था अविचल : संकल्प सुदृढ़

ने. : सामाजिक कार्यों में आपकी दृष्टि/पद्धति क्या है?

श्रे. : सामाजिक कार्य में मेरी एक दृष्टि/शैली विकसित हो गयी है। कोई कुछ कहे, विरोधी स्लोगन (नारा) लगाये, या विरोध की बात कहे; किन्तु मन में आपके जो जम गया है, आपकी जिसमें सुदृढ़ आस्था है, जिसे आप ठीक समझते हैं; बस, उसे करते जाइये।

ने. : जो भी आपकी अन्तरात्मा से निकल रहा है; उसे ही न?

श्रे. : अपना जो कार्य है, अपना जो कर्तव्य है, उसे निःसंकोच करते जाइये। ऐसा भी होता है कि जो अंतरंग मित्र हैं, वे समझते हैं कि मैं उनके काम में बाधा डाल रहा हूँ। मुझे इसका दुःख होता है कि यह चीज मेरे मन में नहीं है, फिर इनके मन में कैसे उत्पन्न हुई? मैं एक-दो मित्रों से कहता हूँ कि यह बात उनके मन में क्यों है, कैसे है?

ने. : समीक्षा करते हैं?

श्रे. : हाँ। फिर उनसे भी कहता हूँ, तुम क्यों ऐसा समझते हो? मेरे मन में तो ऐसा कुछ है नहीं। मेरे काम करने की एक शैली है। मेरा एक तरीक़ा है। बचपन से यह है; मैं उससे अभ्यस्त हो गया हूँ।

समस्याएँ : ऐसे सुलझतीं

ने. : क्या तरीका है?

श्रे. : यह कि जो भी प्रॉब्लेम (समस्या) आपके सामने आये, उसे किस तरह से सुलझाया जा सकता है, उसके सारे जोड़-तोड़ (उपाय) अपने सामने लाना।

---

* अब खबरों का समय 9-00 (रात) हो गया है।

ने. : पहलू जो, जितने हों उसके ?

श्रे. : पहलुओं के अलावा; किसके द्वारा वह सुलझायी जा सकती है? उसका समाधान कैसे हो? उसे सुलझाने में किस व्यक्ति का योगदान हो सकता है? सबसे पहले उससे संपर्क करना पत्र द्वारा। मेरा ऐसा कुछ है कि जिस दिन जो पत्र आये उस दिन उसका उत्तर जाना ही चाहिये। उत्तर नहीं जाता है, तो मन में कुछ छटपटाहट बनी रहती है। अगर किसी कारण उस दिन उत्तर न जा सके, तो अगले दिन तो जाना ही चाहिये।

ने. : ऐसा कभी हुआ कि दूसरे दिन के आगे किसी पत्र का उत्तर गया हो?

श्रे. : कभी हुआ हो; कारण, अधिक जानकारी हासिल करना हो, प्रवास पर होने पर; चाहे वह कोई सामाजिक पत्र हो, चाहे पॉलिटिकल (राजनैतिक), या व्यावसायिक, मेरी इच्छा रहती है कि उसका जवाब जल्द-से-जल्द दूँ। कभी-कभी इस जल्दबाजी की वजह से कुछ कमियाँ, या त्रुटियाँ रह जाती हैं; लेकिन ऐसा कम ही होता है। कभी-कभार ऐसा भी होता है कि मुझे इस प्रकार नहीं लिखना चाहिये था; अगर मैं दो-तीन दिन बाद लिखता, तो शायद वह उस तरीक़े से नहीं होता।

ने. : गरम ख़त का गरम जवाब दे देते हैं; किन्तु ठण्डे का नहीं दे पाते।

श्रे. : गरम जवाब नहीं देता, क्योंकि गरम जवाब देने की मुझे आदत ही नहीं है।

ने. : एकदम ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि आप ठण्डे आदमी हैं।

श्रे. : यह ठीक है।

ने. : आप तो समशीतोष्ण हैं।

श्रे. : गरम जवाब का मतलब यही है कि जो बात मुझे लिखनी नहीं चाहिये थी, वह लिखी गयी। उसमें थोड़ी जल्दबाजी रही है।

ने. : अपनी कार्य-पद्धति पर और प्रकाश डालिये।

श्रे. : यही कि एक तो समस्या के सारे स्रोत जान लूँ; दूसरे उसके हर पहलू का अता-पता कर लूँ। सारे स्टेटमेण्ट्स मेरे सामने आने ही चाहिये। जिस काम की जिस पर जिम्मेदारी है, उसी से सारी पूछताछ हमें करनी चाहिये। यह मैं सबसे बराबर कहता हूँ। कुछ मानते हैं, कुछ नहीं मानते। तीसरा यह कि पत्रोत्तर के बाद मैं अपेक्षा रखता हूँ कि प्रत्युत्तर दस दिन के भीतर आ जाए। इसे नोट कर लेता हूँ। यदि उत्तर दस-पन्द्रह दिनों में नहीं आता है, तो स्मरण-पत्र भेजता हूँ।

ने. : इस तरह समस्याएँ समाधान की ओर चली जाती हैं।

श्रे. : इससे मुझे संतोष मिलता है। समस्या का समाधान तो बहुत सारे कारणों पर निर्भर करता है।

आज सब से ज्यादा ध्यान बच्चों पर देने की ज़रूरत है। हम लोगों की ज़िन्दगी का प्याला क़रीब-क़रीब खाली हो चुका है पर अपने बच्चों के लिए हमने कुछ भी विरासत नहीं छोड़ी, उन्हें दयनीय ज़िन्दगी के लिए मजबूर कर दिया। ... इसलिए हम लोग अपने बच्चों को याद दिलायें कि मनुष्य हम लोगों की तरह हमेशा कमज़ोर और बदमाश नहीं रहा है, हम याद दिलायें कि हर राष्ट्र में महान् व्यक्ति हुए हैं और हैं। आज की बर्बरता और नृशंसता में यह काम और भी ज़रूरी हो गया है।

—मैक्सिम गोर्की

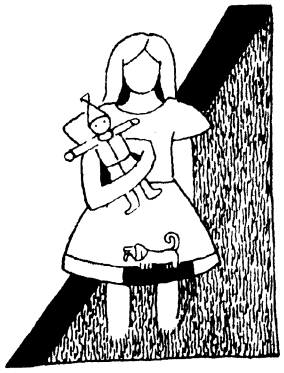

ने. : १९३० के पूर्व तो कुछ और ही परिवेश रहा होगा; **समस्याएँ कम** रहीं, या ज्यादा?

श्रे. : समस्याएँ कम थीं, क्योंकि यातायात के साधन कम थे। टेलीफोन नहीं थे; तार बहुत कम लोग देते थे। अब समस्याएँ बढ़ गयी हैं – जनसंख्या-वृद्धि, जानकारी की वृद्धि, यातायात की वृद्धि आदि के कारण।

सामाजिक समस्याएँ

ने. : अभी कौन-सी ऐसी प्रमुख सामाजिक समस्याएँ हैं, जिन पर बिचार करना ज़रूरी है?

श्रे. : मैं अपना जवाब जैन समाज तक ही सीमित रखूँगा।

ने. : आप, यदि चाहें तो भारतीय समाज को भी इस परिधि में ले सकते हैं।

श्रे. : हम पहले जैन समाज पर विचार करेंगे। सब में पहले ज़रूरी है कि जैनधर्म को विदेशों में दूसरे धर्मों के समान्तर प्रकाश में लाया जाए।

ने. : क्या अभी कोई ऐसा प्रयत्न नहीं हो रहा है?

श्रे. : जिस तरह मैं सोचता हूँ, नहीं हो रहा है। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि जैनधर्म में अन्य धर्मावलम्बियों को देने के लिए बहुत कुछ है।

ने. : दूसरी चिन्ता क्या है?

श्रे. : हमारा कोई संगठन नहीं है। धन का अपव्यय बहुत है।

रुपया : दिशा ग़लत

ने. : रुपया तो है; लेकिन उसका अपव्यय बहुत है।

श्रे. : 'डायरेक्शन' (दिशा) ठीक नहीं है।

ने. : आपके कहने का आशय यह है कि रुपया ग़लत दिशा में जा रहा है?

श्रे. : यदि रुपया इकट्ठा होता है, तो उसका कोई उपयोग नहीं है। वह व्यक्तिगत रुचि के लिए ही खर्च होगा।

ने. : अपव्यय का मतलब यही हुआ कि वह 'स्वार्थ' पर खर्च हो जाता है; समाज पर खर्च नहीं होता। इसे समाज पर ही खर्चना चाहिये।

श्रे. : इसे सामाजिक गतिविधियों पर ही खर्चना चाहिये।

ने. : यह तो उसका शुभ या सद्व्यय हुआ। यदि वह व्यक्तिगत स्वार्थ में गया, तो यह उसका अपव्यय ही कहलायेगा।

श्रे. : भगवान् महावीर के २५००वें निर्वाण-महोत्सव पर जो व्यय हुआ है, उसे मैं अपव्यय नहीं मानता। उससे तो समाज बहुत-कुछ आगे आया है। उसके पीछे एक स्पष्ट प्रयोजन था। दूसरे लोगों को जैन समाज/जैनधर्म के विषय में जानकारी मिली। इस समय हमने देशवासियों के साथ कन्धे-से-कन्धा मिला कर काम किया। उसकी सफलता का श्रेय एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी को बहुत है। उनका बहुत बड़ा हाथ है।

ने. : मतलब यह कि जो भी व्यय हो, उसके पीछे कोई प्रयोजन अवश्य हो।

श्रे. : होना ही चाहिये।

ने. : आपकी चिन्ता यह है कि जो धन इकट्ठा होता है, उसका अपव्यय बहुत होता है।

श्रे. : इसे चिन्ता कहिये, या समस्या; किन्तु है यह विचारणीय।

ने. : समस्या ही कहिये – एक जटिल सामाजिक समस्या।

श्रे. : ऐसी समस्याओं के लिए व्यापक संगोष्ठियाँ होनीं चाहिये।

ने. : ऐसी ही, जैसी एक वर्ष पूर्व बोरीवली (बम्बई) में हुई थी, सितम्बर, १९८३ में – जैन विद्वत् संगोष्ठी?

विचार : फॉलो-अप

श्रे. : मैं मानता हूँ कि वह संगोष्ठी बहुत सफल हुई थी। बहुत-से विचार आये थे; लेकिन उसका 'फॉलो-अप' नहीं हुआ। उसमें प्रस्तुत विचारों से नव जैन साहित्य का सृजन होना था, वह नहीं हुआ। यह समस्या आज भी बनी हुई है। नये संदर्भों में नया जैन साहित्य तो आना ही चाहिये।

ने. : कुछ दूरगामी प्रभाव होते हैं ऐसी प्रवृत्तियों के; वे एकदम सामने नहीं आते।

श्रे. : लेकिन कुछ प्रभाव तो दिखायी देना चाहिये।

ने. : तीसरी समस्या, इस संबन्ध में आप क्या सोचते हैं?

रोज़गार दें

श्रे. : वह सामाजिक है—देश की समस्या। यह केवल जैनों की नहीं, पूरे राष्ट्र की समस्या है; जैसे—बेरोज़गारी, यह संपूर्ण भारतीय समाज की ज्वलन्त समस्या है; जैनों की अपेक्षया कम है।

ने. : भारतीय समाज से इसका सीधा संबन्ध है।

श्रे. : यह एक अखिल भारतीय समस्या है। अगर उसमें ग़रीब हैं, तो जैन समाज में भी हैं।

ने. : अनुपात का फर्क है।

श्रे. : वह रहेगा। अनुपात में हमारी संख्या भी कम है, बनिस्बत दूसरों के।

पुरातात्त्विक अवशेष

ने. : तीर्थक्षेत्रों की समस्या है, शिक्षा की समस्या है; कई समस्याएँ हैं।

श्रे. : तीर्थों की समस्याएँ हैं, पुरातत्त्व की भी समस्या है।

ने. : पुरातत्त्व की क्या है?

श्रे. : हमारे जो पुरातात्त्विक अवशेष हैं, उनका इतिहास लिखा जाए। संग्रहालय बनाये जाएँ। जो मूर्तियाँ इधर-उधर बिखरी पड़ी हैं, उन्हें उठा कर एक जगह रखा जाए। जिन मूर्तियों की चोरी होती है, बरामद होने पर वे कोर्ट में पड़ी रहती हैं। हमें कोशिश यह करनी चाहिये कि हम भी उसमें एक पक्ष (पार्टी) बनें और तदनुसार हमें या तो वे मूर्तियाँ मिल जाएँ, या इस बीच उन्हें ऐसी जगह सुरक्षित रखा जाए कि न तो उनका कोई नुकसान हो और न ही अविनय।

साहित्य-प्रकाशन

ने. : जहाँ तक प्रकाशन का क्षेत्र है, भारतीय ज्ञानपीठ है। टाइम्स ऑफ इण्डिया द्वारा 'पेनॉमी ऑफ जैन आर्ट' प्रकाशित हुआ है; मैं सोचता हूँ वह एक स्तुत्य प्रयत्न है।

श्रे. : हाँ, वह एक अच्छा क़दम है। शायद आपको मालूम हुआ होगा कि भारतीय ज्ञानपीठ ने दो-तीन प्रायोजनाएँ (प्रोजेक्ट्स) ले ली हैं; संस्था के निदेशक श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन के मार्गदर्शन में वे आकार ले रही हैं।

ने. : क्या आपने उन्हें कोई समयावधि दी है कि उक्त प्रायोजन इतने समय में पूरी हो जाना चाहिये?

श्रे. : मैंने कहा है कि साल-भर में कोई ठोस रूप सामने अवश्य आ जाना चाहिये।

ने. : क्या पुरातत्त्व पर भी ऐसा कोई प्रोजेक्ट हाथ में है?

श्रे. : अभी कोई पुरातत्त्ववेत्ता हमारी पकड़ में नहीं है। प्रयत्नशील हूँ।

शिक्षा : असंदिग्ध नीति

ने. : शिक्षा के सम्बन्ध में आपकी क्या योजना है ?

श्रे. : मैं चाहता हूँ, इस सिलसिले में एक आयोग नियुक्त हो जो समाज की आकांक्षाओं और आवश्यकताओं को भलीभाँति जाने और फिर एक व्यापक योजना तैयार करे।

ने. : क्या स्वरूप होगा उसका ?

श्रे. : उसमें शिक्षाविद् हों, आधुनिक विद्वान् हों । आचार्य श्री विद्यासागरजी के सान्निध्य में आगम-वाचन की जो पद्धति चली थी, वह बहुत सुन्दर है। सामूहिक आगम-वाचन की। वह भी धार्मिक शिक्षा का एक सुविकसित रूप है ।

ने. : आयोग (कमीशन) की चर्चा तो आपने एक साल पहले भी की थी; कुछ हुआ तो नहीं। नियुक्त करने वाली एजेंसी कौन हो ?

श्रे. : आप ही बतायें कि जैन शिक्षा-आयोग में किन विद्वानों को सम्मिलित किया जाए ?

ने. : यह भला आपसे अधिक कौन जानता होगा ?

श्रे. : मैं तो इसमें विफल (फैल) हो गया।

ने. : यह तो बहुत दुर्भाग्यपूर्ण खबर है कि आप फैल (विफल) हो गये; फिर उत्तीर्ण कौन होगा ?

श्रे. : मैंने दो-तीन विद्वानों को लिखा था, किन्तु किसी के पास भी समय नहीं है। यह तो नहीं कहूँगा कि किसी की दिलचस्पी नहीं है; लेकिन समयाभाव के कारण वे उसमें तुरन्त नहीं आना चाहते।

ने. : आयोग के गठन की शुरूआत तो कहीं-न-कहीं करनी ही होगी। यह तो बताइये कि उसका लक्ष्य क्या होगा ?

श्रे. : एक असंदिग्ध शिक्षा-नीति का निर्धारण।

ने. : एक ऐसा आयोग हो, जिसमें कुछ विद्वान् हों, कुछ पण्डित हों, कुछ कार्यकर्ता हों ?

श्रे. : केवल विद्वान् हों।

ने. : कितने ?

श्रे. : पाँच-सात। बहुत बड़ा यदि हुआ, तो आपस में बहस होगी ।

ने. : सात विद्वानों का एक आयोग बनाया जाए।

श्रे. : ये विद्वान् हमारी समस्त पाठशालाओं और विद्यालयों को देखें । ऐसे आयोग (कमीशन) की जैन समाज को अविलम्ब जरूरत है।

कोई अन्तर नहीं

ने. : भारत सरकार तो इस तरह के आयोग बिठा चुकी है।

श्रे. : पर हुआ क्या? हमारी शिक्षा-पद्धति अंग्रेजों के ज़माने में जैसी चल रही थी, अब भी चल रही है। उसमें सुधार क्या हुआ?

ने. : कोई अन्तर नहीं आया?

श्रे. : मेरे हिसाब से तो कोई अन्तर नहीं आया। हम पहले से ज्यादा अंग्रेज हो गये हैं। अंग्रेजी ज्यादा बोलने लगे हैं। अपने विचार अंग्रेजी में प्रस्तुत करते हैं। हम भारतवासी हैं, हमें अपनी राष्ट्रभाषा का गौरव होना चाहिये। राष्ट्रभाषा का कहीं कोई स्थान नहीं है। आज जो लड़का अपनी मातृभाषा में पढ़ कर बाहर आता है, उसकी कोई 'मार्केट वेल्यू' नहीं है। उसे कोई नौकरी पर रखने को तैयार नहीं है।

ने. : 'मार्केट वेल्यू' के अनुसार ही उसे आचरण करना होता है।

श्रे. : सबमें पहले आदमी के लिए उसकी आजीविका है; सारी चीजें उसके बाद हैं। अगर आप अपनी भाषा द्वारा उसके भरण-पोषण का इन्तज़ाम नहीं कर सकते, तो वह शिक्षा ही नहीं है।

ने. : यहाँ प्रश्न उठता है कि जैनधर्म के अध्ययन-अध्यापन की कोई मार्केट वेल्यू (बाजार मूल्य) हो?

श्रे. : इसकी मार्केट वेल्यू अब ख़त्म हो गयी है।

ने. : पहले थी क्या?

पण्डित : रिवाइवल का प्रश्न

श्रे. : थी। पहले पण्डित का लड़का पण्डित होता था। उस समय के हिसाब से कम-से-कम रुपया ठीक मिलता था। सम्मान-सत्कार मिलता था, जिससे 'कॉम्पेन-सेट' (क्षतिपूर्ति) हो जाता था। आज तो सम्मान-सत्कार भी नहीं है।

ने. : यह भी चिन्ता का विषय है कि आज पण्डित का उतना सम्मान नहीं है।

श्रे. : आज उतना सम्मान नहीं है, जितना पहले कभी था। हमारे दादाजी कहा करते थे, पण्डितजी आये हैं, बेटा! इनके पैर पड़ो। इनके लिए खाना खुद परोस कर लाओ। आज यह बात नहीं है। अब कोई किसी के पैर नहीं पड़ता। नौकर, या ब्राह्मण खाना परोसता है। जो सम्मान-सत्कार की भावना थी, वह लुप्त हो गयी है।

ने. : क्या इसका रिवाइवल (पुनरुत्थान) संभव है?

श्रे. : मेरे खयाल से संभव नहीं है। आज आर्थिक स्थिति ऐसी विषम हो गयी है कि पण्डित का लड़का पण्डित नहीं बनता।

ने. : दो बातें हैं, न पण्डित का लड़का पण्डित बनता है और न पण्डित मुनि बनता है। कोई पण्डित मुनि बना हो, ऐसा मैंने आज तक देखा/सुना नहीं। मुनि होने के बाद वह पण्डित हो गया हो, यह बात अलग है।

श्रे. : मुनि होने के बाद यदि कोई व्यक्ति विद्वान् होता है, तो हमारे लिए वह बहुत बड़े भाग्य की बात है। इससे शिथिलाचार कम होगा और हम नये संदर्भों में अपनी बुनियाद से हटे बगैर एक उपयुक्त आचार-संहिता को जन्म दे सकेंगे।

ने. : हाँ, ज्ञान से जुड़ने पर इतना तो होगा ही। आज भी कई मुनिजन आदर्श रूप हमारे सामने हैं।

श्रे. : आचार्य विद्यासागरजी हैं, एलाचार्य मुनि विद्यानन्दजी, मुनि समन्त-भद्रजी, आचार्य देशभूषणजी, आचार्य धर्मसागरजी, आचार्य विमलसागरजी आदि। विद्वत्ता कम हो और चारित्र्य अधिक प्रामाणिक, और शास्त्रानुरूप हो तो भी वह स्तुत्य है।

ने. : पण्डित-का-पुत्र-पण्डित-नहीं-होता, इसका कोई समाधान है?

श्रे. : संभव है कमीशन कोई रचनात्मक सुझाव रखे। हमें एक व्यापक सर्वेक्षण द्वारा संभावनाओं और कठिनाइयों का पता अवश्य लगाना चाहिये।

समाज और सम्प्रदाय

ने. : यदि हम 'समाज' को परिभाषित करना चाहें कि समाज क्या है, तो आप···?

श्रे. : 'समाज' और 'सम्प्रदाय' में फर्क है।

ने. : सो तो है।

श्रे. : जहाँ तक जैनों का सवाल है, वह सम्प्रदायों में विभक्त है, बजाय 'सामाजिक समूहों' के।

ने. : यानी आज 'सामाजिकता' कम है, 'साम्प्रदायिकता' ज्यादा है?

श्रे. : जब हम सम्प्रदाय की बात करते हैं, तब वहाँ से धर्म गायब हो जाता है; धर्म ठहरता ही नहीं। तब उसके औपचारिक ढाँचे में केवल अधिकार और सत्ता रह जाते हैं।

ने. : अधिकार/पद महत्त्व के हो जाते हैं, जब हम सम्प्रदाय की चर्चा करते हैं तब। इस समय हम साम्प्रदायिक अधिक, सामाजिक कम हैं, यही न?

श्रे. : हाँ, अभी हमारा समाज कितनी ही जातियों-उपजातियों (फिरकों) में बँटा हुआ है, कोई अग्रवाल है, कोई खण्डेलवाल है, कोई गोलालारे है; इसीलिए आज जब हम समाज की बात करते हैं तब हमारा दिमाग़ फौरन इन जातियों-उपजातियों की ओर मुड़ जाता है; हम बौने हो जाते हैं।

जातियाँ रहेंगी

ने. : आप क्या चाहते हैं, ये जातियाँ-उपजातियाँ रहें या न रहें? एक बात है, यदि ये जातियाँ-उपजातियाँ बहुत अधिक हो जाएँगी, तो झाड़ियाँ खड़ी हो जाएँगी। अगर उने आस-पास से कतर देते हैं, तो वे उद्यान का रूप लेती हैं; आप क्या चाहते हैं, ये जितनी हैं, उतनी रहें या इनमें से कुछ कम हो जाएँ?

"...ऐसा वृद्ध, जो जीवन के सुख-दुःख से परिचित है और जीवन के लक्ष्यों को जिसने पूरा कर लिया है, उसके लिए मृत्यु का भय एक हास्यास्पद बात है। इस भय का कारण उसका विकृत अहम् है, उसका स्वार्थ है। सड़ी-गली, जीर्ण-असमर्थ देह से चिपके रहना कोई अक्लमंदी है? आपका अहम् आपको दुर्बल बनाता है। इस भय पर विजय पाने का कम-से-कम मेरे विचार से सर्वोत्तम उपाय यह है कि आप अपनी रुचियों का क्षेत्र विस्तृत करें और अधिक अनासक्त रूप में काम करने की आदत डालें।

—बर्ट्रेंड रसेल

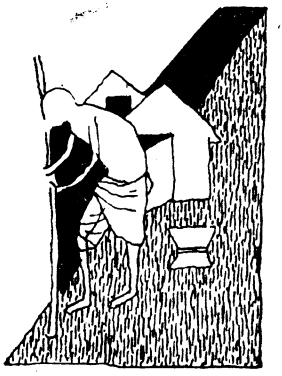

श्रे. : जातियाँ तो रहेंगी, हम चाहें, या न चाहें।

ने. : व्यवस्थित उन्हें कुछ किया जा सकता है?

श्रे. : हाँ; उनमें जैनधर्म के प्रति जो आस्था है, उसे सुरक्षित रखते हुए हमारी जो समस्याएँ हैं, उनके प्रति उन्हें मोड़ा जा सकता है। आज भी समाज के एक होते हुए भी जातियों-उपजातियों में शादी-ब्याह नहीं होते; 'ख' 'अ' या 'ग' में नहीं। हमें इस प्रवृत्ति को एक उचित दिशा देना होगा।

ने. : जापान में छोटे-छोटे भू-खण्डों पर इन्टेन्सिव कल्टीवेशन (सघन खेती) करने की परम्परा है, तो क्या ये छोटे-छोटे वर्ग छोटे होने के बाद भी इन्टेसिव (सघन) काम नहीं कर सकते? शायद अधिक बेहतर काम कर सकते हैं। मेरा खयाल है, जो लोग बँटे हुए नहीं हैं, वे अपनी उपयोगिता को जानें और अधिक गहरा काम करें।

श्रे. : इन सबको पहले एक सूत्र में बँधना होगा। अभी तो बेहिसाब बिखराव है; काम कठिन तो है; किन्तु असम्भव नहीं है।

ने. : कठिन है, इसीलिए पूछा जा रहा है। आप अनुभवी हैं। क्या जातियाँ-उपजातियाँ बनी रहने पर भी किसी रचनात्मक सामाजिकता का उद्भव संभव है?

श्रे. : जातियों-उपजातियों का संगठन न करके किसी एक झण्डे के नीचे भी यदि हम आते हैं, तो वह हमारी जीवन्तता/ज़िंदादिली का एक अच्छा संकेत होगा।

(**ने.** : कम-से-कम हम दो झंडों के नीचे संगठित हो जाएं—पहले दिगम्बर, श्वेताम्बर, फिर सोचें समन्वय की बात। न्यूनतम (मिनिमम) इतना तो हमें कर ही लेना चाहिये।)

ने. : अब प्रश्न सेवा का उठता है। सेवा का स्वरूप क्या हो? सेवा आप किसे कहें? सेवा, यानी क्या?

श्रे. : सेवाएँ बहुमुखी हो सकती हैं।

सेवा : कसौटियाँ

ने. : सेवा कहेंगे किसे ?

श्रे. : सेवा का लक्ष्य हो : समाज-कल्याण। देखें आप कि आपके द्वारा जो भी हो रहा है, क्या उससे समाज ऊपर उठ रहा है; उसमें कोई कल्याणकारी परिवर्तन आ रहा है ? यदि हाँ, तो आप इसे 'सेवा' कहें।

ने. : यह एक कसौटी हुई सेवा की ?

श्रे. : हाँ।

ने. : समाज के लिए जो कल्याणकारी है, वह सेवा है।

श्रे. : समाज के लिए क्या कल्याणकारी है, इसमें किंचित् मतभेद हो सकता है।

ने. : समाज के निमित्त जो सेवा हम करते हैं, उसके साथ कोई-न-कोई स्वार्थ अवश्य जुड़ा होता है। क्या ऐसा हो सकता है कि स्वार्थ न हो, मात्र सेवा हो ?

श्रे. : स्वार्थ तो रहेगा, ऐसा मेरा मानना है।

ने. : ऐसा क्यों ?

लोकेषणा : कम-से-कम

श्रे. : मानव की अपनी प्रकृति है; लेकिन 'सेवा' में वह कम-से-कम हो, न्यूनतम, यह ज़रूरी है।

ने. : इसे कम कैसे किया जा सकता है ?

श्रे. : 'लोकेषणा' को आप कम नहीं कर सकते। आज यह सबमें बड़ा स्वार्थ है। उसे आप बिल्कुल कम कर दें, तो शायद सेवा हो ही न; लेकिन अन्य बहुतेरे स्वार्थ हैं (आर्थिक आदि), जिन्हें कम किया जा सकता है।

ने. : आपका मानना है कि लोकेषणा बनी रहेगी ?

सेवा : शक्लें कितनीं ?

श्रे. : उसका परिमाण कम कर सकते हैं; किन्तु अगर वह नहीं रहेगी, तो शायद सेवा ही नहीं रहेगी। उसका अस्तित्व खतरे में पड़ जाएगा।

ने. : आपने कहा है कि सेवा बहुमुखी हो सकती है; वह किस प्रकार ?

श्रे. : वात्सल्य, करुणा, दया – ये सब सेवा की ही शक्लें हैं।

ने. : ये तो मनुष्य के व्यक्तिगत गुण हैं।

श्रे. : व्यक्तिगत गुणों में से ही उत्कृष्ट सेवा उत्पन्न होती है। यदि करुणा न हो, तो क्यों वह किसी अनाथ की सेवा करने दौड़ेगा ? सेवा के लिए मन में एक तरह की धड़कन बननी चाहिये।

ने. : उसका होना ज़रूरी है। सेवा के लिए भीतर-भीतर के स्रोत अवश्य उमड़ने चाहिये।

श्रे. : वात्सल्य, सामाजिक वात्सल्य, भी ऐसा ही एक झरना है।

ने. : आपके मन में ऐसा होता होगा। जब कभी आप समाज-सेवा के लिए निकलते होंगे, तो एक तरह की समाज-वत्सलता का अनुभव आप करते होंगे?

श्रे. : यह सब परिस्थिति पर निर्भर करता है। स्थिति क्या है? किसी क्षण करुणा हो सकती है, किसी क्षण नहीं भी। कई बार समाज के लिए दृढ़ता उपयोगी होती है, फिर वहाँ करुणा का प्रश्न शायद नहीं उठता; हाँ, पृष्ठभूमि पर उसका नियन्त्रण हो सकता है।

ने. : 'समाज-सेवा' के कितने प्रकार हो सकते हैं?

श्रे. : शिक्षा का क्षेत्र है, धर्म का क्षेत्र है।

ने. : तीर्थों का क्षेत्र, विकलांगों का क्षेत्र।

श्रे. : समाज-सेवा दो प्रकार की हो सकती है — धर्म-सम्बन्धी, समाज-सम्बन्धी। समस्त सेवाओं को हम इन दो भागों में रख सकते हैं।

धर्म और सेवा

ने. : धर्म-से-सम्बन्धित सेवा का क्या स्वरूप होगा?

श्रे. : जैसे – चरित्र का ऊँचा उठाना, स्वाध्याय की ओर प्रवृत्त करना, धार्मिक ग्रन्थों को प्रकाशित करना, संगठित होना, धर्म के मूल सिद्धान्तों पर आँच आने पर उनका रचनात्मक प्रतिकार करना, वात्सल्य को फैलाना/प्रगाढ़ बनाना आदि।

ने. : अनुसन्धान, जिनपूजा, मुनि-भक्ति आदि भी इसी के आयाम होंगे?

श्रे. : ये सब हैं। मैं मुनि-भक्त हूँ, लेकिन सारे ढाँचे में थोड़ा सुधार चाहता हूँ।

ने. : मुनि-भक्त किसे कहेंगे? जो मुनियों के प्रति भक्ति रखता हो उसे न?

श्रे. : मेरे हिसाब से जो अप्रमत्त (शिथिलाचारी नहीं) शास्त्रोक्त मुनियों के प्रति भक्ति-भाव रखता है, वह 'मुनि-भक्त' है।

ने. : यानी आप अन्धभक्ति नहीं चाहते, परीक्षा-प्रधान भक्ति चाहते हैं?

श्रे. : हाँ।

ने. : आप चाहते हैं, वह मुनि-भक्ति तो हो, लेकिन अन्धी न हो?

श्रे. : अन्धभक्ति के होने से ऐसे मुनियों को जो मुनि होने योग्य नहीं हैं, भी प्रश्रय/प्रोत्साहन मिल जाता है। समाज के लिए यह हितकर नहीं है।

ने. : मुनि बनने योग्य कौन है?

श्रे. : मुनि वह बने जिसे शास्त्र का सम्यक् ज्ञान हो; और तदनुसार असंदिग्ध आचरण की तैयारी हो?

मुनि : कसौटियाँ

ने. : अर्थात् शास्त्रोक्त ज्ञान और तदनुसार चारित्र्य, यह है आपकी कसौटी?

श्रे. : जब तक ज्ञान और चारित्र्य का उपयुक्त संगम नहीं होगा, तब तक कोई उत्कृष्ट मुनि कहलाये, यह संभव नहीं है। जो भी आगमोक्त मूलाचार है, उसका परिपालन होना चाहिये। यह विद्वानों और मुनियों के लिए समझने की बात है कि आज की परिस्थिति में किन/कैसे परिवर्तनों की आवश्यकता है?

ने. : आप सोचते हैं – बदलाव हो या नहीं?

श्रे. : हो; गहन अध्ययन के बाद।

ने. : आज संदर्भ काफी बदल गये हैं।

श्रे. : जिस युग में हम रह रहे हैं, उसे ध्यान में रख कर कुछ हेर-फेर की आवश्यकता है।

ने. : आपने कह तो दिया कि परिवर्तन की आवश्यकता है; किन्तु उसकी स्पष्ट प्रक्रिया क्या होगी?

श्रे. : श्रावक उसे नहीं कर सकेंगे।

बहस-में-बिखराव

ने. : श्रावक कर भले न पायें, लेकिन उसे ले कर विचार-विमर्श तो कर ही सकते हैं।

श्रे. : बहस से बिखराव आ सकता है। अगर सार्वजनिक कुछ करेंगे, तो समाज में तीखे मतभेद उभर सकते हैं; क्योंकि मुनियों/त्यागियों का समाज पर भारी प्रभाव है। कुछ लोग ऐसे हैं, जो अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए यह कह कर कि देखो, ये तो मुनियों/साधु-भगवन्तों के आचरण के खिलाफ बातें कर रहे हैं, समाज में भ्रम और फूट डाल सकते हैं, जिससे संगठन की जगह असंगति का ज़हर फैल सकता है।

ने. : आप चाहते हैं कि इसकी पहल मुनिवर्ग करे?

श्रे. : हाँ।

ने. : श्रावकीय पहल बिखराव पैदा करेगी!

श्रे. : संभव है, अतः यदि विवेक से काम लेंगे, तो फल अचूक और ठोस होगा।

ने. : लेकिन प्रतीक्षा कब तक?

श्रे. : कभी-कभी मन में विचार आता है कि ऐसा कहने से मैं समाज के संगठन का काम करूँगा, या उस के विघटन का।

ने. : इसका मतलब यह हुआ कि हमारा आज का नेतृत्व आशंकित और भयभीत है; आप तो हमारे नेता हैं?

चलना होगा सतर्क

श्रे. : नेतृत्व के सामने कोई उद्देश्य होना चाहिये। यदि वह अपने प्रमुख लक्ष्य को नज़रअंदाज़ कर देगा, तो भयभीत न होते हुए भी समाज में वह बिखराव लायेगा; इसलिए यदि समाज को अधिकाधिक साथ में रखने के इस आचरण को आप भयभीत होना कहते हैं, तो कहिये। हर हालत में सतर्क तो चलना होगा।

ने. : 'सतर्क' काफी अच्छा शब्द है।

श्रे. : सतर्क (युक्तियुक्त और बाखबर) रहने की आवश्यकता है।

ने. : नेता को आप किस तरह 'सतर्क' रखना चाहते हैं? उसे क्या सावधानी बरतनी चाहिये? सामाजिक नेतृत्व करने वाला खुल कर अपनी बात नहीं कह सकता। किसी-न-किसी कौशल से, व्यवहार-कुशलता से उसे काम लेना होता है। परिस्थिति में असमंजस पैदा होने पर उसमें से वह अपना रास्ता कैसे निकाले?

श्रे. : परिस्थिति?

ने. : हाँ, ऐसी कि एक समर्थन कर रहा है, दूसरा विरोध; तब वह क्या करे?

श्रे. : किस चीज का? सवाल तो विषय का आयेगा न?

ने. : सो तो है ही; जैसे, तीर्थक्षेत्रों में होने वाले झगड़े। उलझन यह है कि कुछ लोगों की इस तरह के झगड़ों में गहरी दिलचस्पी है।

श्रे. : तीर्थक्षेत्र के झगड़े तो दिगम्बर और श्वेताम्बर के बीच के हैं। जहाँ तक दिगम्बरों का प्रश्न है, सभी लोग चाहते हैं कि अपने जो अधिकार हैं, उन्हें सुरक्षित रखा जाए।

चाहिये : सोद्देश्य नेतृत्व

ने. : आपने कहा था कि नेता के सामने उद्देश्य होना चाहिये; उद्देश्य किस तरह का?

श्रे. : जैसे, मैं दिगम्बर जैन महासमिति तथा अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी का अध्यक्ष हूँ। तीर्थों से संबन्धित मुक़दमों की अच्छी तरह से देखरेख हो, जीर्णोद्धार हो, पुरातत्त्व-संरक्षण को प्रोत्साहन मिले, अनुदान देने की स्पष्ट पद्धति हो, इत्यादि; यानी संबन्धित संस्था के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जो भी आवश्यक हो, वह किया जाना चाहिये।

ने. : क्या ऐसा भी हुआ है कि कोई नेता निरुद्देश्य काम करने लगा हो? नेता निरुद्देश्य कैसे हो सकता है?

श्रे. : अध्यक्ष बने हैं, या बनाये गये हैं। बस, उन्हें सेक्रेटरी (मन्त्री) ने जो कह दिया, वह कर दिया; नहीं तो चुप बैठे हैं। इस तरह की उदासीनता है, कोई उत्साह नहीं है। स्थिति-पालन, या उदासीनता भी 'निरुद्देश्यता' की श्रेणी में आते हैं।

ने. : क्या ऐसा उदासीन नेतृत्व इस समाज का है? मैं नाम नहीं चाहूँगा। प्रसंगवश पूछ रहा हूँ। ऐसा उदासीन नेतृत्व कभी था, या आज है?

श्रे. : कौन है, यह तो मैं नहीं कहता।

ने. : कुल मिला कर ऐसा नेतृत्व है, किन्तु?

श्रे. : है।

ने. : क्या आज जो नेतृत्व है वह तीन-चौथाई उदासीन है और एक-चौथाई उदासीन नहीं है; ऐसा कुछ है क्या?

श्रे. : इसका पता लगाना तो बहुत मुश्किल है।

ने. : कुछ तो गणित बनाना पड़ेगा। इस तरह की उदासीनता को यदि हम भंग करना चाहें, या तोड़ना चाहें, तो क्या करें?

कमज़ोर 'स्टफ'

श्रे. : जो 'स्टफ' हमारे सामने है, यानी समाज के सामने है, उसी से काम लेना है; किन्तु स्टफ बहुत कमज़ोर है, इसमें कोई शक नहीं है।

ने. : नेतृत्व करने वाला जो अंश है, वह कमज़ोर है; 'कमज़ोर' से आपका तात्पर्य ?

श्रे. : जो भी है, बहुत कम है।

ने. : यानी है तो, किन्तु प्रभावक नहीं है।

श्रे. : जो है, वह कम भी है, और कमज़ोर भी।

ने. : कमज़ोरी यह किस क़िस्म की है?

श्रे. : कमज़ोरी यों है कि जिस तरह कार्य करना चाहिये, वे उस तरह कार्य नहीं करते; केवल प्रदर्शन में भरोसा करते हैं; काम नहीं करते।

ने. : इसका अर्थ यह हुआ कि आज हमारा जो नेतृत्व है, वह बहुत कुछ दिखावे का है?

श्रे. : जो नेतृत्व के योग्य हैं, या जो कुशल नेतृत्व कर रहे हैं, वे गिनती के हैं, लगभग नगण्य।

ने. : एक प्रश्न उठता है, सुयोग्य/कुशल/अच्छे नेता में क्या गुण हो सकते हैं?

श्रे. : अच्छा नेता अर्थात् समाज का पूर्ण विश्वास-पात्र।

ने. : जो समाज का परिपूर्ण विश्वास संपादित कर ले।

श्रे. : और जो कार्य वह कर रहा है, उसमें भी उसका पूर्ण विश्वास हो; उसमें उसकी स्वयं की अविचल आस्था हो।

ने. : यह बहुत ज़रूरी है।

अंगूर के खेत में किसान सूखी लकड़ी गाड़ दिया करता है, जिस पर चढ़ कर अंगूर की बेल झूल उठती है--फूल उठती है--फलों से झुक जाती है। इसी तरह जीवन-यात्रा को सबल और सफल बनाने के लिए कितनी ही रीति-नीति स्थिर करनी पड़ती हैं। ये सभी किसान की उसी लकड़ी की तरह निर्जीव-नीरस हुआ करती हैं--वे वास्तव में उपदेश और अनुशासन की खूँटियाँ मात्र हैं। —रवीन्द्रनाथ ठाकुर

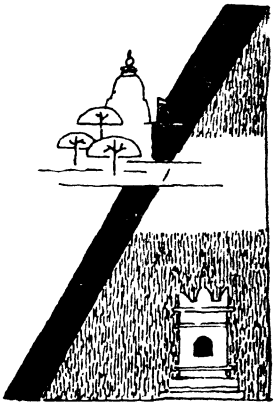

स्वयं-में-आस्था

श्रे. : समाज के विश्वास की बात तो बाद की है। पहले स्वयं को आस्था होनी चाहिये यह कि जो कार्य मैंने लिया है, या जो जिम्मेदारी मैंने ली है, वह महत्त्वपूर्ण और समाजोपयोगी है। समाज के विश्वास-संपादन का प्रश्न इसके बाद का है।

ने. : इसे तो काम की पद्धति, लक्ष्य, और स्वरूप से संपादित किया जा सकता है; अव्वल आस्था होनी चाहिये।

श्रे. : हाँ।

ने. : यह कि जो सेवा वह कर रहा है, वह पुख्ता है।

श्रे. : उसमें उसका अखण्ड/अटूट विश्वास है।

ने. : आपने कहा था कि 'जो सेवा मैं करता हूँ, उसमें मुझे 'रोमांस' जैसा अनुभव होता है' इसे थोड़ा विस्तार दीजिये।

श्रे. : 'रोमांस' से मेरा मतलब यही है कि आप जो सेवा कर रहे हैं, उसमें आपकी आस्था है, अडिग विश्वास है। उसे करते स्वयं प्रफुल्लित हैं, आनन्दित हैं। अगर आप स्वयं उससे उल्लसित नहीं हैं, तो वह सेवा नहीं है। वह मात्र दिखावा है। एक लोकेषणा की तृप्ति है। उसके पीछे नाम कमाने की लालसा है।

ने. : आप कहना यह चाहते हैं कि सेवा को औपचारिक न हो कर आत्मीय और अनौपचारिक होना चाहिये ताकि उसमें रस आ सके। क्या कभी ऐसा भी हुआ कि जब आपने समाज-सेवा की हो, और आपको रस न आया हो?

श्रे. : मैंने वैसा काम किया ही नहीं।

ने. : ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी हो कभी, तब आप बचे कैसे ?

श्रे. : कोई काम ज़बर्दस्ती तो दिया नहीं जाता; जब तक आपकी स्वयं की इच्छा न हो, तब तक आप पर कोई जिम्मेदारी डाली ही कैसे जा सकती है ?

ने. : आप तो जैन समाज के आला नेता हैं। आप पर यदि कोई जिम्मेदारी डाल दी गयी; और कहा गया कि हम कहाँ जाएँ, यह तो आपको ही करना है; तब आप क्या करेंगे ? क्या यह ज़बर्दस्ती नहीं है ?

श्रे. : मेरे साथ ऐसा कभी हुआ ही नहीं।

ने. : आपके साथ नहीं हुआ, लेकिन आपने कभी किसी के साथ ऐसा किया ? किसी पर ज़बर्दस्ती जिम्मेदारी डाल दी हो।

दो क़िसिम के लोग

श्रे. : ऐसे लोग दो तरह के सामने आये। एक, वे जिन्होंने बाद में काम ही नहीं किया; दूसरे, वे जिन्होंने प्रसिद्धि के लिए काम किया; लेकिन जो ठोस काम करना था, वह नहीं किया।

ने. : ज्यादातर लोग कैसे मिले ?

श्रे. : दोनों तरह के।

ने. : आपने कौन-सा रास्ता निकाला ?

श्रे. : समाज के पास नपे-तुले/गिने-चुने आदमी आज हैं; जो 'स्टफ' उपलब्ध है, उसी को काम में लगा कर ज्यादा-से-ज्यादा लाभ मिल सकता है।

ने. : समाज-सेवा की 'दृष्टि' देने के लिए हमारे देश में विद्यालय खुले हैं, और शिविर भी लगाये जाते हैं। जैन समाज में सेवाएँ विविध हैं, स्थितियाँ भी बहुत हैं, लेकिन क्या ऐसा कुछ अपने यहाँ होता है ?

श्रे. : शिविर (कैम्प्स) तो लगते हैं।

ने. : वे सिद्धान्त के प्रचार के लिए चलते हैं; आप चाहते हैं कि इसके अलावा भी कुछ हो ?

श्रे. : विचार करने की ज़रूरत है।

ने. : क्या आप चाहते हैं कि ऐसे विद्यालय, या शिविर आदि हों ?

श्रे. : इस पर व्यापक विचार-विमर्श की आवश्यकता है; बाद को जो भी निष्कर्ष निकले।

पेशेवर समाज-सेवी

ने. : मैं व्यक्तिगत रूप से आप से पूछता हूँ कि क्या हमें इस तरह के प्रोफेशनल्स (पेशेवर) पैदा करना चाहिये 'सेवा' के लिए ?

श्रे. : समाज-सेवा के क्षेत्र में भी दो तरह के पेशेवर लोग होते हैं; एक वे जो वेतनभोगी हैं और समाज-सेवा करते हैं। इस वर्ग के लोग भी कई बार बहुत अच्छा सेवा-कार्य करते हैं; दूसरे, वे हैं जो सेवा के लिए समयोचित परामर्श देते हैं। दोनों स्थितियाँ भिन्न हैं। वस्तुतः आदर्श सेवा से अनुप्राणित व्यक्ति बहुत ही कम हैं।

ने. : समाज में ऐसे व्यक्ति हों, इसके लिए हम क्या करें? नहीं हैं, यह तो ठीक है।

श्रे. : सबमें पहली बात तो यह है कि जब तक ऐसे लोगों की, जो समय दे सकते हैं और सेवा के लिए मन से तैयार हैं, आर्थिक स्थिति नहीं सुधरेगी, तब तक ठोस कुछ हो नहीं सकेगा। जिनकी सेवाएँ आप ले रहे हैं, उनकी आर्थिक स्थिति अवश्य सुधारनी चाहिये और इस हद तक सुधारनी चाहिये कि उन्हें एक औसतन जीवन-यापन के लिए आवश्यक साधन-सुविधाएँ सुलभ हों, मार्ग-व्यय आदि की यथोचित व्यवस्था हो।

स्पार्क : भीतर से

ने. : ये तो हुई सम्मान की रक्षा के लिए कुछ शर्तें, लेकिन समाज-सेवा के लिए ऐसे व्यक्ति तैयार कैसे करेंगे?

श्रे. : समाज-सेवा के लिए कोई व्यक्ति जब तक स्वयं तैयार नहीं होगा, कैसे क्या हो पायेगा? कोई कहे कि 'मुनि' को कैसे तैयार करें?

ने. : 'मुनित्व' की तैयारी तो 'ब्रह्मचर्य' से शुरू होती है।

श्रे. : यह तो ठीक है, लेकिन उसके मन में कुछ चिनगारी तो बनी होगी।

ने. : कोई चिनगारी (स्पार्क) तो होनी ही चाहिये?

श्रे. : हाँ। इसी तरह समाज-सेवा को ले कर जब तक व्यक्ति के मन में कोई रुचि, कोई स्फूर्ति, कोई ज्योति प्रज्वलित नहीं होगी, तब तक कहीं कुछ हो नहीं पायेगा।

ने. : 'स्पार्क' (चिनगारी) कहाँ से लायेंगे? कौन पैदा करेगा?

श्रे. : अन्तरात्मा।

ने. : यह तो अनिश्चित कुछ हुआ; उसकी तो प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

श्रे. : जैसे, महात्मा गाँधी। उन्होंने एक उद्देश्य स्थिर किया। वे नहीं होते, तो देश-सेवा का इतना कार्य ही नहीं होता। उन्होंने लोगों के सामने ठोस कुछ रखा, जिसे लोगों ने अपनाया और रचनात्मक रूप दिया। सेवा का कोई कार्य करना हो, तो पहले समाज-सेवा के प्रति लोगों में अनुराग उत्पन्न करना होगा; तभी वह होगा। यदि लोगों में रुचि नहीं होती तो गाँधीजी के युग में भी कुछ नहीं होता। देखिये न, जैन समाज में बहुत-से कार्य रोज-रोज खड़े होते हैं, बहुत-सी अपीलें छपती हैं; किन्तु जब तक रुचि नहीं होती, तब तक कुछ घटित नहीं होता है।

फॉलो-अप और निष्ठा

ने. : यह बात आपने बहुत अच्छी कही है। गाँधीजी का आश्रम था वर्धा में और विनोबाजी का पवनार में। क्या इस तरह का कोई आश्रम हम जैन समाज को नहीं दे सकते ?

श्रे. : लेकिन गाँधीजी के बाद गाँधी-आदर्श ख़त्म हो गये और विनोबाजी के बाद विनोबा के ; पूरा फॉलोअप और निष्ठा आवश्यक है।

ने. : किन्तु हमारे यहाँ तो अभी ऐसा कुछ हुआ ही नहीं है।

श्रे. : आप जो समझें, उस बारे में कुछ भी निष्कर्ष लें; लेकिन जो उद्देश्य सामने है, यदि उसकी अपील लोगों को नहीं छुएगी, तो कोई कार्य नहीं होगा। अपील होनी चाहिये; उसे जनजीवन को छूना चाहिये।

ने. : यह ठीक है ।

श्रे. : अपील ऐसी हो कि उसमें कोई स्वार्थ न हो। जब यह बू आने लगेगी कि इसमें उसका कोई स्वार्थ है, अच्छे-से-अच्छा कार्यक्रम तब चल नहीं पायेगा।

ने. : देखना यह है कि वह अपील लोगों को छू पाती है या नहीं । समाज-सेवा के लिए एक उपयुक्त मानसिकता भी तो बननी चाहिये।

श्रे. : सेवा का जो कार्य है, वह बहुत कठिन है। एक तो लोगों के पास समय नहीं है; दूसरे, आर्थिक स्थितियाँ प्रतिकूल हैं। रुचि भी नहीं है। जब तक ये सब स्थितियाँ नेता बनने के लिए नहीं होंगी; कोई सेवा करे, यह असंभव है।

प्रतीक्षा : एक और गांधी की

ने. : आज ये अनुपस्थित हो गयी हैं; इन्हें लौटाने की ज़रूरत है। कैसे हो सकती है यह वापसी ?

श्रे. : इसके लिए सारा वातावरण बदलना होगा। जब कोई गाँधी पैदा होगा देश में, समाज में, तब कहीं वह हो पायेगा।

ने. : यह तो आप महसूस करते हैं, कि अब ऐसा कोई आदमी आना चाहिये ।

श्रे. : पर आदमी कोई कहने से तो आयेगा नहीं।

ने. : तो क्या समाज को उसके भाग्य पर छोड़ दें ?

श्रे. : देखिये, महावीर एक ही हुए; राम भी एक ही हुए; कृष्ण भी एक ही थे; किन्तु जैसा श्रीकृष्ण के जमाने में हुआ, राम के युग में हुआ, या बुद्ध/महावीर के समय में हुआ; वह/वैसा आज कोई कर तो नहीं सकता।

ने. : इतिहास से कोई बहाना हम ढूंढ़ेंगे, तो यह ठीक नहीं होगा।

श्रे. : यह बहाना नहीं है; वास्तविकता है।

ने. : युगान्तर ज़रूरी है, जिसे हमारा वर्तमान नेतृत्व ही लायेगा।

श्रे. : परिवर्तन लायेगा; लेकिन परिवर्तन वही ला सकेगा, जिसके प्रति समाज की श्रद्धा होगी।

एप्रोच का प्रश्न

ने. : क्षु. गणेशप्रसादजी वर्णी का नाम हम कई बार लेते हैं। विद्यानन्दजी का नाम भी लिया जा सकता है। ऐसा कोई व्यक्तित्व चाहिये। वर्णीजी की समकालीन परिस्थितियों की समीक्षा हम करें।

श्रे. : उन परिस्थितियों में वर्णीजी का अपना 'एप्रोच' था। वे जो करना चाहते थे तदर्थ उनका भीतर-बाहर एक-जैसा था।

ने. : बात बहुत अच्छी है। समाजसेवी के अन्दर जो हो बाहर वही हो और बाहर जो हो वही भीतर हो, तभी सार्थक कुछ हो सकता है।

नेता : जो कहे, वह करे

श्रे. : कुछ करा लेने के लिए वर्णीजी किसी प्रकार का प्रलोभन नहीं देते थे। जो उन्हें जँचता था, वही करवाते थे। उनका व्यक्तित्व विचक्षण था।

ने. : उन्होंने हमारे सामने आदर्श उपस्थित किया कि समाज-सेवा करना हो, तो व्यक्ति में 'भीतर-बाहर की एकरूपता' ज़रूरी है।

श्रे. : लेकिन इसमें बड़ी सावधानी की ज़रूरत है। जो भीतर है, उसे बाहर प्रकट करने के लिए वातावरण भी देखना आवश्यक है। यदि एकदम सारी बात भीतर की बाहर कह दें तो जो उद्देश्य उसके सामने है, उसे क्षति पहुँच सकती है। मैं इसमें इतना संशोधन चाहूँगा कि जो अन्दर है, वह बाहर तो होना ही चाहिये; लेकिन यदि कोई परिस्थिति ऐसी आती है कि 'बाहर' कहने से, बजाय ध्येय-पूर्ति के, कोई क्षति पहुँचती है; समाज का विघटन होता है, तो इस अद्वैत को कुछ समय के लिए स्थगित भी कर देना चाहिये।

ने. : मैं 'कथनी-करनी' की आदर्श एकता की बात कर रहा था।

श्रे. : वह तो होनी ही चाहिये।

ने. : मैं आपकी बात को इस तरह से ले रहा था कि जो नेता हो, उसकी कथनी-करनी में एकता हो यानी जो वह कहे, वह करे; जो करे, वह कहे।

कथनी-में-संयम

श्रे. : जो बात आप कहते हैं, वह बिलकुल ठीक है। करनी तो ठीक है; किन्तु कथनी में काफी संयम की ज़रूरत है। वस्तुतः जितना उपयोगी हो सकता है, उतना कहना चाहिये। यदि किसी कथन का दुरुपयोग होता हो, उससे वैमनस्य फैलता हो, कुछ लोग उसका लाभ ले कर अपनी स्वार्थ-सिद्धि करते हों, या उसमें

व्यर्थ की मीनमेख निकालते हों, तो निश्चित मानिये कि जो काम करना / करवाना हो, वह हो नहीं पायेगा। उसके संपन्न होने में विघ्न खड़े होंगे ।

ने. : यानी कथनी को भी प्रसंगानुसार काम में लाना चाहिये; कोई कौटिल्य (डिप्लोमेसी) तो नहीं ही होना चाहिये।

श्रे. : हाँ । आप जो कर रहे हैं, वह किसी चतुराई के लिए नहीं कर रहे हैं, छल नहीं कर रहे हैं; बल्कि इसलिए कर रहे हैं कि आपको अपने उद्देश्य की सफल पूर्ति करनी है ।

ने. : एक बड़ी बात आपने, जो प्रायः किसी महाविद्यालय में ही कही जाती है, यहाँ कह दी है। सामाजिक नेतृत्व कैसे बने ? या नेतृत्व सहन कर सके, ऐसा समाज कैसे विकसित हो ? एक पूरी प्रक्रिया आपने इसमें दे दी है । इसमें आप कुछ और जोड़ना चाहेंगे क्या ?

श्रे. : कहना चाहूँगा कि नेता बनाने से नहीं बनते । महात्मा भी नहीं बनते। ये तो जन्मजात होते हैं। उन्हें ऐसा सत्संग मिला, चाहे वर्णीजी का, गाँधीजी या तिलक का कि वे खुद को तदनुरूप ढाल सके।

ज़मीन अच्छी, फसल अच्छी

ने. : क्या आप ऐसा नहीं मानते कि अच्छी फसल के लिए अच्छी जमीन चाहिये ?

श्रे. : ज़मीन यदि अच्छी नहीं होगी, तो फसल अच्छी होगी ही नहीं ।

ने. : कभी-कभी ऐसा भी होता है कि ज़मीन तो अच्छी होती है; किन्तु फसल अच्छी नहीं होती ।

श्रे. : हो सकता है ।

ने. : समाज को तैयार करना है एक अच्छी ज़मीन की तरह।

श्रे. : मेरे खयाल से इसमें मनुष्यकृत कुछ नहीं है ।

ने. : तो क्या ईश्वरकृत है ?

श्रे. : नहीं ।

ने. : तो ?

श्रे. : यह वस्तुतः एक मंदगामी प्रक्रिया है, जिसे नियन्त्रित किया जा सकता है; लेकिन यह मानना कि यह कोई यन्त्र (संगणक / कम्प्यूटर) है कि इधर हमने बटन दबाया और उधर जवाब हाज़िर, तो हमारा इस तरह सोचना तर्कसंगत नहीं कहलायेगा ।

ने. : आइये, इसे आप पर ही लागू करें। आप समाज के शीर्षस्थ नेता हैं। बतायें कि ऐसी कौन-सी परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं कि आप-जैसा शीर्षस्थ नेता उत्पन्न हो गया ? क्या कभी आपने इस तथ्य की समीक्षा की है ?

'सामूहिक तथा व्यक्तिगत विकास के लिए कुछ सिद्धान्तों का ज्ञान जितना आवश्यक है, उतना ही, या उससे कुछ अधिक आवश्यक उन सिद्धान्तों का उपयुक्त प्रयोग भी समझा जाना चाहिये। यदि हम ऐसे सिद्धान्तों का भार जन्म-भर ढोते रहें, जिनका उपयुक्त प्रयोग हमें ज्ञात न हो, तो हमारी दशा उस पशु से भिन्न न होगी जिसको बिना जाने ही शास्त्रों और धर्म-ग्रन्थों का भार वहन करना पड़ता हो।

–महादेवी वर्मा

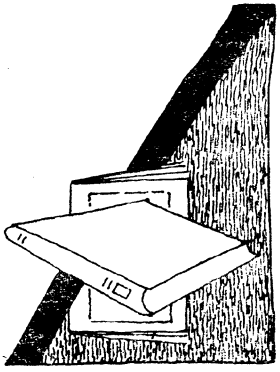

मैं हुआ यों

श्रे. : आप जैन समाज के सामाजिक इतिहास का अवलोकन कीजिये।

ने. : शुरू से, यानी कौन-सा वर्ष लें?

श्रे. : ब्र. सीतलप्रसादजी को एक सिरा मान लें।

ने. : सन् १९२० के बाद का।

श्रे. : १९२० में ब्र. सीतलप्रसादजी आ गये थे।

ने. : असहयोग आन्दोलन सन् १९२१ से शुरू हुआ।

श्रे. : उस जमाने से शुरू करें। सबसे पहले सेठ माणिकचन्द्रजी आये। उनका ब्र. सीतलप्रसादजी के प्रभाव से कहिये, जैन समाज पर एकछत्र राज्य था; तब परिस्थितियाँ दूसरी थीं; उनका तरीका अलग था। यह दूसरी बात है; किन्तु उस समय वे जैन समाज के शीर्षस्थ नेता थे।

ने. : दोनों को ले लें – ब्र. सीतलप्रसादजी को और सेठ माणिकचन्द्रजी को।

श्रे. : उसके बाद इन्दौर के सर सेठ हुकमचन्दजी आये। उनका भी पचास वर्ष का एक युग रहा। तब उन्होंने जो कह दिया, वह ज्यों-का-त्यों मान लिया गया। उसके बाद, या बीच में सर सेठ भागचन्दजी सोनी आये, उसके बाद आये भाई शान्तिप्रसाद, और जब शान्तिप्रसाद नहीं रहे तो समाज को एक नेता खोजने की आवश्यकता हुई। अब इसे आप सदभाग्य कहिये या दुर्भाग्य मुझे चुन लिया गया।*

---

* नेतृत्व के विकास का यह इतिहास दिगम्बर समाज से सम्बन्धित है।

असीम प्यार मिला

ने. : हम तो इसे सौभाग्य ही कहेंगे।

श्रे. : जो भी आप कहें। मुझमें समाज-सेवा की अडिग आस्था तो पहले से ही थी; लेकिन यह मेरा इम्तहान भी हुआ।

ने. : कसौटी हुई।

श्रे. : कसौटी पर मैं ठीक से उतरा नहीं। हाँ, इतना ज़रूर हुआ कि मुझमें यह सत्संकल्प बना रहा कि यदि मैं अपने परिवार का, साहू-खानदान का, शान्ति-प्रसाद का, बाबा का नाम ऊँचा नहीं उठा सका, तो कम-से-कम उसे गिराऊँगा नहीं। आज भी यह उदात्त भावना मेरे मन में है। इसी उमंग में काम करता रहा हूँ। उसके बाद तो लोगों का असीम प्यार मिला मुझे। लोगों का सहयोग मिला, मार्गदर्शन मिला। मेरे पास जो साधन थे, उनका भी उपयोग हुआ। साधन, यानी ऑफिस और इसी तरह की अन्य सुविधाएँ।

सीखा क्या, जाना क्या

ने. : मैं समझाता हूँ, माणिकचन्द्रजी से शान्तिप्रसादजी तक के नेतृत्व को आपने ऑब्जर्व और एब्जोर्ब (देखा और ज़ज्ब) किया अर्थात् आप उन सबकी एक समग्र अभिव्यक्ति है, तो इस संदर्भ में आपसे जानना चाहूँगा कि आपने इन सबसे क्या सीखा; क्या जाना?

श्रे. : माणिकचन्द्रजी के समय भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी का जन्म हुआ। उन्होंने एक जैन छात्रावास भी खोला। उनके खयाल में आया कि जितने भी हमारे तीर्थक्षेत्र हैं उन सबका एक किसी केन्द्रवर्ती संस्था से संबंध होना चाहिये; यदि ऐसा नहीं हुआ, तो हम उनकी रक्षा नहीं कर सकेंगे। तब सब कुछ बिखरा हुआ था। उनकी सबसे बड़ी देन तीर्थ रक्षा है।

ने. : गणेशप्रसादजी से आपने क्या सीखा?

श्रे. : वे तो सन्त थे।

ने. : आपने जो देखा और ज़ज्ब किया वह क्या, कैसा था?

श्रे. : सबमें पहले सन् १९४५ में जबलपुर में अ. भा. दिगम्बर जैन परिषद् के अधिवेशन में मैंने गणेशप्रसादजी वर्णी को देखा। शान्तिप्रसाद उस अधिवेशन के अध्यक्ष थे। मैं उनके साथ गया था। उस समय सुमेरचन्द्रजी दिवाकर और उनके पिताजी भी थे। सारा मामला वर्णीजी के सामने शान्तिप्रसाद ने रखा और कहा, आप आज्ञा दीजिये, हम क्या करें? वर्णीजी ने सारा काम शान्ति/शालीनता से निपटा दिया। उनके चारित्र्य का बड़ा प्रभाव पड़ा। उनका स्वभाव सौम्य था। सन्त वे कैसे बने; उनकी 'जीवन-गाथा'* बड़ी प्रेरक है। खास कर बुन्देलखण्ड पर उनका गहरा प्रभाव हुआ।

ने. : क्या हमारी सामाजिक समस्याओं के समाधान में उनके व्यक्तित्व से कोई मदद मिलती है?

---

* मेरी जीवन-गाथा (भाग 1, 2) : क्षु. गणेशप्रसाद वर्णी।

श्रे. : उन्होंने समाज की धार्मिक आस्थाएँ मजबूत कीं; कहें, जैनधर्म की जड़ें पाताल तक कर दीं। स्थितिकरण की उनकी अपनी प्रभावपूर्ण शैली थी। यही उनकी ऐतिहासिक देन भी है।

ने. : लोगों की धार्मिक आस्थाएँ उखड़ रही थीं, संस्कार मिट रहे थे।

श्रे. : वर्णीजी ने अपने व्यक्तित्व, चारित्र्य, और प्रभाव से उन्हें अविचल किया।

ने. : और सेठ हुकमचन्दजी से ?

श्रे. : वे बहुत बड़े आदमी थे।

ने. : बड़े यानी ?

श्रे. : उस समय समाज में उनका नम्बर एक था। उन्हें 'जैन सम्राट्' के नाम से जाना जाता था।

ने. : उनमें आपने क्या देखा ?

श्रे. : कर्मठता, कर्तव्य-भाव, और कार्य-दक्षता।

ने. : यह आपका व्यक्तिगत देखना है ?

श्रे. : हाँ, उस समय असल में कोई आदमी समाज में था भी नहीं, जो उनके स्थान पर आता और काम करता।

ने. : अपरिहार्यता थी।

ब्लैक, या ब्लैंक

श्रे. : एक तो समाज उस समय समाज नहीं था। वह विकासोन्मुख हुआ-ही-हुआ था, इसीलिए मैंने इसे 'ब्लैक पीरियड' कहा है।

ने. : 'ब्लैक', या ब्लैंक ?

श्रे. : 'ब्लैक' कह दीजिये। तीन-चार आदमी मुश्किल से थे, सहारनपुर में जम्बूप्रसादजी, फिरोजपुर में देवीप्रसादजी, साहू घराना था, महाराष्ट्र में लालचन्द भाई के पिताजी, ये कुछ घराने थे। उस समय जो प्रतिष्ठा मिलती थी, वह एक तरह का समझौता था विद्वानों और पैसेवालों में।

ने. : समझौता क्या था ?

श्रे. : समझौता यह कि विद्वानों से कहा गया कि हम धन उपलब्ध करायेंगे, आप हमारा गुणगान करना; आप हमारी इज्जत अफज़ाई करना। कोई लिखित अनुबन्ध नहीं था; सब कुछ रफ्तह-रफ्तह हो निकला था।

ने. : मौन अनुबन्ध था।

श्रे. : मौन अनुबन्ध, मौन प्रक्रिया, सब कुछ चुपचाप हुआ।

ने. : विद्वानों के मन में ऐसा रहता था ?

श्रे. : पण्डितों में।

'पण्डित' और 'विद्वान्'

ने. : 'पण्डित' शब्द ज्यादा उपयुक्त है। 'पण्डित' और 'विद्वान्' में आप कोई फर्क करते हैं ?

श्रे. : विद्वान् जिसे चारों ओर की सूझ हो; यानी संसार कैसे चलाना, जो यह भी जानता हो।

ने. : और 'पण्डित' क्या उसे कहेंगे, जिसे एक तरह की 'सूझ' हो, और जो ठीक-से संसार चलाना न जानता हो ?

श्रे. : शास्त्र की गद्दी पर बैठ गये और लोगों से कह दिया कि तुम अमुक प्रश्न करना। प्रश्न भी वही, उत्तर भी वही।

ने. : अब भी ऐसे 'पण्डित' हैं ?

श्रे. : पं. जगन्मोहनलालजी वास्तव में पण्डित हैं; पं. नाथूलाल जी सीधे-सच्चे; पं. कैलाशचन्द्रजी, पं. पन्नालालजी आदि सब असली पण्डित हैं।

ने. : पण्डितों की एक परम्परा थी।

श्रे. : ये सारे परम्परागत पण्डित ही हैं।

ने. : क्या इन्हें विद्वान् कहा जाए ?

समाज-सेवा का प्रशिक्षण

श्रे. : जैसा मैंने ऊपर कहा है, उस अर्थ में तो ये विद्वान् भी हैं।

ने. : क्या समाज-सेवा का प्रशिक्षण देने के लिए कोई संस्था बन सकती है ? उसका स्वरूप क्या होगा ?

श्रे. : मैं इसका उत्तर नहीं दे पाऊँगा। आप चाहें, तो इस पर जैन पत्र-पत्रिकाओं में कोई परिचर्चा संयोजित करें; संभव है कोई निष्कर्ष निकल आये।

ने. : यह बहस छेड़े कौन ?

श्रे. : मेरे ख्याल में समाज-सेवा का पाठ (प्रशिक्षण) लेने कोई विद्यार्थी नहीं आयेगा।

ने. : क्या यह अधिक उपयोगी होगा कि जिस संस्था, या गुरुकुल आदि में समाजोपयोगी प्रवृत्तियाँ चल रही हों, वहीं समाज-सेवा की प्रवृत्ति को जोड़ दिया जाए ?

श्रे. : नहीं जोड़ सकते।

ने. : क्यों ?

श्रे. : समाज-सेवा के क्षेत्र अनेकविध हैं। यदि सारे क्षेत्र एक जगह आ जाएँ, तो जो चल रहा है, वह भी रुक जाएगा।

ने. : मेरा आशय यह है कि उन्हें समाज-सेवा की जानकारी दी जाए।

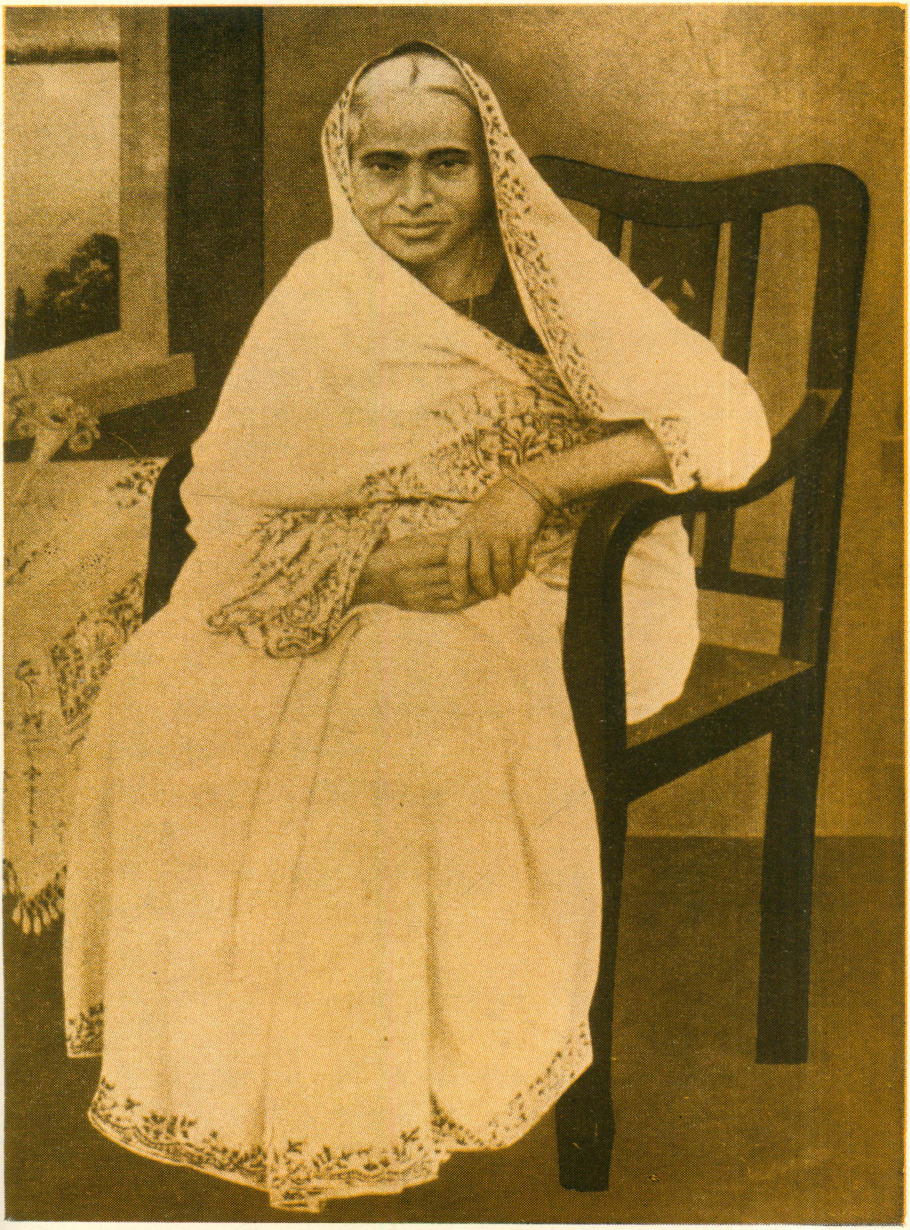

स्व. मूर्तिदेवी: ज./बिजनौर 1872; नि./कलकत्ता, विजयादशमी 1938

'इतने संयोग थे विचलित होने के, किन्तु हुआ नहीं; इसमें केवल माँ ही कारण हैं। माँ में मेरे प्रति जितना वात्सल्य, जितनी ममता होनी चाहिये, वह औसत से कुछ अधिक ही थी। आज जब मैं उन्हें याद करता हूँ तो मस्तक झुक जाता है और आँखें भर आती हैं।'

—श्रेयांस प्रसाद; ३० जुलाई १९८३

श्रे. : समाज-सेवा को पढ़ाया नहीं जा सकता। इसके लिए दो-तीन बातें बहुत ज़रूरी है—स्वयं में आस्था, व्यक्तिगत रुझान, और क्षमता; क्योंकि समाज-सेवा के क्षेत्र बहुविध हैं।

ने. : वह किस क्षेत्र (फील्ड) में काम करना चाहता है; यह जाना जाए?

लादा नहीं जा सकता

श्रे. : यह कि वह किस फील्ड में काम करना चाहता है और जहाँ वह काम करना चाहता है वहाँ उसकी ज़रूरत है, या नहीं। समाज-सेवा को लादा नहीं जा सकता।

ने. : यह तो असंभव है।

श्रे. : हाँ। जो स्कूल हैं, यूनिवर्सिटियाँ हैं, उनमें जो लोग समाज-सेवा करना चाहते हैं, उन्हें वे एक पद्धति बताते हैं।

ने. : जैन समाज में समाज़-सेवा की पद्धति बताने वाली कोई संस्था है? ऐसी संस्था होनी चाहिये।

श्रे. : समाज-सेवा के लिए आदमी तो तैयार हों। आप एक संस्था खोल दें, एज्यूकेशनल (शैक्षणिक) संस्था खोल सकते हैं; शोध-संस्थान आप खोल सकते हैं; किन्तु केवल समाजसेवियों के लिए कोई संस्था हो, यह संभव नहीं है। अगर कोई खुली भी तो जल्दी बन्द हो जाएगी।

व्यसन-मुक्ति

ने. : दक्षिण भारत में व्यसन-मुक्ति का आन्दोलन चलाया गया है।

श्रे. : एक उद्देश्य है न?

ने. : इस आन्दोलन के बारे में आपकी क्या राय है; यह भी समाज-सेवा का ही एक रूप है।

श्रे. : जो व्यसन-मुक्ति का आन्दोलन चलाते हैं, उन्हें सब में पहले स्वयं व्यसन-मुक्त होना चाहिये।

ने. : यह तो तय है।

श्रे. : अगर वे व्यसन-मुक्त हो कर नहीं चलायेंगे, तो आन्दोलन असफल हो जाएगा।

ने. : सब ढह जाएगा। कोल्हापुर (महाराष्ट्र) के आसपास यह फैला है पदयात्रा आदि के रूप में। शराब से मुक्त करना, मांसाहार से मुक्त करना; आदि इसकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ और संकल्प हैं।

श्रे. : यह अपील कर सकता है। चूँकि इसका पारिवारिक जीवन पर असर पड़ता है; लेकिन केवल धर्म से संबन्धित यह होगा, तो अपील नहीं करेगा।

ने. : व्यसन का संबन्ध किसी धर्म से क्यों होगा ?

श्रे. : नैतिकता/सदाचरण धर्म का ही एक भाग है।

ने. : वह तो सारे धर्मों का सार है।

श्रे. : हाँ।

ने. : यदि उसके कुछ मुद्दे उठा लें (जैसे शाकाहार, शराबबन्दी, जुआँ न खेलना आदि), तो क्या इसे कोई देशव्यापी रूप हम दे सकते हैं ?

श्रे. : मुझे इस संस्था और आन्दोलन के बारे में अधिक जानकारी नहीं है।

शैली बदलें

ने. : संस्था को हटा दें, केवल व्यसन-मुक्ति को सामाजिक रूप से ग्रहण करें, उसे देशव्यापी बनाना चाहें, तो हम क्या करें ? आप तो एक देशव्यापी संस्था के अध्यक्ष हैं।

श्रे. : शराब की बात लें। शराब का स्वास्थ्य पर, आर्थिक स्थिति पर, कौटुम्बिक जीवन पर कैसा कुप्रभाव पड़ता है; ये सब बातें लोगों के सामने लायी जाएँ। कुछ लोग यह जानते हुए भी कि शराब घातक है, उसे छोड़ेंगे नहीं । यह मामला प्राचीन काल से चल रहा है। अगर आप शराबियों की संख्या देखें, तो पायेंगे कि वह उत्तरोत्तर बढ़ी ही है। शराबबन्दी के कितने आन्दोलन हुए ? गाँधीजी ने उसे व्यापक रूप दिया। शराब की दुकानों पर पिकेटिंग भी हुआ, लेकिन शराब छूटी कहाँ ?

ने. : तो क्या हम निराश हो जाएँ ?

श्रे. : निराश नहीं हों, वास्तविकता जानें, और अपने आन्दोलन की शैली बदलें।

ने. : वास्तविकता जानने के बाद प्रयत्न करें या नहीं ?

श्रे. : प्रयत्न तो करना ही है। जितना भी हो सके, उतना जी-जान से करना है; किन्तु यह मान कर न चलें कि इस आन्दोलन से हम संपूर्ण नशाबन्दी करा लेंगे। ऐसा मान कर यदि हम चलें, तो फिर निराशा-ही-निराशा है। वास्तविकता को समझ यदि हमने दस आदमियों की शराब भी छुड़ा दी, तो मानें कि हमने अपना कर्तव्य किया।

ने. : क्या हमारा समाज ऐसा कर रहा है ?

श्रे. : नहीं कर रहा है। जैन समाज में आज शराब ज्यादा पीयी जाने लगी है। माँस-भक्षण भी होने लगा है।

ने. : इसे रोकने का कोई उपाय, कोई समाधान है ?

पारिवारिक असन्तुलन

श्रे. : जब तक हमारा पारिवारिक जीवन असन्तुलित बना रहेगा, तब तक यह चलेगा।

'इस समय भारत वर्ष में अनेक आपत्तियाँ आ रही हैं। जिधर देखो उधर से रुपयों की आवश्यकता है।..... अन्य की बात मैं नहीं कहता, यदि हमारे जैनी भाई प्रत्येक मनुष्य के पीछे ½ पैसा निकालें तो अनायास ही ७,००,००० (सात लाख) पैसे आ सकते हैं। इस तरह कुल--एक दिन में– १०९३७॥); एक माह में ३,२८,१२५); एक वर्ष में ३९,३७,५०) रुपये आसानी से परोपकार (समाज-सेवा) में लग सकते हैं।

–गणेशप्रसाद वर्णी : अक्षय तृतीया 1950 ई.

ने. : पारिवारिक जीवन में सन्तुलन पैदा कैसे करें?

श्रे. : कोई युगदृष्टा पैदा हो तो बात बने।

ने. : यह तो हमारे हाथ में नहीं है।

श्रे. : आज नहीं।

ने. : प्रतीक्षा करें?

श्रे. : प्रतीक्षा तो करनी ही होगी; तथापि जितना सामर्थ्य हो, उतना करते रहना चाहिये।

ने. : कोई उपाय नहीं है क्या? आपने तो लगभग आठ दशक अपने जीवन के संपन्न कर लिये हैं। समाज के सभी क्षेत्रों में उतार-चढ़ाव देखें हैं, क्या इस गिरावट को रोकने के लिए कोई उपाय नहीं सुझा सकेंगे?

श्रे. : इस सबके लिए हमें एक और महावीर, या गाँधी की प्रतीक्षा करनी होगी।

ने. : यह सरलीकरण (सिम्पलीफिकेशन) तो हमें अकर्मण्य भी बना सकता है?

श्रे. : इसके अलावा मुझे कुछ सूझता नहीं है, मैं क्या बताऊँ?

ने. : हम निष्क्रिय हो जाएँगे।

श्रे. : आप जो भी काम करना चाहें, उसमें यह मान लेना कि सफलता मिलेगी ही, मैं उचित नहीं समझता; यही कारण है कि मैं एक संपूर्ण उत्तर आपकी बात का नहीं दे सकूँगा।

दिया जलाये रखें

ने. : फिर उत्तर किससे पाया जाए?

श्रे. : उत्तर तो एक यही है कि आप पता लगायें कि भगवान् महावीर से आज तक धर्म के, नैतिकता के; या सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र्य के प्रति

लोगों की आस्था बढ़ी है? उनका चरित्र समृद्ध हुआ है? संभव है इस खोजनबी में से कोई जवाब आपको मिल जाए।

ने. : मेरे हिसाब से न तो आस्था बढ़ी है, न चारित्र्य।

श्रे. : अब थोड़ी आस्था लोगों में बढ़ रही है। विदेशों से भी बहुत-से लो आ रहे हैं, बातचीत कर रहे हैं; उनकी रुचियाँ भी जानने को मिलती हैं।

ने. : यदि एक चीज बढ़ेगी, तो दूसरी निश्चित बढ़ेगी।

श्रे. : आदमी बड़ा कमजोर है, यह जानते हुए भी कि अमुक चीज नुकसानदेह है, वह उसे छोड़ता नहीं है।

ने. : सिगरेट के पैकेट पर लिखा रहता है कि 'आप ज़हर पी रहे हैं'; फिर भी लोग पी रहे हैं।

श्रे. : कोशिश करते जाना चाहिये, यह नहीं कि हमें पचास प्रतिशत सफलता मिले ही; दस भी मिले, तो ठीक है। आप कम-से-कम दिया जलाये रखें। मेरा कहना है—'दिया जलाये रखिये'।

ने. : जब उसका तेल खत्म हो जाएगा, तब क्या होगा?

श्रे. : विश्वास रखिये, तेल कभी खत्म नहीं होगा।

ने. : उत्साह खत्म होगा?

श्रे. : ना, ना। कुछ लोग ऐसे रहेंगे।

ने. : अभी हैं क्या?

श्रे. : हैं।

ने. : उनके नाम शायद हम नहीं जानते।

चुपचाप काम

श्रे. : गाँधी-युग के लोग आज भी हैं। वे चुपचाप काम करते हैं। उनकी कोई प्रसिद्धि नहीं है; लेकिन वे जीते / करते चले जा रहे हैं।

ने. : जैनों में भी ऐसे लोग होंगे?

श्रे. : जैनों में जैसे आचार्य विद्यासागरजी हैं।

ने. : वे तो मुनि हैं। मैं श्रावकों की बात कर रहा हूँ।

श्रे. : श्रावकों में मुझे···।

ने. : संदेह है, यही न?

ने. : साहू खानदान की समाज-सेवा का बहुत जिक्र पढ़ा है। आपने भी आनुषांगिक ज़िक्र किया है। इस खानदान के समाज-सेवा के प्रमुख क्षेत्र कौन-से रहे हैं—साहित्य प्रकाशन, शिक्षा-प्रसार?

श्रे. : सेवा के और क्षेत्र भी रहे हैं।

ने. : बताइये, कृपया।

श्रे. : 'स्वयं सेवा', 'स्वयंसेवक'। (शब्द की व्युत्पत्ति पर ध्यान दें, उसी अर्थ में – संपादक)।

ने. : मैं जानना चाहता हूँ, उस अर्थ में क्या सेवाएँ हुई ?

सेवा : रूप कितने ?

श्रे. : संकट के वक्त सेवा-समितियों द्वारा।

ने. : प्राकृतिक संकट के समय ?

श्रे. : उसमें भी, आतिथ्य द्वारा भी।

ने. : बाढ़, दुष्काल – ये प्राकृतिक संकट; आतिथ्य, शिक्षा इत्यादि।

श्रे. : कुरीतियों को रोकने के लिए, शादी-विवाह के लिए 'दस्तूर-उल-अमल' बनाया। हमारा व्यवहार कैसा हो ? यह सीखना भी समाज-सेवा है। कुरीति को किस तरह रोका जाए, यह भी समाज-सेवा है। समाज-सेवा का क्षेत्र आज बहुत व्यापक हो गया है। आज से कोई पच्चीस-तीस साल पहले यह क्षेत्र इतना व्यापक नहीं था; सीमित था। तब स्थानीय समस्याओं पर ही लोग अधिक केन्द्रित थे।

ने. : तब समस्याएँ लोकेलाइज्ड (स्थानिक) थीं ?

श्रे. : हाँ। उस समय अखबारों का इतना प्रसार नहीं था, न रेडियो का और न यातायात के तेज साधनों का। संभवतया बहुत-से लोग दूरदराज में आज भी ऐसे हैं, जो रेल में नहीं बैठे हैं, और दूसरी ओर ऐसे लोग भी हैं, जो वायुयान में रोज़-ब-रोज़ आ-जा रहे हैं।

ने. : इससे मैं एक निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि समस्याओं का समाधान यदि ढूंढ़ना हो, तो उन्हें 'लोकेलाइज्ड' करके देखना चाहिये।

श्रे. : ठीक है।

ने. : आपने अभी कहा कि स्थानीय होने से समस्याओं का हल जल्दी और अच्छा हो जाता था।

समस्या : पहचान पहले

श्रे. : मैं फिर वही कहता हूँ कि समस्या को आयडेण्टिफाई (पहचान) तो आप कर लेंगे 'लोकेलाइज्ड' करके; किन्तु उसका समाधान कौन करेगा ? वस्तुतः हमें ऐसे व्यक्तियों की खोज़ करनी होगी कि जिनमें आस्था है और जिनका समाज पर प्रभाव है। पहले ऐसे आदमियों को पहचानना (आयडेण्टिफाई) होगा।

ने. : ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न करनी होंगी कि वैसा आदमी पैदा हो; नहीं तो आदमी लायेंगे कहाँ से ? वे स्थितियाँ आप सोचते हैं – पैदा होंगी ? नेतृत्व क्षितिज पर आयें क्या ऐसी स्थितियाँ बन रही हैं ?

श्रे. : अडिग आस्था और संपूर्ण समर्पण जिस में होगा वही नेतृत्व करेगा।

ने. : क्या इनके अलावा समाज-सेवा के कोई और क्षेत्र हैं, या हो सकते हैं, जो छूट गये हैं या अछूते हैं ?

श्रे. : मोटी तौर पर सेवा के दो ही क्षेत्र ही सकते हैं : जनकल्याण; धर्म का प्रचार-प्रसार। सारे सेवा-कार्य इन दो वर्गों में विभक्त हो सकते हैं।

ने. : साहू-खानदान ने बहुत-से काम किये हैं, किन्तु जो उससे कुछ छूट गया है, उसे अब किया जाना चाहिये। संभव है उन पर आप स्वयं भी विचार कर रहे हों; क्योंकि उन दिनों के संदर्भ अलग थे, आज के अलग हैं।

रोजगारोन्मुख शिक्षा

श्रे. : मैंने पहले ही निवेदन किया है कि शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति होनी चाहिये। सोचा जाना चाहिये कि हमारी शिक्षा कैसी हो ? धार्मिक शिक्षा का क्या स्वरूप हो ? इस सबको समझने के लिए एक कमीशन आवश्यक है, जो देश में घूमे और समाज की आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं का पता लगाये। उनका प्रत्यक्ष अध्ययन करे। आवश्यकता है, आर्थिक स्थिति के सुधारने की भी ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिये जिसके परिणाम-स्वरूप शिक्षार्थी आजीविकोपार्जन कर सके।

ने. : रोजगारोन्मुख शिक्षा (जॉब-ऑरिएण्टेड एज्यूकेशन) होनी चाहिये ?

श्रे. : हाँ। यह ज़रूरी नहीं है कि समाज का हर बच्चा बी.ए., एम.ए. तक जाए। यूनिवर्सिटी की शिक्षा उन लोगों के लिए उपयुक्त हो सकती है, जो बहुत मेधावी/प्रतिभा-संपन्न हैं। वस्तुतः मेट्रिक के बाद रुचि और क्षमता-परीक्षण होना चाहिये। जापान में ऐसा होता है। वहाँ शिक्षा 'जॉब-ऑरिएण्टेड' है; जैसे : सिलाई, बढ़ईगीरी, सेल्समेनशिप, विज्ञापन-कार्य वगैरह-वगैरह।

ने. : समाज में मूल्य उपाधियों का है, तो क्या करें ?

श्रे. : यह ग़लत और भ्रामक है।

ने. : यदि मूल्य-परिवर्तन मात्र जैन समाज में होगा, और संपूर्ण भारतीय समाज में नहीं होगा, तो एक अनपेक्षित असंतुलन बनेगा; क्या आप ऐसा चाहेंगे ?

श्रे. : नहीं; क्योंकि जब तक भारतीय समाज में परिवर्तन नहीं होगा, तब तक जैन समाज में कुछ हो नहीं सकेगा। जैन समाज एक अल्पसंख्यक समाज है। उसके निमित्त कोई अलहदा क़ायदे-क़ानून नहीं बन सकते। संपूर्ण राष्ट्र के लिए जो होगा, वही जैन समाज पर प्रभावशील होगा।

ने. : मतलब यह कि इस समय सारे देश में शिक्षा व्यवसायोन्मुख नहीं है; और आपका दृष्टिकोण यह है कि शिक्षा ऐसी ही होनी चाहिये। तो इस सब के लिए समाज में कैसी हवा बनायें ? क्या करें ?

समाज हो राष्ट्र

श्रे. : प्रश्न व्यापक है। हमारे लिए कोई पृथक् विधि-विधान नहीं हो सकता और न ही हम निजी विधि-विधान बना सकते हैं। यह उचित भी नहीं है। हमें देशवासियों के साथ कन्धे-से-कन्धा लगा कर काम करना चाहिये। यदि हम ऐसा नहीं करेंगे, तो पीछे छूट जाएँगे। हमें सारे काम उस मंच से करने चाहिये, जो व्यापक है, अखिल भारतीय है। जैन समाज को राष्ट्र की धड़कन से अपनी धड़कन मिलानी चाहिये।

ने. : हमें अपनी भूमिका निभानी चाहिये। जैनों के लिए समाज-सेवा का क्या स्वरूप हो सकता है? विस्तृत संदर्भ में न सोचें, तनिक सीमित सोचें।

श्रे. : जैन समाज की तकलीफें क्या-क्या हैं?

श्रे. : आप ही बताइये।

श्रे. : सबसे बड़ी तकलीफ दहेज की है। दहेज बहुत बड़ी और ज्वलन्त सामाजिक समस्या है।

श्रे. : उसके लिए एक सुनियोजित आन्दोलन किया जाना चाहिये; क्योंकि मैं समझता हूँ कि ऐसी कोई सामाजिक समस्या नहीं है जो केवल जैनों की हो और दूसरे भारतीय तबकों पर लागू न पड़ती हो।

कन्धे-पर-कुदाल

ने. : आपने कभी 'फील्ड-वर्क' (मैदानी सेवा-कार्य) किया है, समाज-सेवा का?

श्रे. : किया है। जवानी में। कन्धे पर कुदाल भी रखी है।

ने. : उसका स्वरूप क्या 'मेन्युअल लेबर' (शरीर-श्रम) जैसा था?

श्रे. : हाँ। जहाँ अनावृष्टि या अतिवृष्टि होती, वहाँ कन्धों पर अनाज की, सीमेंट की बोरियाँ लेकर साथियों के साथ जाता था।

ने. : कौन-सा वर्ष रहा होगा?

श्रे. : १९२४। बालावाली में (नजीबाबाद से कुछ ही दूर) बहुत बड़ी बाढ़ आयी; पुल टूट गये; यातायात फिर से शुरू करना था।

ने. : यह काम तो आपने सबके साथ किया होगा?

श्रे. : सबके साथ। सिर्फ जैनों से सम्बन्धित वह था भी नहीं।

ने. : इसके बाद और कोई मौका मैदानी सेवा-कार्य करने का आया?

श्रे. : इस वक्त याद नहीं पड़ रहा है।

ने. : यदि जैन समाज में कोई मैदानी सेवा-कार्य (फील्ड-वर्क) करना चाहे, तो उसका क्या स्वरूप हो सकता है, वह क्या करे?

श्रे. : जहाँ जो समस्या हो, वहाँ उसका स्वरूप समझ कर करे। स्थानिकता (लोकेल) को तो महत्त्व देना ही होगा।

ने. : आप सारा देश घूमते हैं; इसलिए अन्दाज़ होगा कि कहाँ कौन-सी समस्या है ?

दौड़ : शहर की ओर

श्रे. : बेरोज़गारी की समस्या प्रमुख है; यद्यपि जैनों में बेरोज़गारी अन्य वर्गों की तुलना में कम है। जैनों में शिक्षितों की संख्या अधिक है । जैसे–महाराष्ट्र में नैन खेती का काम करते हैं; अतः उनकी स्थिति पहले से बहुत अच्छी है; क्योंकि उन्होंने खेती में अच्छी दक्षता प्राप्त कर ली है; किन्तु दुर्भाग्य यह है कि आज खेतिहर परिवार का बेटा खेती नहीं करना चाहता। मूल्य बदल गये हैं, मान्यताएँ बदल गयी हैं। खेती के काम को हीन समझा जाता है, इसलिए कोई इंजीनियर बनना चाहता है, तो कोई डॉक्टर; तो कोई सरकारी नौकर। कश्मीर में भी परम्परागत ललित कला / व्यापार-व्यवसाय छोड़ कर आज का लड़का शहर की ओर दौड़ रहा है। इससे समस्याएँ बढ़ ही रही हैं; घटने की जगह। हमें चाहिये कि हम श्रम की प्रतिष्ठा बढ़ायें, और जिन कामों में कम-से-कम हिंसा होती हो (या न होती हो) उन्हें चुनें।

ने. : दो शब्द हैं – 'समाज-सेवा' और 'मानव-सेवा'। इन दोनों में क्या कोई फर्क है ?

श्रे. : मानव-सेवा यानी व्यक्ति-सेवा और समाज-सेवा यानी ऐसी सेवा जिसका किसी समुदाय पर प्रभाव पड़ता हो।

ने. : ईसाई मिशनरियाँ जो काम करती हैं वह मानव-सेवा ही तो है ?

श्रे. : इस सेवा का उद्देश्य क्या है ?

ने. : धर्म-प्रचार हो सकता है; लेकिन वे मानव-सेवा के साथ समर्पित मन से यह काम भी करते हैं।

'स्पिरिट' लें

श्रे. : एक तो यह कि मिशनरियों के पास अपार धन विदेशों से आता है। जनसंख्या-वृद्धि को भी जन-सेवा का लक्ष्य बना लिया गया है; क्योंकि जिनका संख्या-बल अधिक है, उनका राजनैतिक प्रभाव भी उतना अधिक है। साफ-सुथरे शब्दों में मैं इसे जन-सेवा या समाज-सेवा नहीं कहूँगा। यद्यपि वे जन-सेवा करती हैं, तथापि यह जानना ज़रूरी है कि उनकी इस सेवा की पृष्ठभूमि क्या है; क्योंकि इसे समझे बगैर उसकी 'क्वालिटी' के बारे में हम कुछ कह नहीं सकेंगे।

ने. : उस पैटर्न (अनुकरण) पर यदि कुछ काम हो, तो वह ठीक होगा क्या ?

श्रे. : ईसाइयों की दृष्टि से ठीक है।

ने. : वे जिस काम को उठाते हैं उसे सेवा और समर्पण की भावना से करते हैं; इस 'स्पिरिट' (चेतना/भावना) को तो हम लें ही।

आत्मादिरात्ममध्यश्च तथात्मान्तश्च नेन्द्रियः ।
गृह्यते योऽविभागी च परमाणुः स उच्यते ।।

वही जिसका आदि है, वही जिसका मध्य है, वही जिसका अन्त है, इन्द्रियों से जिसका ग्रहण नहीं होता, तथा जिसके अन्य विभाग नहीं हो सकते वह परमाणु कहा जाता है । —अमृतचन्द्रसूरि

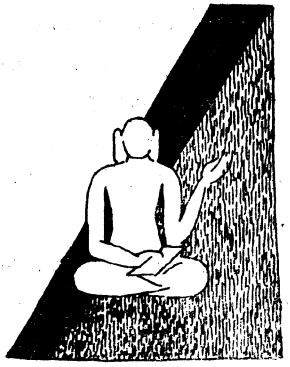

श्रे. : शिक्षा और चिकित्सा-सम्बन्धी सेवाओं के माध्यम से वे लोगों को अपनी ओर खींचते हैं; लोग आकृष्ट होते हैं; दूसरी बात यह है कि यदि कोई ईसाई हो जाता है, तो उसका 'स्टेटस' (दर्ज़ा) बढ़ जाता है। उसके साथ रोटी-बेटी का व्यवहार भी होने लगता है। खान-पान एकमेक हो जाता है; लेकिन दूसरे वर्ग इतनी उदारता नहीं बरत पाते; संख्या-वृद्धि का एक कारण यह भी है। मनोवैज्ञानिक तथ्य यह है कि आदमी जिस जगह रहता है, वहाँ वह चाहता है कि उसका महत्त्व बने, उसके साथ बराबरी का सलूक हो; वह हम कहाँ कर पाते हैं ?

ने. : बड़ा बुनियादी सवाल हमारे सामने है कि ये जो अनुसूचित जातियाँ, पिछड़े वर्ग हैं और आदिम जातियाँ हैं — क्या जैन अपना समाज-सेवा-कार्य उन तक विस्तृत कर सकते हैं ?

सराकों-में-कार्य

श्रे. : करना चाहिये। बिहार में सराकों में कुछ कार्य हुआ है।

ने. : क्या आप उस क्षेत्र में कभी गये हैं ? कैसा लगा आपको ? क्या समाज-सेवा के उपयुक्त वह क्षेत्र है ?

श्रे. : अगर हम दिगम्बर-श्वेताम्बर के भेद भूल जाएँ, तो वहाँ बहुत अच्छा काम हुआ है; हो सकता है ।

ने. : सराक तो जैन ही थे। 'सराक' शब्द 'श्रावक' में से बना है।

श्रे. : श्रावक तो वे अब भी हैं, जैन न होते हुए भी। उनके घर का रहन-सहन, खान-पान, अहिंसक व्यवहार, देव-दर्शन और जो भी जैन संस्कार हैं, उनका वे पालन करते हैं।

ने. : यदि इनमें हमें काम करना है, तो उस संदर्भ में समाज-सेवा का स्वरूप क्या होगा ?

श्रे. : हम ज्ञान-दान से शुरू करेंगे।

ने. : उनके जीवन-स्तर को उठाने का कोई प्रयत्न हम कर पायेंगे क्या?

श्रे. : हाँ। एक बात मुझे बताइये कि कोई आदमी जैनधर्म, या जैन समाज के प्रति आकृष्ट क्यों हो?

ने. : यही प्रश्न तो मैं आपसे पूछना चाहता था; आपने पहल कर ली; चलिये, आप ही उत्तर दे डालिये।

नंगा सच

श्रे. : मुझे नहीं लगता कि हम उन्हें आकर्षित कर पा रहे हैं। आर्थिक सहयोग आदि हम कहाँ उपलब्ध करा रहे हैं?

ने. : किन्तु यह तो लोभ-लालच को जन्म देगा; शायद यह ठीक नहीं होगा।

श्रे. : ठीक नहीं होते हुए भी यह एक नग्न सत्य है, एक कटु सत्य है।

ने. : यदि इस कड़वी सचाई को मैदान में लाया जाए तो इसका स्वरूप क्या होगा?

श्रे. : पहले उनका जीवन-स्तर उठाना होगा, ताकि वे एक अहिंसक जीवन-शैली अपना सकें।

ने. : उन्हें दृष्टि और स्तर दोनों देने होंगे?

श्रे. : दोनों। आकर्षित वे तभी होंगे।

ने. : इस समय जैनों में ऐसी तो कोई संस्था है नहीं?

श्रे. : शायद नहीं है।

ने. : क्या आप चाहते हैं कि इस तरह की कोई संस्था बने?

श्रे. : बन सके तो बहुत अच्छा है।

ने. : उसके लिए धन मिल जाएगा?

श्रे. : प्रयत्न करने पर मिल सकता है; अगर लक्ष्य बहुत महत्त्वाकांक्षी हुआ तो कठिनाई हो सकती है।

ने. : हम उन्हें कोई सामाजिक हिस्सेदारी दे पायेंगे?

पैसेवाले, बगैर पैसेवाले

श्रे. : यह कदाचित् बहुत मुश्किल है। समाज में अनेक जातियाँ-उपजातियाँ हैं, जिनमें सीमित रोटी-बेटी-व्यवहार है। समाज में दो वर्ग भी हैं; पैसेवाले, गैर-पैसेवाले। आज ये दो वर्ग हो गये हैं और शेष सारे वर्ग-उपवर्ग खत्म हो चले हैं। देखा गया है कि पैसेवाला पैसेवाले के साथ व्यवहार करता है।

ने. : क्या आप इसे अच्छा मानते हैं?

श्रे. : मैं तो इसे अच्छा नहीं मानता; लेकिन यह एक नग्न सत्य है।

ने.: इसका प्रतिकार क्या हो? कोई समाधान तो आखिर ढूँढ़ना ही होगा। क्योंकि ये श्रेणियाँ हैं और आप इनके होने को उचित नहीं मानते हैं।

श्रे.: जमाने के अनुसार हमें बदलना होगा, आज जिस युग में हैं, उसके उजले-काले दोनों पहलू हैं।

ने.: जैनधर्म में अपरिग्रह नाम की चीज तो है, वह हमारा एक महत्त्वपूर्ण व्रत है, किन्तु बदकिस्मती से वह पूरी तरह हम पर लागू ही नहीं है, अन्य कई लोगों पर वह सहज ही लागू दीख पड़ रहा है।

श्रे.: किसने परिग्रह नहीं रखा? कमोबेश सबके पास है। व्यापक अर्थ में आश्रमों में शायद कम है।

ने.: किसी बड़ी सचाई को कहने से बच रहे हैं?

श्रे.: पाप का यह काम मुझसे करवाते हैं? (हँसी)।

ने.: मैं ही 'हाँ' कहे देता हूँ, क्योंकि मैं तो संपादक हूँ। मेरा अधिक कुछ बिगड़ेगा नहीं।

अपरिग्रह – क्रमशः अमल

श्रे.: हमारा जो अपरिग्रह-व्रत है, वह व्यवहार्य है। उसे क्रमशः अमल में लाया जा सकता है। मध्यप्रदेश के, शायद विदिशा के, कोई संपन्न व्यक्ति थे, जिन्होंने सात लाख से अधिक न रखने का संकल्प ले लिया था। इस तरह के परिमाण द्वारा हम परिग्रह से मुक्त हो सकते हैं।

ने.: यानी उन्होंने एक सीमा बाँध ली थी।

श्रे.: जहाँ सात लाख की सीमा का स्पर्श हुआ कि उन्हें चिन्ता होती थी कि इसे खर्च करना है। ये सब शास्त्रोक्त सिद्धान्त हैं और अच्छे सिद्धान्त हैं। सिद्धान्त तो होने ही चाहिये। कभी-न-कभी इनका चुम्बक असर करता है। अपरिग्रह तो अहिंसा का ही एक हिस्सा है; लेकिन आज चौतरफा जो बातावरण है, जिसमें व्यक्ति जिस तरह जी रहा है, वह प्रलोभनों से इतना भरा हुआ है कि आदमी इच्छा होते हुए भी उनसे बच नहीं पाता।

ने.: यहाँ तक कि 'मुनि' भी?

श्रे.: कह नहीं सकता।

ने.: मान कर चलूँ मैं कि सबसे बड़ी समाज-सेवा यह होगी कि हम अहिंसा से ले कर अपरिग्रह तक के जो पाँच व्रत हैं, उन्हें किसी प्रकार जन-जीवन में लौटायें?

श्रे.: साहित्य-जैसे प्रभावशाली माध्यमों द्वारा; किन्तु उसका रूप 'प्रैक्टिकल' कुछ होना चाहिये।

ने.: 'प्रैक्टिकल' – इसे जरा स्पष्ट कीजिये।

श्रे.: कुछ लोग तैयार हों, जो इन व्रतों को जीवन में प्रकट कर सकें।

पहले था, लेकिन आज

ने. : मैं ईसाइयों के (विदेशों के) बारे में पढ़ रहा था कि वे अपने धन का क़रीब दस प्रतिशत समाज-सेवा के लिए अलग रख देते हैं; क्या ऐसा कोई प्रतिशत हम भी समाज-सेवा के निमित्त अलग रख सकते हैं ?

श्रे. : ऐसा पहले था। ईसाइयों में ही क्यों, हमारे देश में ही था; अपनी आमदनी का दस या बारह प्रतिशत हम अलग रख देते थे; लेकिन आज एक बाधा खड़ी हो गयी है। हमारा जो टैक्स-स्ट्रक्चर (कर-ढाँचा) है, वह इतना बड़ा है कि अगर कोई आदमी ईमानदारी से रह कर अपना घर-खर्च चलाना चाहे, वह चला नहीं सकता; नाना कठिनाइयाँ उसके सामने आ खड़ी होती हैं। आप देने की बात कर रहे हैं; किन्तु कोई देगा तभी न जब उसकी गाँठ में बचेगा। वस्तुतः आज न्यायोचित जीवन-यापन बहुत कठिन हो गया है। यह भी नग्न सत्य है।

ने. : नग्न सत्य तो आपने बहुत सारे दे दिये; आप 'दिगम्बर' हैं न, शायद इसीलिए ?

श्रे. : मुझे जो नज़र आ रहा है, बता रहा हूँ; कल्पित तो कुछ है नहीं।

ने. : समाज-सेवा के संदर्भ में अहिंसा का स्वरूप क्या हो सकता है ? अहिंसा का आम प्रतिपादन हम कैसे करें ?

श्रे. : पहले बतायें कि अहिंसा क्या है ? उसे सरल शब्दों में लोगों को समझायें।

'अ' यानी क्रमशः अल्प

ने. : अहिंसा का एक अर्थ मैंने यों लिया है : 'अ' यानी 'अल्प'; क्योंकि संपूर्णतया अहिंसक होना संभव नहीं है। स्वल्प हिंसा यानी कम-से-कम हिंसा व्यवहार्य है; तो क्या हम यह बात कहें ?

श्रे. : कम-से-कम हिंसा यानी जीवन-निर्वाह के लिए जितनी अनिवार्य हो, मन में करुणा रखते हुए, उतनी होने दें। वह क्षम्य है। प्रश्न नीयत का है; यह कि हमारी मंशा क्या है ?

ने : 'हिंसा न करना' यह शायद ठीक नहीं है; 'अहिंसा का पालन' यह कहना अधिक ठीक है। निषेध की जगह स्वीकृतिमूलक जीवन-शैली की ओर हम आयें।

श्रे. : कोई आदमी यहाँ-से-वहाँ जाएगा, हिंसा तो उसमें भी होगी।

ने. : विनोद के लिए यह कथन ठीक है।

श्रे. : 'विनोद' नहीं, 'सत्य' है; इस पर गंभीरता से विचार कीजिये।

ने. : हिंसा में मंशा का प्रश्न प्रमुख है।

श्रे. : यदि आपके मन में हिंसा का अंकुर नहीं है, भाव नहीं है, तो वहाँ वह अहिंसा की स्थिति है।

ने. : अहिंसा के प्रचार में ये तमाम बातें आ जाएँगी; यथा – शाकाहार, शराबबन्दी आदि ।

अतियों-से-बचें

श्रे. : वैसे यदि कोई अतिवादी कहना चाहेगा तो साग खाने में, दूध पीने में भी हिंसा बतायेगा ।

ने. : यदि ऐसा कहेंगे, तो बहुत गड़बड़ हो जाएगी ।

श्रे. : हो तो जाएगी; किन्तु जो स्थितियाँ हैं उनसे मुँह मोड़ना उचित नहीं है । हम कहें कि हिंसा-अहिंसा हमारे चित्त की स्थितियाँ हैं । निर्णायक तत्त्व चित्त ही है ।

ने. : फिजूल की दलीलें शायद लोगों में अश्रद्धा ही उत्पन्न करेंगी ।

श्रे. : अश्रद्धा आ जाएगी, पर वह चल नहीं पायेगी; व्यवहार्य वह नहीं है ।

ने. : अहिंसा का वह स्वरूप प्रकट होना चाहिये, जिसमें जीवन में विषमता कम-से-कम हो ।

श्रे. : कम-से-कम परिग्रह रखें; उतना, जितना जीवन के लिए उपयोगी और अनिवार्य हो ।

ने. : सत्य का क्या स्वरूप होगा ? आप तो 'नग्न सत्य' बोल रहे हैं, मैं तो इस क्षण, मात्र सत्य की बात कर रहा हूँ । बतायें कृपया, आज के संदर्भ में सत्य का क्या स्वरूप हो सकता है ?

बहुत बड़ी छूट

श्रे. : 'सत्यं ब्रूयात्, अप्रियं न ब्रूयात्' – अप्रिय सत्य न बोलें ।

ने. : यह तो बहुत बड़ी छूट है कि हम ऐसा सत्य बोलें, जो दूसरों को अच्छा लगे ।

श्रे. : कितने ही उदाहरण इसके हैं । देखें कि हमारे असत्य बोलने का हेतु क्या है ? यदि उसका हेतु समाज-कल्याणकारी है, तो शायद वह अनुचित नहीं है; उसका सम्बन्ध करुणा से है, वस्तुतः कसौटी नीयत की होनी चाहिये, उस पर कसें और बोलें ।

ने. : इस तरह तो झूठ को भी सत्य की प्रतिष्ठा मिल जाएगी ।

श्रे. : ऐसा नहीं होगा, लेकिन परिस्थितिवश, किसी कल्याणकारी उद्देश्य से झूठ बोलना क्षम्य है । यों, असत्य तो असत्य ही रहेगा; लेकिन यहाँ विशेष संदर्भ में रख कर हम उसे देखें ।

प्रामाणिक बनें

ने. : अचौर्य की क्या शक्ल होगी ? लोग कम तौलते हैं, मिलावट करते हैं, समाज-सेवा के अन्तर्गत इसकी क्या स्थिति होगी ?

श्रे. : मिलावट (अडल्ट्रेशन) तो स्पष्ट चोरी है; अन्ततः हिंसा भी है।

ने. : मैं सुनता हूँ कि जैन अधिक मिलावट करते हैं ?

श्रे. : आपने अख़बार में पढ़ा होगा, कितनी भयंकर चीज हुई, वह भी एक जैन द्वारा, जिसे कहते शर्म आती है – वनस्पति में चर्बी मिलाने की जघन्य घटना।

ने. : समाज-सेवा में यह आये कि लोग प्रामाणिक कार्य करें।

श्रे. : यदि प्रामाणिकता बढ़ती है, तो काफी काम हो सकता है। लोग प्रामाणिक व्यक्तियों पर आज भी आँख मूँद कर विश्वास करते हैं; उन्हें सम्मान देते हैं।

ने. : 'प्रामाणिकता' की स्थापना ही वस्तुतः आज सब में बड़ी समाज-सेवा है।

श्रे. : यदि प्रामाणिकता कसौटी बन जाए, तो बहुत-कुछ आपोआप हो सकता है।

ने. : इस तरह जैनों में चरित्र अपने-आप लौट आयेगा।

श्रे. : एक ज़माना था, जब यह समझा जाता था कि किसी जैन को फाँसी की सजा देना संभव ही नहीं है। आम तौर पर माना जाता था कि कोई जैन ऐसा जुर्म करेगा ही नहीं जो फाँसी, या कारावास की सजा के योग्य हो। असल में उसके संस्कार ही ऐसे बन गये थे।

ने. : अब तो ऐसे केस भी हो गये हैं जिनमें जैनों ने क़त्ल किये हैं; अतः धर्म को इस प्रकार प्रचारित किया जाए कि प्रामाणिकता/अचौर्य जन-जीवन में लौट आये। ब्रह्मचर्य का क्या रूप हो सकता है ? परिवार-नियोजन के संदर्भ में भी हम इस पर विचार कर सकते हैं।

शरीर-से-आगे

श्रे. : ब्रह्मचर्य का सरोकार सिर्फ शरीर से ही नहीं है; वह इससे बहुत आगे है। सब से पहले हम देखें कि अंकुर कहाँ है ? मन-मस्तिष्क में। मस्तिष्क के बाद क्रिया है। अपने मस्तिष्क पर जो नियन्त्रण रख सकता है, वह शरीर को भी कब्जे में रख सकता है। ब्रह्मचर्य-पालन में भूमिका यही होनी चाहिये।

ने. : चिन्तनात्मक होना चाहिये।

श्रे. : हाँ। ऐसा होना ज़रूरी है।

ने. : यह सब परिवार-नियोजन (फेमिली प्लेनिंग) के विरोध में चला जाता है।

श्रे. : परिवार-नियोजन राजनैतिक और आर्थिक विषय है।

ने. : और ब्रह्मचर्य धार्मिक या नैतिक विषय है।

श्रे. : हाँ, दोनों। वे इसलिए परिवार-नियोजन चाहते हैं कि लोगों की संख्या न बढ़े; क्योंकि हमारा उत्पादन उतना नहीं है कि बढ़ती हुई आबादी का पेट भर सकें। राजनीति ने भी कम आबादी को उचित माना है।

तथापि गौरवाभावान्न पातोऽस्य प्रसज्यते ।
वृन्तसम्बन्धविच्छेदे पतत्याम्रफलं गुरु ।।

–अमृतचंद्रसूरि

स्थानवान् होने पर भी गुरुत्व का अभाव होने के कारण मुक्त जीव के पतन का प्रसंग नहीं आता, क्योंकि शाखा से संबन्ध टूटने पर गुरु (वजनी) आम का फल नीचे गिरता है। न्यूटन का सेव, अमृतचन्द्र सूरि का आम दोनों ही का फल एक है–गुरुत्वाकर्षण; फर्क सिर्फ इतना है कि अमृतचन्द्रसूरि ईसा की दसवीं और सर आइज़क न्यूटन सत्रहवीं शताब्दी में हुए।

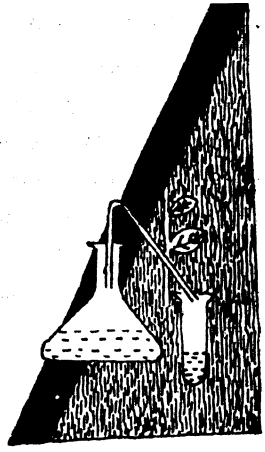

ने. : ब्रह्मचर्य व्यक्ति के उत्थान के लिए है।

श्रे. : ब्रह्मचर्य आत्मोत्थान के लिए है, जब कि परिवार-नियोजन समाज-कल्याण के लिए है। यह परिस्थितियों का दबाव है; अपरिहार्यता। ब्रह्मचर्य को वह रोकता नहीं है, सिर्फ इतना कहता है कि आबादी की बढ़त रोको।

ने. : बह वेल्यू (मूल्य) अलग है। अब आता है अपरिग्रह; इसे ले कर क्या हो ?

श्रे. : मूर्च्छा (मोह) का निरोध अपरिग्रह है। मूर्च्छा परिग्रह है।

एक-बटा-सौ

ने. : छोटे-से-छोटा, ग़रीब-से-ग़रीब आदमी सौ-में-से-एक रुपया बचाने की कोशिश करे और डाल दे अपने अंशदान के रूप में उसे समाज-सेवा के निमित्त, मैं समझता हूँ, ऐसा कोई प्रयोग अवश्य होना चाहिये।

श्रे. : हमारे जो मुनिजन/साधुजन हैं, वे लोगों को समझायें कि यह भी धर्म का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। ऋषि-मुनियों ने ही बहुत से विषयों को धर्म के दायरे में ले लिया, ताकि लोग भय, या श्रद्धा के कारण उन्हें करें, या उनसे बचें। ऐसे ही विषय ये हैं : ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अहिंसा, अचौर्य। इन सब की अच्छी/निःशंक धार्मिक व्याख्याएँ की जानी चाहिये।

ने. : अच्छी यानी क्या ?

श्रे. : यानी व्यापक, स्पष्ट, प्रेरक, और प्रभावशाली।

ने. : उदार, या विस्तृत, कैसी ?

श्रे. : यह ज़रूरी नहीं है कि बहुत विस्तार हो; यदि हज़ार-में-से-एक आदमी भी प्रेरित/प्रभावित होता है, तो यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि होगी।

ने. : पहले 'उद्धारक' को 'उद्धृत' होना होगा। क्या दीया-तले अँधेरा उचित होगा ? वह आत्मोद्धार नहीं करेगा ?

श्रे. : सब में पहली कसौटी ही आत्मोत्थान होगी, यदि कोई व्यक्ति उपदेश तो दे रहा है, किन्तु उसे अपने-जीवन में नहीं उतार रहा है, तो वह सिर्फ मज़ाक होगा उसका लोक-हृदय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

ने. : आप धनी-मानी, संपन्न है, अतः मानते हैं कि सेवा के लिए धन ज़रूरी है ? जिसके पास धन नहीं है, उसके लिए सेवा का स्वरूप क्या होगा ? क्या वह सेवा कर सकता है ?

संकल्प, या संपदा

श्रे. : वह तन-मन से सेवा कर सकता है। सेवा के लिए समर्पण आवश्यक है।

ने. : मैं 'धन' की बात कर रहा हूँ।

श्रे. : मैं भी वही कह रहा हूँ। छोटे-से-छोटा काम हो; मसलन आश्रम बनाना है, तो क्या धन के बगैर वह बन सकता है ?

ने. : नहीं, लेकिन यदि किसी का संकल्प वैसा है, तो फिर उस संकल्प के लिए धन आ जाएगा।

श्रे. : आज की परिस्थिति में, जब तक दूसरों को उसके कार्य के प्रति श्रद्धा नहीं होगी, धन नहीं आयेगा। सिर्फ कहने-भर-से धन नहीं आयेगा। उदाहरण के लिए शंकराचार्य के मठ हों, या जैनों के गुरुकुल/आश्रम; कोई बगैर धन के नहीं चल सकता। इस तरह सोचें तो लगेगा कि पहली अनिवार्यता धन ही है। कोई आश्रम ऐसा नहीं है, जो यह पाठ पढ़ाता हो कि बगैर धन के कोई कार्य हो सकता है; फिर भी धन की एक सीमा है, जो मैं नहीं देख पर रहा हूँ।

ने. : आप यह मान कर चल रहे हैं कि सेवा के लिए धन ज़रूरी है; धन के बिना सेवा होगी नहीं। संकल्प से धन बड़ा है, या धन से संकल्प ?

श्रे. : दोनों ज़रूरी हैं। एक कर्मठ कार्यकर्ता धन ले आयेगा; लेकिन उसे भी धन ही लाना होगा। आश्रम चलाने के लिए अथवा कोई और कार्य के लिए।

ने. : इसमें नम्बर-१, किसको देंगे ?

श्रे. : आदमी को।

चरित्र पहले

ने. : आदमी के संकल्प को ?

श्रे. : आदमी के चरित्र को, संकल्प की बात पीछे है।

ने. : पहले चरित्र, फिर संकल्प, फिर धन।

श्रे. : हाँ।

ने. : इनका जब त्रिकोण बनेगा, तभी समाज-सेवा हो सकती है। इस त्रिभुज में धन को आधार (बस) मान लें, और अन्य दो भुजाएँ मानें चरित्र तथा संकल्प, इस तरह समाज-सेवा का एक प्रशस्त त्रिकोण बन जाएगा। यह एक बात हुई। क्या दान को सेवा कहेंगे ?

श्रे. : 'दान' शब्द अच्छा नहीं है; क्योंकि जिसे भी वह दिया जाता है, वह हीन / छोटा दीख पड़ता है। मेरी राय में 'दान' शब्द ही ग़लत है।

ने. : 'दान' का एक अर्थ आया है 'संविभाग', अधिक का समान; किन्तु सद्भावनापूर्ण वितरण।

श्रे. : लेकिन 'दान' में से जो प्रचलित ध्वनि निकलती है, वह तिरस्कारपूर्ण है। देने वाले और लेने वाले में कोई भावनात्मक खाई नज़र आती है; छोटे-बड़े होने की स्थिति बनती है।

ने. : देने वाले में 'दंभ' लगता है ?

श्रे. : हाँ।

'दान' नहीं, 'योगदान'

ने. : लेकिन दान की परम्परा तो है, उसे उखाड़ना मुश्किल है। 'दान' की जगह और क्या शब्द ला सकते हैं; धन को समाज तक पहुँचाने की प्रक्रिया के लिए ?

श्रे. : 'योगदान' कह सकते हैं।

ने. : 'दान' तो उसमें फिर भी है।

श्रे. : कैसा 'दान' ?

ने. : 'योगदान' में 'दान' है (हँसी)।

श्रे. : दान केवल धन का होता है ; योगदान उसके अलावा और बहुत कुछ है।

ने. : शब्द तो बहुत अच्छा है योगदान।

श्रे. : इसमें दृष्टिकोण बदल जाता है।

ने. : धर्म के सिलसिले में 'योगदान' कैसे कहेंगे ? वह किसी पर भी लागू हो सकता है; जैसे मैं लिख रहा हूँ, तो यह भी योगदान है। आप धन दे रहे हैं, तो वह भी योगदान है।

श्रे. : जिसके पास जो है वह उसे दे तो वह योगदान है।

ने. : 'दान' की जगह 'योगदान' शब्द काम में लाना चाहिये, यही न ? अर्थात दान को अब इस्तीफा दे देना चाहिये।

श्रे. : इस्तीफा दिला दें; लेकिन वह देने वाला है नहीं (हँसी)।

ने. : उसकी जगह योगदान आ जाए। यह एक अच्छा मूल्य आपने सामने रखा। कुछ लोग ऐसे हैं, जो नाम के लिए सेवा करते हैं, कुछ लोग ऐसे हैं, जो निष्काम सेवा करते हैं, वे कम हैं।

कामना, या इरादा

श्रे. : कोई भी कार्य करने से पहले मन में जो प्रतिक्रिया, या संकल्प उठेगा, वही सबमें महत्त्वपूर्ण है।

ने. : कामना ?

श्रे. : कामना कहें, या कहें इरादा, इंटेंशन है।

ने. : इसे जानना तो बहुत मुश्किल काम है।

श्रे. : व्यक्ति खुद तो उसे जानेगा न ?

ने. : वह उसे बताता कहाँ है ?

श्रे. : कोई बताये, या न बताये, अगर उसका इरादा···।

ने. : चेहरे पर झलक जाएगा।

श्रे. : आज नहीं, तो कल; उसके जीवन-काल में, या बाद में वह प्रकट हो जाएगा; किन्तु जब तक उसका संकल्प स्पष्ट नहीं है; ठोस कुछ हो नहीं पायेगा।

ने. : क्या आप सोचते हैं कि निष्काम सेवा कहीं संभव ही नहीं है ?

श्रे. : आप देखिये, तीर्थंकर बनने से पहले उनके मन में यह तो आया ही कि उन्हें मुक्ति चाहिये। तीर्थंकर भी बिलकुल शुरू में 'निष्काम' नहीं रह सके। 'मुक्ति-खोज' की कामना से ही तो वे वन की ओर गये।

ने. : 'मुक्ति की कामना' यदि है तो वह भी मुक्ति में आड़े आती है।

श्रे. : वह एक अलग विषय है।

ने. : पूर्णतः भिन्न।

श्रे. : तो तीर्थंकर वन में क्यों गये ?

ने. : कामना उनके उस जाने के पीछे थी; लेकिन थी वह शुभ कामना।

श्रे. : कामना शुभ हो या अशुभ लेकिन है कामना; निष्काम तो नहीं हुए ? शुरू में।

सेवा : नाम की, काम की

ने. : नाम-के-लिए-सेवा, या काम-के-लिए-सेवा, दोनों में श्रेयस्कर कौन-सी सेवा है ?

श्रे. : नाम-के-लिए-सेवा करना; और सेवा के द्वारा बाद को नाम हो जाना दोनों स्थितियों में काफी अन्तर है।

ने. : क्या अन्तर है ?

श्रे. : सिर्फ इसलिए सेवा करना कि मेरी प्रसिद्धि हो, या लोग मेरे गीत गायें, ठीक नहीं है; किन्तु जो सेवा करता है, उसके मन में थोड़ी-बहुत यशोकामना होती ही है। जीवन-में-सेवा हो सकती है, पर सेवा-के-लिए-जीवन थोड़ा मुश्किल है।

ने. : यदि कोई सेवा-के-लिए जीवन अर्पित कर दे तो ?

श्रे. : यह आदर्श की बात है और हम बात कर रहे हैं व्यापकता की। करोड़ों-करोड़ में संभव है कोई आदमी हो जिसने सेवा-के-लिए अपना समग्र जीवन निष्काम भाव से समर्पित कर दिया हो।

ने. : वह दुर्लभ (रेअर) है।

श्रे. : हाँ, उसका उदाहरण नहीं दिया जा सकता।

ने. : वह युगापेक्षा (युग की माँग) से पैदा होता है।

श्रे. : 'यदायदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत' * वाली बात है।

ने. : हो जाए तो हो जाए।

श्रे. : हो जाए तो बहुत शुभ है; लेकिन उदाहरण नहीं दिया जा सकता। उदाहरण तो उसी का दिया जा सकता है, जो लोकविश्रुत हो।

ने. : 'जीवन-के-लिए-सेवा' और 'सेवा-के-लिए जीवन' – इन दोनों में से कौन-सी स्थिति उत्कृष्ट है ?

जीवन-में-सेवा

श्रे. : इसे मैं यों कहूँगा : जीवन-में-भोग हो सकता है, किन्तु भोग-के-लिए-जीवन नहीं है।

ने. : 'खाने -के-लिए जीवन' या 'जीवन-के-लिए-खाना' ?

श्रे. : जीवन में भोग हो सकता है। केवल खाना ही नहीं, उसमें सब प्रकार की भोग-सामग्री शामिल है। यदि कोई माने कि मेरा जीवन सिर्फ भोग-के-लिए है, तो यह उचित नहीं है।

ने. : सेवा (योग) और भोग में तो बहुत अन्तर है। आप फिर उन्हीं शब्दों को लीजिए। इन्हें सेवा पर कैसे लागू करेंगे ?

श्रे. : जीवन में जो सेवा हो सकती है; उसे जरूर करें; लेकिन कौन आदमी ऐसा है (दुर्लभ विभूतियों को जाने दीजिये), जो केवल सेवा करता है ? ऐसे लोग अवश्य हैं जो अपने परिवार का पालन भी करते हैं; दोस्तों का ध्यान भी रखते हैं; समाज को भी देखते हैं। वे यदि केवल सेवा ही करते रहें, तो अन्य कुछ कर ही नहीं सकते मेरी दृष्टि में सेवा-के-लिए-जीवन नहीं, वरन् 'जीवन-में-

* गीता 4.-7

सेवा' हो सकती है, होनी चाहिये; किन्तु यदि सेवा-ही-सेवा होगी, तो व्यक्ति क जीवन-यापन मुश्किल हो जाएगा। जब तक समाज ऐसे लोगों को संपूर्ण संरक्षण नहीं देता, हम उनके होने की कल्पना भी नहीं कर सकते।

ने. : 'जीवन-में-सेवा' अधिक व्यावहारिक लगता है; इसे हम 'सेवामय जीवन' भी कह सकते हैं?

श्रे. : कह सकते हैं।

ने. : क्योंकि सेवा-में-निमग्न कोई आदमी चले और एक गृहस्थ के कर्तव्यों का पालन भी करे।

यह वह नग्मा है

श्रे. : एक शेर सुनाता हूँ

ने. : सुनाइये।

खिदमत[1] के लिए कुछ खास दिन मख्सूस[2] होते हैं।
यह वह नग्मा[3] है जो हर साज[4] पर छेड़ा नहीं जाता॥

ने. : 'खिदमत' की बड़ी अच्छी इबारत इस शेर में अपने दे दी।

श्रे. : 'ख़िदमत' मैंने जोड़ दिया है। असल में लफ्ज़ यहाँ था 'मोहब्बत'।

ने. : एक बात मुझे ज़रूर लगी कि आप कभी-न-कभी शायरी, या कविता करते रहे हैं; क्योंकि किसी एक शब्द की जगह कोई और मौज़ूं शब्द चस्पा करना बड़ा मुश्किल होता है।

श्रे. : सेवा असल में कुछ खास लोग ही कर सकते हैं; उसके लिए त्याग और समर्पण की ऊँची भावना चाहिये।

ने. : हालात ही चुनते हैं; कोई और आदमी तो चुनाव कर नहीं सकता।

श्रे. : इसे तो मैं मानता ही नहीं हूँ कि कोई आदमी निष्काम सेवा करता है; लेकिन निष्कामता कमोबेश हो सकती है। सारे लोग लोकेषणा के लिए ही सेवा नहीं करते; कई बार ऐसा भी होता है कि सेवा के माध्यम से शोहरत अनायास मिल जाती है।

ने. : यह महत्त्वपूर्ण है कि सेवा के माध्यम से ख्याति मिल जाती है।

श्रे. : उसे संतोष होता है कि मेरे काम को लोगों ने सराहा; उसे आदर की दृष्टि से देखा।

ने. : यह तो न्यूनतम (मिनिमम) है, यह कामना प्रायः हर आदमी में होती है। इसे नकारा नहीं जा सकता। अच्छा, अब यह बताइये कि समाजसेवी हम किसे कहेंगे? उसमें क्या-क्या गुण होने चाहिये?

1. सेवा, 2. सुरक्षित, मुकर्रर, 3. गीत, 4. वाद्य।

एक छोटा-सा प्रयोग करें। एक बर्तन में गरम पानी रख लें, एक बर्तन में ठण्डा पानी रख लें, और एक बर्तन में साधारण पानी रख लें––न गरम, न ठण्डा। एक हाथ को आग-से उबलते पानी में डाल दें और एक हाथ को बर्फीले ठण्डे पानी में डाल दें। फिर दोनों हाथों को निकाल कर साधारण पानी में डाल दें और तब दोनों हाथ अलग-अलग ख़बर देंगे। एक हाथ कहेगा कि पानी ठण्डा है और एक हाथ कहेगा कि पानी गरम है; वह पानी ठण्डा है, या गरम? अगर एक ही साथ एक हाथ को पानी ठण्डा और एक को गरम मालूम पड़ता है, तो हमें समझना पड़ेगा कि पानी न तो ठण्डा है और न गरम है। हमारे हाथ के सापेक्ष (रिलेटिविटी) में वह ठण्डा और गरम मालूम होता है। (यह है अनेकान्त और स्याद्वाद)।

—आचार्य रजनीश

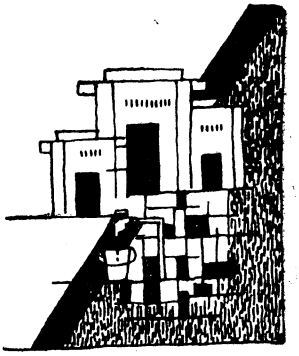

आस्था : पद्धति : दृष्टि

श्रे. : एक तो उसमें होनी चाहिये अपने काम के प्रति आस्था।

ने. : आस्था किस संदर्भ में?

श्रे. : जो काम लिया है वह ठीक है, अच्छा है। इस तरह का अडिग विश्वास।

ने. : ऐसा कि उसमें से कोई आदर्श प्रकट हो।

श्रे. : दूसरे उसमें लोककल्याण की रचनात्मक दृष्टि होनी चाहिये।

ने. : संक्षेप में, समाजसेवी में कम-से-कम तीन गुण होने चाहिये। दृढ़ विश्वास, स्पष्ट कार्य-पद्धति तथा लोककल्याणकारी दृष्टि।

श्रे. : वास्तव में यह सेवा का चिन्तन-पक्ष है; जब इम्प्लीमेंटेशन (क्रियान्वयन) की बात आती है, तब परख होती है।

ने. : चेतना और चिन्तन;

श्रे. : चिन्तन में तो उसकी आस्था है; लेकिन व्यवहार में वह कैसा सिद्ध होता है? व्यवहार में भी उतना ही प्रामाणिक उसे होना चाहिये।

ने. : उसे निष्कलंक होना चाहिये। यह शब्द शायद आपको जमेगा नहीं। आप कहेंगे, कोई पूर्णतया निष्कलंक हो नहीं सकता; पूरी तरह कोई निष्काम हो, यह संभव नहीं है।

श्रे. : मेरा कोई आग्रह नहीं है।

ने. : *आग्रह भले ही न हो, लेकिन वास्तविकता तो यह है कि कोई पूरी तरह से निष्काम होगा, तो वह संसार में रहेगा ही क्यों? उसकी स्थिति बिलकुल* बदल जाएगी।

श्रे. : चाहे तीर्थंकर हों, राम हों, कोई हों। बाद में परिस्थिति भिन्न रहेगी; लेकिन जब कोई काम शुरू करता है, तब वह शत-प्रतिशत निष्काम नहीं रहता। उस क्षण तो कोई-न-कोई कामना उसमें रहती ही है।

धीरे-धीरे काम मुख्य

ने. : धीरे-धीरे कामना गौण होती जाती है, मुख्य काम रह जाता है। प्रक्रिया यही है : पहले कामना, फिर विशुद्ध लक्ष्य।

श्रे. : आदमी में तमोगुण, रजोगुण हैं।

ने. : सतोगुण भी है।

श्रे. : तीनों हैं। चोर में भी सतोगुण होता है। जिसे बड़े काम करना है, वह तमोगुण को दबाये रखेगा।

ने. : 'सप्रैस' करेगा।

श्र. : दमन करेगा, जितनी उसमें क्षमता होगी, उतना; किन्तु यदि कोई दावा करे कि मुझमें तमोगुण है ही नहीं, तो ऐसा आदमी मुझे कोई दीखता नहीं है।

ने. : आप अपने जीवन-रूपी-भवन की पचहत्तरवीं मंजिल पर खड़े हो कर यह ऐलान कर रहे हैं।

श्रे. : अनुभव किया है। ऐसे आदमी का विन्यास ही नहीं हो सकता जिसमें ये तीनों गुण न हों। धीरे-धीरे वह उनका दमन करता है और सतोगुण को बढ़ाता जाता है।

ने. : यह एक प्रक्रिया है।

श्रे. : आदमी ही वह है जो इन तीनों से युक्त है।

ने. : निष्कर्ष यह कि आदमी स्वयं-सेवा के माध्यम से समाज-सेवा की ओर जा सकता है। स्वयं-सेवा यानी तमोगुण का शमन। इस तरह समाज-सेवा के लिए आदमी तैयार हो जाता है।

श्रे. : समाज-सेवा तमोगुण के साथ भी होती है। मसलन, एक नामी डाकू है, तमोगुण-प्रधान, लेकिन यह जरूरी नहीं है कि उसमें तमोगुण अहर्निश एक-जैसा बना रहे। डाकू भी सेवा कर सकता है। जिस क्षण वह सेवा करता है, उसके मन में रजोगुण की प्रधानता होती है। ऐसी कई कहानियाँ हैं।

ने. : रजोगुण की जगह सतोगुण कहें?

श्रे. : हाँ, सतोगुण । किस्से भी सुने हैं कि डाकू बहुत दयालु होते हैं। अपने गाँव के लोगों को सहायता पहुँचाते हैं। वहाँ की बेटियों को व्याह-शादी के अवसर पर सहायता देते हैं। यह भी सेवा है। तो यह कहना कि व्यक्ति अगर डाकू है, निकृष्ट है, हीन है, तो वह सदैव वैसा ही बना रहेगा, ऐसा नहीं है। परिस्थितिवश उसकी मानसिकता बदल सकती है और वह अच्छे काम भी कर सकता है, अधिक खौफनाक और बुरे काम भी कर सकता है। मारीच को ही लें, जो आगे चल कर महावीर बना। यदि मारीच हमेशा मारीच ही रहता, तो क्या कभी भगवान् महावीर बन सकता था ?

ने. : महावीर की संभावना उसमें थी ?

श्रे. : हरएक में होती है।

ने. : आप कहना यह चाहते हैं कि ऐसी संभावनाएँ हर आदमी में होती है, अतः समाज को चाहिये कि उन्हें प्रकट होने के अवसर दे।

श्रे. : जैनों में एक शब्द है 'अभव्य'। अभव्य' कोई होता है या नहीं, मुझे नहीं मालूम; लेकिन जैनों की मान्यता है कि अभव्य का उद्धार हो ही नहीं सकता।

ने. : वैसे 'भव्य' का मतलब होता है 'होने योग्य', 'अभव्य' यानी 'न होने योग्य'।

श्रे. : भाषा की दृष्टि से।

ने. : यह अर्थ है उसका ।

श्रे. : यह शब्दार्थ है, लेकिन इसका यह निष्कर्ष भी है कि 'अभव्य' कभी 'भव्य' नहीं हो सकता।

ने. : हम यह सभी मानते हैं कि संभावनाएँ हर आदमी में निहित हैं, केवल अवसर की प्रतीक्षा होती है।

दोष किसका ?

ने. : अब हम अपनी चर्चा का पटल बदलते हैं और युवा-शक्ति पर आते हैं। युवा-शक्ति समाज के लिए ऊर्जा का एक अखूट स्रोत है, जो युगान्तर स्थापित कर सकता है। मैं देख रहा हूँ कि जीवन-मूल्यों में जो व्यापक गिरावट है, उसे रोकने में युवा-शक्ति की मदद ली जा सकती है; किन्तु युवा-शक्ति के सामने आज कोई स्पष्ट दिशा और कार्यक्रम नहीं है। इस सिलसिले में आपके क्या विचार हैं ?

श्रे. : मेरे खयाल से हमारी युवा-शक्ति दिग्भ्रमित नहीं है। अभी तक उसे ठीक से अवसर ही नहीं दिया गया है। आज का युवा सुशिक्षित है, जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्तों को वह मानता है। हो सकता है, बहुत से तरुण नियमित मन्दिर न जाते हों, या दिन में भोजन न करते हों, या अन्य धार्मिक क्रियाएँ न करते हो; किन्तु मात्र इतने में-से उसके दिशाभ्रष्ट होने का निष्कर्ष नहीं लिया जा सकता।

ने. : वह क्रियाकाण्ड को न मानता हो।

श्रे. : किन्तु वह धर्म-विहीन नहीं है। यदि उसे समुचित दिशा-दृष्टि दी जाए, अवसर दिये जाएँ तो एक युगान्तरकारी शक्ति वह साबित हो सकता है।

ने. : इसमें दोष किसका है ?

श्रे. : उदासीनता का ।

ने. : 'उदासीनता' बहुत अस्पष्ट शब्द है।

श्रे. : मुझे जहाँ भी अवसर मिला है, मैंने यह बात जैन समाज के संबंध में कही है कि देश के ४०-५० प्रबुद्ध युवकों को एक जगह बुलाया जाए, उनसे अपील की जाए, उन्हें समाज के कार्यों में प्रवृत्त किया जाए, और धीरे-धीरे उन्हें सारा उत्तरदायित्व सौंप दिया जाए। जब तक हम उन्हें मौका नहीं देंगे, तब तक पुरुषार्थ प्रकट कैसे होगा ? उन्हें मौका दें। मुझे विश्वास है कि वे परीक्षा में पूरी तरह सफल होंगे और उत्तरादयत्वि को भलीभाँति निभायेंगे ।

ने. : बात यह है असल में कि हमारी जो सर्वश्रेष्ठ युवा-शक्ति है, वह कहीं व्यापार में, तो कहीं उद्योग में, और कहीं नौकरी में लगी हुई है। उसके पास इतना अवकाश ही कहाँ है कि वह इस तरह के सेवा-कार्यों के लिए समय दे ?

युवा-शक्ति : मौका ले

श्रे. : अवकाश सदैव एक बहाना होता है, जिसे काम करना है, उसे समय मिलता है, वह अवकाश निकाल लेता है। समय कम मिल सकता है; लेकिन बिलकुल वक्त नहीं है, ऐसा वही कहता है, जिसे काम नहीं करना है।

ने. : आपने 'मौका-देने-की-बात'कही है, क्या 'मौका-लेने-की-बात' नहीं हो सकती ? युवा-शक्ति मौका ले, तो फिर उसे कौन रोक सकता है ?

श्रे. : सेवा के दो प्रकार हैं: इंडिविज्युअल (व्यक्तिगत), ऑर्गेनाइज्ड (संगठित)। 'ऑर्गेनाइज्ड' सेवा पर जो लोग बैठे हैं, जब तक वे हिलेंगे-डुलेंगे नहीं, तब तक युवा-शक्ति को मौका कैसे मिलेगा ? इस जगह हमें अपने युवकों को बैठाना होगा; उनके लिए जगह खाली करनी होगी।

ने. : इसका मतलब यह हुआ कि जो लोग स्थापित हैं, उन्हें अपनी जगह से हटना पड़ेगा ?

श्रे. : हटना चाहिये। एकदम न हटें, धीरे-धीरे हटें; लेकिन हटने की प्रक्रिया किसी तरह शुरू करनी होगी।

ने : यदि हटेंगे नहीं, तो हटा दिये जाएँगे; 'मौका-लेने-का' मतलब शायद यही है।

श्रे. : हटा दिये जाने में तो मनोमालिन्य और अनावश्यक टकराव होगा; मेरे ख्याल से यह दोनों पक्षों के हित में नहीं है।

ने. : इससे विवेक और मर्यादाएँ टूट सकती हैं, आप उन लोगों से जो आज स्थापित हैं, क्या कहना चाहेंगे ?

श्रे. : मैं अपनी ही बात कहता हूँ। अगर कोई मेरी जगह काम करने को तैयार हो, तो मैं अपना स्थान छोड़ने को तैयार हूँ। मैं समझता हूँ, दूसरे लोग भी यदि ऐसा करेंगे, तो युवा-शक्ति वह काम कर सकेगी जिसकी आशा-अपेक्षा हम उससे रखते हैं; लेकिन मुश्किल यह है कि जो जिस जगह बैठा है, उस जगह के लिए दूसरा मिलता नहीं है।

प्रश्न : उत्तराधिकार का

ने. : प्रश्न आपने गंभीर उठा दिया है। आपने अपना कोई उत्तराधिकारी तैयार कर लिया है क्या ?

श्रे. : उत्तराधिकारी तो कोई तैयार करता नहीं है; अधिकार किसी को दिया नहीं जाता, वह तो ले लिया जाता है।

ने. : मौका लेने की बात आप पहले कह ही चुके हैं।

श्रे. : वह भी लिया जाता है। हम परिस्थिति (सर्कमइंस्टांसेज़) निर्मित कर सकते हैं।

ने. : वैसा आपने किया ही होगा ?

श्रे. : परिस्थिति इतनी ही निर्मित की है कि मैं लोगों से लगातार कह रहा हूँ कि उन्हें बुलाओ, उनमें से चुनो, उनका अधिवेशन बुलाओ; उनसे बातचीत करो, जिनमें लगन है, क्षमता है, उन्हें मौका दो।

ने. : दो बातें हैं; एक, आपने अपना सामाजिक उत्तराधिकारी चुना या नहीं ? दूसरे, पारिवारिक उत्तराधिकारी कौन हैं ?

श्रे. : पारिवारिक उत्तराधिकारी तो होता ही है, वह आनुवंशिक है।

ने. : वह नहीं, आपकी तरह समाज में काम करने के लिए।

श्रे. : इसमें बिलकुल फैल हो गया हूँ। चि. अशोक पर निगाह है और किसी पर नहीं है – परिवार में।

ने. : अगर आपकी यह बात मैं लिख दूँ, तो आपको कोई एतराज़ तो नहीं होगा ?

श्रे. : बिलकुल नहीं।

मैं नहीं मानता

ने. : सामाजिक उत्तराधिकार का जहाँ तक प्रश्न है, उसका कोई सिलसिला जमाइये।

श्रे. : आपकी यह बात बहुत गंभीर है। मैं मानता हूँ कि हमारे अगले मोर्चे बनने चाहिये। जो रास्ता मुझे नज़र आता है, वह यह कि हम जो सामने हैं उनमें

से छाँटें। कुछ लोग चुने भी किन्तु बाद में ऐसा लगा कि उनमें कोई दिलचस्पी नहीं है।

ने. : आपने यह भी कहा है कहीं कि समाज-सेवा के लिए लोग बहाना करते हैं कि उनके पास समय नहीं है; क्या यह सच है ?

श्रे. : समय नहीं है, यह मैं नहीं मानता। जिसे काम करना है, उसे समय निकालना चाहिये। दफ्तर के लिए समय निकल आता है; और गृहस्थी के लिए भी, फिर समाज-सेवा के लिए क्यों नहीं निकल सकता ?

ने. : दिलचस्पी कहाँ है ?

श्रे. : सवाल दिलचस्पी का है। उसमें रस आना चाहिये।

रोमांस : स्पार्क : विवेक

ने. : वही 'रोमांस' की बात।

श्रे. : उसमें 'रोमांस' जैसा अहसास होना चाहिये। चारित्रिक शुद्धता भी ज़रूरी है।

ने. : और 'स्पार्क' भी होना चाहिये।

श्रे. : 'स्पार्क' तो होना ही चाहिये। कुछ सोचने-समझने की शक्ति भी होनी चाहिये। साधारण सोचते-समझने की नहीं, बल्कि दूर तक सोचने-समझने की।

ने. : मान लीजिये, आपके सामने २०-३० युवा खड़े हैं और कह रहे हैं कि हम समाज-सेवा करना चाहते हैं, तो आप उनसे पहला सवाल क्या करेंगे ?

श्रे. : पूछूंगा कि उनकी दिलचस्पियाँ क्या हैं ? क्या समाज-सेवा के लिए उनके पास समय और साहस है ?

ने. : दिलचस्पी होगी, तभी तो वे आपके पास आयेंगे। ऐसी स्थिति में आप उन्हें समाज-सेवा का पहला काम क्या देंगे ?

श्रे. : 'सेवा' व्यापक शब्द है। समाज-सेवा के जो क्षेत्र हैं; पूछूंगा उनमें से किसमें उनकी रुचि है।

ने. : कौन-कौन से क्षेत्र हैं ?

श्रे. : चिकित्सा, सामाजिक क्रान्ति, विकलांग-सेवा, नारी-उत्थान आदि।

ने. : सामाजिक कुरीतियाँ हैं, दहेज-जैसा अभिशाप इत्यादि है। मान लीजिये, उन्होंने कहा कि हमें दहेज-उन्मूलन में दिलचस्पी है।

श्रे. : कई संगठन हैं, जो इस प्रकार का काम कर रहे हैं, उनसे संबंधित हों; जिम्मेदारी भी लें और देखें कि कोई ठोस कार्य सामने आया है।

ने. : सामाजिक चेतना (सोशल अवेयरनैस) उसके निमित्त जगायें। यदि वे कहें कि हमारी शिक्षा में रुचि है, तो आप क्या परामर्श देंगे ?

मैंने पूरे दिन बैठकर संपूर्ण प्रार्थना-पुस्तक के पारायण का निश्चय किया था। शाम को पारायण समाप्त होने को ही था कि गुरुजी ने एक शिष्य द्वारा मुझे बुलवा भेजा। मैंने विनम्रता से कहा कि जाकर गुरुजी से निवेदन कर दो कि पारायण थोड़ा-सा ही शेष है, उसके पूरा होते ही आ जाऊँगा। शिष्य गया और वापस आ कर बोला कि तुरन्त चलना होगा। मैं गया तो गुरुजी ने पूछा : 'पहली बार कहने पर क्यों नहीं आये ?' मैंने कारण बताया। वे बोले : 'मैंने तुम्हें एक ग़रीब आदमी के लिए कुछ पैसों का प्रबन्ध करने के लिए बुलाया था। प्रार्थनाएँ तो फरिश्ते भी पढ़ सकते हैं, किन्तु अकिंचनों/अपंगों की सहायता तो मनुष्य ही कर सकते हैं। सेवा प्रार्थना से अधिक ऊँचा कर्त्तव्य है; क्योंकि फरिश्ते सेवा नहीं कर सकते।

—एक धर्मगुरु

शैक्षिक कार्यक्रम

श्रे. : शिक्षा का जो कार्य चल रहा है, उसमें हिस्सा लेने के लिए कहेंगे। उनसे पूछेंगे कि इसमें आपका क्या योगदान हो सकता है ? कोई स्पष्ट कार्यक्रम उन्हें देंगे।

ने. : कौन-सा कार्यक्रम ?

श्रे. : यही कि हमें कैसा साहित्य चाहिये। यदि वे शिक्षाशास्त्री हैं, तो उनसे कहेंगे कि पाठ्य पुस्तकें लिखिये; और यदि वे विशेषज्ञ नहीं हैं, धनवान हैं, तो उनसे कहेंगे कि आर्थिक सहयोग दीजिये। यदि वे स्वयं मदद नहीं दे सकेंगे, तो इसके प्रचार-प्रसार द्वारा उन्हें अर्थ-संचय के लिए प्रेरित करेंगे।

ने. : आपने समीक्षा तो की ही होगी कि हमारे यहाँ शिक्षा का जो स्तर है—धार्मिक या सामाजिक शिक्षा का वह ठीक नहीं है। बहुत-सारे बोर्ड हैं, बम्बई का है, इन्दौर का है; परिषद् है। ये सारे औपचारिक और रूढ़ हो गये हैं। इस ढाँचे में कोई परिवर्तन लाने के लिए कहेंगे क्या ?

श्रे. : इन परीक्षाओं से, जिन्हें आप रूढ़ कह रहे हैं, प्राथमिक ज्ञान तो हो ही जाता है।

ने. : यानी आप इस पक्ष में हैं कि जो चल रहा है, वह तो चले ही, उसके अलावा उपयोगी कुछ आता हो तो हम उसे भी लें।

श्रे. : यदि परम्परित व्यवस्था नहीं होती, तो जितना कमोबेश ज्ञान मुझे है, वह भी नहीं होता।

ने. : ये जो युवा हमारे सामने हैं, वे तो ऐसी कोई शिक्षा लेते नहीं हैं?

श्रे. : मेरा ख्याल है, यदि आप उनके अनुरूप शिक्षा देंगे, तो वे अवश्य लेंगे।

ने. : यही तो मैं पूछना चाहता हूँ कि उन्हें शिक्षा देने का बदला हुआ तरीका क्या हो सकता है?

प्रतिपादन : वैज्ञानिक, रोचक

श्रे. : पढ़ाने की शैली वैज्ञानिक और रोचक हो। पुस्तकों को वैज्ञानिक आधार दिया जाए। जो चीजें आधुनिकता (मॉडर्निटी) से लोगों को जोड़ती हैं, उनके साथ उन्हें जोड़ना होगा। इस तरह शिक्षा उन्हें देनी होगी।

ने. : आधुनिकता से उन्हें ज़रूर जोड़ना होगा।

श्रे. : केवल यह कह देने से कि रात में खाना पाप है, कोई समझेगा नहीं; इसके साथ स्वास्थ्य, विज्ञान आदि को जोड़ना होगा। जब युवा-वर्ग की समझ में यह बात एक दफा आ जाएगी, तब वह आपोआप नहीं खायेगा।

ने. : युवा-शक्ति के सामने जो भी बात रखी जाए, उसका तर्कसंगत या वैज्ञानिक होना ज़रूरी है। विज्ञान के बिना दलील फलती नहीं है।

श्रे. : लेकिन तर्क तो कुतर्क भी हो सकता है।

ने. : कुतर्क होना तो नहीं चाहिये।

श्रे. : तर्क यानी समझाने की युक्ति-युक्त पद्धति।

ने. : देखा गया है, युवा और वयोवृद्ध के बीच कम्यूनिकेशन (संवाद) टूट गया है। मैं इस बारे में चिन्तित हूँ, आप भी होंगे, सम्बन्ध फिर से बने, ऐसा कोई उपाय बताइये।

श्रे. : पारिवारिक जीवन से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। जहाँ पारिवारिक जीवन नियन्त्रित, नियमित और अनुशासनबद्ध है, वहाँ यह प्रश्न ही नहीं है। पारिवारिक जीवन में जहाँ धर्म-भावना नहीं है, वहीं ये सारी गड़बड़ है।

आरंभ : परिवार से

ने. : यानी यह सारा काम परिवार से शुरू करना होगा। युवा में एक श्रद्धा/मर्यादा जो बड़ों के प्रति उठ गयी है, या उठ रही है, उसे परिवार में लौटाना होगा; लेकिन यह प्रक्रिया शुरू कहाँ से और कैसे हो?

श्रे. : मेरा अनुभव यह है कि आदर की कहीं कोई कमी नहीं है। चाहे युवा-वर्ग किसी बात को माने या न माने – वह वस्तुतः किसी स्थिति को एकदम नकार भी नहीं रहा है। हो सकता है, जो बात मैं कह रहा हूँ, वह उन्हें तर्कसंगत न भी लगे; लेकिन ऐसा होने पर भी उसके प्रति उनमें अनादर या अवज्ञा नहीं है।

ने. : यह बड़ी बात है कि उसके मन में कोई अनादर या अवज्ञा नहीं है। रुचि शायद नहीं है।

श्रे. : वह यह समझता है कि यह सब 'आउट–डेटेड' (पुराना) है।

ने. : आपसे यदि युवाओं के साथ काम करने के लिए कहा जाए तो····

मैं तैयार हूँ

श्रे. : मैं तैयार हूँ। मैं तो उन्हें अपना-जैसा बना कर काम करने को तैयार हूँ। उनको यह लगना ही नहीं चाहिये कि उन्हें मेरी उम्र का कोई लिहाज करना पड़ेगा। उम्र की अधिकता से मनुष्य की बुद्धि का कोई सम्बन्ध नहीं है। उम्र और और बुद्धि दोनों अलग-अलग हैं। एक पचहत्तर वर्ष का आदमी बेवकूफ हो सकता है और एक तीस वर्ष का युवा पूर्ण जागरूक और कुशल/होशियार हो सकता है।

ने. : यानी शरीर का बुद्धि से सीधा सम्बन्ध नहीं है?

श्रे. : उम्र का सम्बन्ध केवल शरीर से है; बुद्धि से शायद कोई रिश्ता उसका है नहीं; हो नहीं सकता।

ने. : यह बहुत अच्छी खबर है कि अभी भी आप युवाओं के साथ उत्साहपूर्वक काम करने की तैयारी रखते हैं। मान लीजिये, यदि आपसे कहा जाए कि आप सेवा का कोई क्षेत्र अपने लिए चुनिये, तो आप समाज-सेवा का कौन-सा क्षेत्र चुनेंगे?

श्रे. : अपने लिए?

ने. : जी हाँ।

श्रे. : जब आदमी तन से थक जाता है, तो फिर वह पिटे-पिटाये मार्ग पर चलना पसन्द करता है। जो काम उसने पहले किया है, उसी का ज्ञान और अनुभव उसे है, अतः उसे ही वह भलीभाँति कर सकता है। नया मार्ग भी अपना सकता है; लेकिन शारीरिक दौर्बल्य के कारण वह पूरे उत्साह और बल के साथ समाज-सेवा नहीं कर सकता।

ने. : इसका मतलब यह हुआ कि जिस उम्र की मंज़िल पर आप हैं, वहाँ कोई भी परम्परित मार्ग पर चलना पसन्द करेगा?

श्रे. : परम्परित मार्ग पर चलना पड़ रहा है–इसमें पसन्दगी या नापसन्दगी का तो कोई सवाल ही नहीं है।

ने. : नया मार्ग कौन-सा हो सकता है?

श्रे. : कई हो सकते हैं; किन्तु जो मार्ग मेरे सामने है वह पुरातात्त्विक, अध्ययन-अनुसंधान और साहित्य-प्रकाशन का है। मुझ पर तो इनका भूत ही सवार है; अतः इन्हें ही करने की लगातार कोशिश कर रहा हूँ।

ने. : युवा इन्हें कैसे कर सकता है?

श्रे. : यदि दिलचस्पी है, तो रास्ता निकल आयेगा।

ने. : क्या युवा-वर्ग में कोई दोष/कमी/खामी है?

दोष : सबमें

श्रे. : दोष हम सबमें हैं। युवा-वर्ग इसका अपवाद नहीं है।

ने. : अच्छा।

श्रे. : जब मनुष्य पैदा हुआ तब उसके साथ ही दुर्बलताओं का जन्म भी हुआ।

ने. : पुरुषार्थ और बल भी जन्मे होंगे?

श्रे. : दोनों जन्मे; लेकिन जैसा कि मैंने कहा है कि तमोगुण और सतोगुण साथ-साथ रहते हैं, वैसे ही यह भी कहूँगा कि दुर्बलताएँ और सबलताएँ भी साथ-साथ रहती हैं; लेकिन बुनियाद में मनुष्य दुर्बल है, वह परिस्थितियों का शिकार सहज ही हो जाता है।

ने. : परिस्थितियों का दास, या परिस्थितियाँ उसकी दास? मान लीजिये, कभी भाग्य और पुरुषार्थ की बात खड़ी हो, तो युवा को भाग्य पर भरोसा करना चाहिये या पुरुषार्थ पर?

श्रे. : दोनों पर।

ने. : दोनों पर एक साथ कैसे होगा?

श्रे. : देखिये, पुरुषार्थ के बगैर तो कुछ हो ही नहीं सकता; लेकिन अगर भाग्य साथ देता है, तो पुरुषार्थ अधिक सफल हो सकता है।

ने. : पुरुषार्थ वह पहले करे?

श्रे. : पुरुषार्थ के बगैर तो कुछ हो ही नहीं सकेगा; वह एक महत्त्वपूर्ण शर्त है।

ने. : किन्तु यह तो बहुत अमूर्त चीज़ है।

श्रे. : लेकिन है चीज़ विश्वास की।

फैसला मुश्किल : पुरुषार्थ अव्वल

ने. : युवा को पुरुषार्थ पर अधिक विश्वास करना चाहिये, या भाग्य पर, या दोनों पर समानान्तर?

श्रे. : इसका फैसला तो बड़ा मुश्किल है; लेकिन पुरुषार्थ का नम्बर पहला है।

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी–
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।।

(–पंचतंत्र, मित्रभेदः / 217)

(उद्यमी वीर पुरुष को ही लक्ष्मी प्राप्त होती है। 'भाग्य में होगा तो मिलेगा ही' ऐसा कापुरुष कहा करते हैं।)

लोग पुरुषार्थ कर रहे हैं, दिलचस्पी ले रहे हैं; लेकिन इतना ही फलदायी नहीं होगा।

ने. : मैंने देखा है कि संस्थाओं की अपेक्षा व्यक्ति जो काम करता है, वह श्रेष्ठ होता है। आपकी क्या राय है, इस सम्बन्ध में ?

श्रे. : संस्थाएँ भी अक्सर व्यक्ति की वजह से चलती हैं। प्रायः एक ही व्यक्ति, उसका त्याग और समर्पण किसी संस्था की बुनियाद में होता है।

ने. : वही जन्म देता है, संस्थाओं को, प्रवृत्तियों को, क्रान्तियों को ?

श्रे. : जन्म भी देता है और संचालन भी करता है।

ने. : और यदि वह आदमी अनुपस्थित हो जाए, तो संस्था खत्म हो जाती है।

श्रे. : संस्था निष्प्राण हो जाती है, बिलकुल बेजान।

ने. : ऐसी कई संस्थाएँ हैं आज जो अपने संस्थापकों/संचालकों के देहावसान से अनाथ हो गयी हैं ?

श्रे. : हैं।

संस्थाएँ : व्यक्ति-प्रधान

ने. : इसका मतलब यह हुआ कि संस्थाएँ व्यक्ति-प्रधान होती हैं।

श्रे. : हाँ, व्यक्ति-प्रधान। चाहे व्यक्ति काम करे या संस्था के माध्यम से वह करे, प्रमुखता उसकी रहेगी; किन्तु बेहतर यह होगा कि वह संस्था के द्वारा काम करे ताकि दूसरे लोगों को भी काम करने का मौका मिल सके। इसका एक अच्छा परिणाम यह होगा कि दूसरे लोग भी सेवा के क्षेत्र में आ सकेंगे।

ने. : किन्तु प्रजातंत्र और व्यक्ति दोनों एक साथ चल नहीं सकते।

श्रे. : क्यों ? प्रजातन्त्र भी तो आखिर व्यक्ति ही चलाता है।

ने. : बहुत सारे व्यक्ति चलाते हैं।

श्रे. : बहुत सारे व्यक्ति नाम के होते हैं; मसलन हमारे देश का प्रजातन्त्र इंदिराजी चला रही हैं। मंत्रिगण हैं, अधिकारी वर्ग हैं, लेकिन काम तो एक ही व्यक्ति कर रहा है।

ने. : मतलब यह कि जहाँ भी, जब भी होगा, व्यक्ति ही महत्त्वपूर्ण होगा।

श्रे. : व्यक्ति ही प्रधान रहेगा।

ने. : क्या हम व्यक्ति-की-प्रधानता को कम नहीं कर सकते ? क्योंकि जब कोई व्यक्ति प्रधान हो रहता है, तो बाकी के लोग गौण हो जाते हैं।

श्रे. : यह उस व्यक्ति पर है कि उसकी दृष्टि क्या है ?

ने. : यदि सौ में से एक प्रमुख हो गया, तो निन्यानवे गौण हो जाएँगे।

श्रे. : एक को तो प्रमुख बनाना ही होगा; कोई विकल्प नहीं है।

ने. : बनाने का नहीं, प्रश्न बन जाने का है।

श्रे. : बन जाता है, या बनाया जाता है; लेकिन जैसे राजकाज के लिए एक राजा चाहिये, चाहे फिर वह प्रधानमन्त्री के रूप में हो, या राष्ट्रपति के रूप में; वैसे ही प्रजा को भी किसी एक का नेतृत्व चाहिये। संस्था की भी यही स्थिति है, उसे भी एक प्रमुख चाहिये ।

ने. : फिर प्रजातन्त्र के स्थान पर व्यक्तितन्त्र हो जाएगा।?

श्रे. : ज़रूरी नहीं है ।

ने. : नाम प्रजातन्त्र और रहे व्यक्तितन्त्र।

श्रे. : देखिये न, बर्तानिया है, वहाँ प्रजातन्त्र है; प्रधानमन्त्री ही सब कुछ नहीं है वहाँ ।

ने. : हमारी आज की जो कार्य-प्रणाली है उससे आप संतुष्ट है? या कोई सुधार चाहते हैं ?

कागज़-पर-ठीक : मैदान में-ग़लत

श्रे. : कार्य-प्रणाली कागज़ पर तो अच्छी है ही; लेकिन ठीक से तभी कुछ हो पाता है जबकि उस पर नियन्त्रण किसी योग्य व्यक्ति का हो। संबंधित व्यक्ति में यदि उत्साह है, उसके पास समय और शक्ति है, तो सारी प्रणाली के किंचित् अनुपयुक्त होने पर भी नतीजे अच्छे आ सकते हैं।

ने. : मतलब यह हुआ कि आज व्यक्ति कागज़ पर तो कार्यप्रणाली ठीक रखता है, लेकिन उसके इम्प्लीमेंटेशन में (अमल में) कठिनाई अनुभव करता है।

श्रे. : कोई भी संस्था ऐसा नहीं, जो इस दोष से मुक्त हो ।

ने. : कई संस्थाएँ ऐसी हैं, जिनकी कार्य-प्रणाली कागज़ पर भी ठीक है और मैदान में भी ?

श्रे. : कागज़ पर तो बिलकुल ठीक है।

ने. : यह जो विषमता है कि कागज़ पर कुछ और अमल में कुछ; क्या इसका कोई समीचीन हल है ?

श्रे. : विषमता को दूर करना है, तो मुक्ति ही एक मार्ग है।

ने. : यह तो व्यक्ति के लिए हो गया। समाज के लिए मुक्ति, कोई अर्थ नहीं रखती।

श्रे. : समाज के लिए शायद उसकी ज़रूरत नहीं है।

ने. : किन्तु मनुष्य तो सामाजिक है न ?

विषमताएँ : इसलिए समाज

श्रे. : यदि विषमताएँ न होतीं, तो शायद समाज ही न होता, किसी संस्था की ज़रूरत ही न पड़ती । विषमताओं और मतभेदों के समाधान के लिए ही समाज

'शताब्दियों-पर-शताब्दियाँ बीतती चली जा रही हैं, समय की लहरों में परिवर्तन-पर-परिवर्तन बहते आ रहे हैं, परिस्थितियाँ बदल रही हैं, परन्तु समाज केवल स्त्री को, जिसे उसने दासता के अतिरिक्त और कुछ देना नहीं सीखा, प्रलय की उथल-पुथल में भी शिला के समान स्थिर देखना चाहता है। ऐसी स्थिरता मृत्यु का शृंगार हो सकती है, जीवन का नहीं।

—महादेवी वर्मा

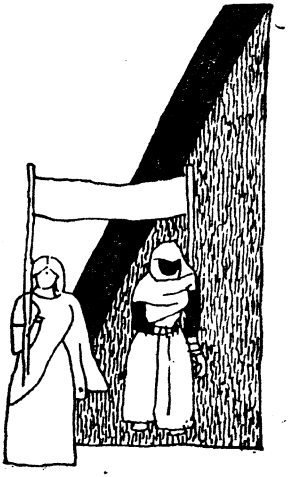

है। यदि मुश्किलें और विषमताएँ ही समाप्त हो जाएँगी, तो फिर संस्थाएँ बनेंगी ही नहीं, शायद उनकी ज़रूरत ही तब नहीं होगी।

ने. : यानी संस्थाएँ इसलिए मिट रही हैं कि समानता शनैः शनैः उभर रही हैं ?

श्रे. : ऐसा नहीं है।

ने. : किन्तु संस्थाएँ तो मिटती जा रही हैं।

श्रे. : विषमताएँ भी लगातार बढ़ रही हैं (हँसी)।

ने. : तब तो संस्थाओं की संख्या और बढ़ जाएगी ?

श्रे. : ज़रूरी नहीं है कि विषमताएँ बढ़ें, तो संस्थाएँ बढ़ें ही, जो पहले से हैं उनके कार्यक्षेत्र भी बढ़ सकते हैं।

ने. : आपके मत में संस्थाएँ विषमताओं से निपटने के लिए हैं।

श्रे. : विषमताएँ, या विकृतियाँ न हों, तो संस्थाओं की आवश्यकता ही नहीं होगी। यदि सब आदमी शुद्ध हों, तो हमें शुद्ध करानेवाले की ज़रूरत नहीं है। संस्थाओं की ज़रूरत असल में इसलिए है कि 'कुछ शुद्ध है और कुछ अशुद्ध है'।

संस्थाएँ : क्यों ?

ने. : आपका निष्कर्ष यह है कि व्यक्ति बहुत अच्छा, ईमानदार, शुद्ध होगा, तो संस्थाएँ स्वयं ही निरर्थक हो जाएँगी।

श्रे. : आखिर संस्थाओं का उद्देश्य क्या है ?

ने. : आप ही बताइये।

श्रे. : संस्थाओं का उद्देश्य है समाज की उन्नति। यदि सारे लोग उन्नत हैं, तो भला संस्थाओं की जरूरत ही क्या है? लेकिन जब तक 'समाज' है, सब लोग उन्नत/विकसित रह नहीं सकते। यह सामाजिक नियम है।

ने. : इसका मतलब यह हुआ कि संस्थाएँ भी रहेंगी, और विषमताएँ भी?

श्रे. : अच्छे व्यक्ति भी रहेंगे, बुरे भी।

ने. : हमें इसमें संतोष कर लेना चाहिये।

श्रे. : यह प्राकृतिक नियम है। विषमताएँ हर युग में रही हैं। इतिहास देख जाइये। रामचन्द्रजी के जमाने में धोबी था; श्रीकृष्ण के जमाने में जरासंध, और भगवान् महावीर के जमाने में गोशाल था।

ने. : संसार का प्रयोजन क्या है? क्यों है यह?

श्रे. : संसार की रचना क्यों है, किसने की; और इस सबका लक्ष्य क्या है? आदि कुछ हैं बुनियादी सवाल।

ने. : जैनधर्म तो मानता ही नहीं है कि रचना हुई।

श्रे. : हाँ, जो भी हो। देखिये न, मनुष्य पैदा होता है। १०-१५ साल खेलकूद में बिता देता है। यहाँ मैं लाख में निन्यानवे हजार की बात कर रहा हूँ। उसके बाद शिक्षा-दीक्षा, काम-धन्धा, शादी-बच्चे। करीब ४० साल उसे काम के लिए मिले। ५०-६० के हुए और 'रामनाम सत्त'। इस तरह क्या मतलब हुआ उसके आने का?

सार्थकता : होने की

ने. : यह बात औसत आदमी की है।

श्रे. : हाँ। इसकी सार्थकता क्या है? इस तरह के जीवन का उद्देश्य क्या हुआ? कुछ लोगों के लिए इसकी सार्थकता है। वे अपना और अपनों का उद्धार करना चाहते हैं। यदि गाँठ में कोई जीवन-दर्शन है, लक्ष्य है तो ही हमारे होने की सार्थकता है, अन्यथा काल-चक्र तो घूम ही रहा है।

ने. : आपकी जीवन-दृष्टि क्या है?

श्रे. : 'प्रयोजन' कहने को है। चारों ओर मृगतृष्णाएँ हैं। जब से यह समाज जन्मा, इसकी रचना हुई, तभी से किसी-न-किसी रूप में संस्थाएँ हैं और वे समाज-हित बराबर कर रही हैं; लेकिन मजा यह है कि समाज तो वैसे-का-वैसा है। 'नौ दिन चले अढ़ाई कोस' है।

ने. : संख्या भी तो बढ़ती गयी है।

श्रे. : संख्या बढ़ी, तो मृग-मरीचिकाएँ भी बढ़ीं। क्या हम सिद्ध कर सकते हैं कि संस्थाओं ने जन्म ले कर कोई ऐसा काम किया हो, जिससे व्यक्ति शाश्वत सुख और शान्ति की दिशा में आगे आया हो।

ने. : क्या उम्र के साथ तृष्णाएँ कम नहीं हो सकतीं ? वस्तुत: जितने हम बढ़ते जाते हैं उम्र में, उन्हें तदनुसार शान्त होते जाना चाहिये ।

बुढ़ापे में बढ़ती हैं तृष्णाएँ

श्रे. : ये सब व्यक्ति पर निर्भर करता है । किसी-किसी की तृष्णा तो बुढ़ापे में और बढ़ जाती है । मैंने ऐसे-ऐसे वृद्धों को देखा है, जिन्हें वृद्धावस्था में धन का मोह अधिक हो जाता है, जो मृत्यु की देहलीज़ पर खड़ा है, उसके पास धन हो या न हो, क्या मतलब है उसका ? लेकिन मोह तो मोह है, प्रगाढ़ होते जाना उसका स्वभाव है ।

ने. : ऐसा क्यों होता है ? संभव है कभी आपने इसका विश्लेषण किया हो ?

श्रे. : कोई यूनिवर्सल लॉ (सार्वभौम नियम) नहीं है । यह हरएक आदमी के लिए प्राय: अलहदा-अलहदा है ।

ने. : बहुत व्यक्तिगत प्रश्न है, आपकी स्थिति क्या है, इस सिलसिले में मृग-मरीचिका को ले कर ?

श्रे. : मेरी; यही चाहता हूँ कि परिवार सुख से रहे । मेरी उसमें कोई दखलंदाजी नहीं है । मैंने वृद्धों को क्या-क्या काम करने चाहिये – इस पर एक नोट लिखा है ।

ने. : अच्छा । जब आप बीस के थे, तब 'मृगतृष्णा' की क्या स्थिति थी ? अधिक थी, कम थी, कैसी थी ?

श्रे. : ऊपर उठने की ।

ने. : वह तो महत्त्वाकांक्षा हुई । तृष्णा का सम्बन्ध तो धन/पद/सत्ता आदि से है ।

श्रे. : तृष्णा थी ।

ने. : तीव्र थी क्या ?

श्रे. : तीव्र तो मुझमें वह कभी रही नहीं; यह कि प्रयत्न करना । न हो, तो शान्तभाव रखना ।

ने. : तीव्र यानी उत्कट ।

श्रे. : यत्न तो होना ही चाहिये । वह पुरुषार्थ है, किसी भी उपलब्धि के लिए ज़रूरी ।

ने. : तृष्णा किसी भी तरह तृप्त हो, ऐसा नहीं हुआ ।

श्रे. : इच्छा रही वह तृप्त हो ।

ने. : लेकिन उसे किसी भी प्रकार के साधन से पूरा किया जाए, ऐसा कभी नहीं हुआ ?

श्रे. : नहीं ।

साधन : शुद्ध/अशुद्ध

ने. : प्रायः यह रहा कि साधन शुद्ध हो ?

श्रे. : शुद्ध हो; यह मैं नहीं कह सकता कि सारे साधन शुद्ध ही थे; लेकिन अशुद्ध साधन होने पर भी किसी का अहित हो, ऐसा मैंने कभी नहीं किया।

ने. : ऐसा दिमाग़ में कभी नहीं रहा कि किसी का अहित करके तृष्णा को तृप्त किया जाए। तब भी जब आप २० वर्ष के थे ?

श्रे. : अब तो कोई सवाल ही नहीं है।

ने. : सवाल नहीं है, इसका अर्थ ?

श्रे. : अब तृष्णा ही नहीं है।

ने. : बिलकुल नहीं है ?

श्रे. : कोई तृष्णा नहीं है, मैं आपसे सच कहता हूँ।

ने. : किसी भी तरह की ?

श्रे. : आप इसे तृष्णा का ही रूप कह सकते हैं कि मैं चाहता हूँ कि जो चल रहा है वह ठीक से चले।

ने. : यह तो आपकी इच्छा है; तृष्णा नहीं है। सब लोग अपना-अपना काम करें; अपना उत्तरदायित्व निभायें, यही न ?

श्रे. : मैं जो काम कर रहा हूँ, उसमें मुझे कोई तृष्णा नहीं है।

ने. : आप इस समय क्या काम कर रहे हैं ?

श्रे. : दिगम्बर जैन महासमिति, तीर्थक्षेत्र कमेटी, भारतीय ज्ञानपीठ आदि के काम हैं। अपनी शक्ति के अनुसार उनके उत्थान के प्रयत्न कर रहा हूँ।

ने. : इसके पीछे भी तृष्णा-जैसा कुछ है नहीं। चीजें जो आ गयी हैं, उन्हें आपने ले लिया है और मार्गदर्शन करने लगे हैं। मैंने सुना है कि आप समय की पाबन्दी का बहुत खयाल रखते हैं ?

काम : घड़ी के साथ

श्रे. : जिन संस्थाओं से सम्बन्धित हूँ, उनकी नियमित देखभाल करता हूँ; उनके विकास में रुचि लेता हूँ, उन्हें अधिक व्यवस्थित करने का भरसक प्रयत्न करता हूँ। जहाँ तक वक्त की पाबन्दी का सवाल है वह मेरा संस्कार है।

ने. : यह आपको मिला कहाँ से ? समय पर काम न होने पर खिन्नता अवश्य होती होगी ?

श्रे. : पाबन्दी मेरा स्वभाव है। कोई आदर्श रहा हो, ऐसा नहीं है।

ने. : शुरू से, यानी बचपन से ही क्या ?

श्रे. : तभी से।

ने. : घड़ी के साथ काम ?

श्रे. : हाँ ।

ने. : नयी पुस्तकें आपको अच्छी लगती हैं ?

श्रे. : सारी नयी किताबें अच्छी लगती हैं, ऐसा नहीं है । कोई-कोई किताब अच्छी लगती है । डिस्क्रिप्टिव (वर्णनात्मक/विवरणात्मक) किताबें मुझे बिलकुल नापसन्द हैं ।

ने. : क्रिटिकल (समीक्षात्मक) अच्छी लगती हैं ?

श्रे. : जैसे, कोई लिख कर पचास पन्नों तक एक ही बात कहे जा रहा हैं, तो लगता है वह जल्दी मुद्दे पर आये और वह कह डाले जो कहना चाहता है ।

ने. : गति हो, तो किताब अच्छी लगती है । सुस्त किताब आपको अच्छी नहीं लगती; आपको चाहिये कसी हुई, चुस्त किताबें ?

श्रे. : हाँ ।

ने. : आपने अभी तक कितनी किताबें पढ़ी होंगी ? अंग्रेजी किताबें अच्छी लगती हैं या हिन्दी ?

श्रे. : दोनों रुचती हैं ।

ने. : पूछा जाए कि इनमें से किस भाषा की अधिक अच्छी लगती हैं तो ?

भाषा नहीं, विषय

श्रे. : आप भाषा की बात कर रहे हैं, मैं विषय की । मैं विषय को अधिक महत्त्व देता हूँ ।

ने. : आपने उर्दू की जो किताबें पढ़ी हैं, उनमें सबसे अच्छी कौन-सी लगी ?

श्रे. : अजीम बेग चगताई की किताबें । उसमें परिहास और व्यंग्य दोनों हैं । और दूसरी मौलाना अबुल कलाम आज़ाद की 'गुबारे-खातिर' ।

ने. : हिन्दी में आपको कौन-सी पुस्तक सबसे अच्छी लगी ? कौन-सा लेखक आपको प्रिय है ?

श्रे. : यह बताना मुश्किल है, किन्तु किसी जमाने में मुझे जैनेन्द्रजी की पुस्तकें बहुत अच्छी लगती थीं । जैनेन्द्रजी मुझे प्रिय रहे हैं ।

ने. : अब कौन-सी किताबें अच्छी लगती हैं ?

पसंददीदा किताबें

श्रे. : किताबों में मुझे अच्छी लगी अमृता प्रीतम की 'कोरे कागज़' और नागराजराव की 'पट्टमहादेवी शान्तला' (दोनों उपन्यास) ।

ने. : ऐसा तो नहीं है कि जो ताज़ा पढ़ लेते हैं वह पसन्द, शेष भूल जाते हैं । ऐसा पढ़ा हुआ जिसने आपके जीवन की धारा को मोड़ दिया हो, उसका काया-पलट कर दिया हो, रामायण-जैसा उसे बताइये ।

श्रे. : रामायण तो कभी पुरानी होगी नहीं।

ने. : अंग्रेजी की कोई किताब ?

श्रे. : श्रीनिवास शास्त्री की कृतियाँ।

ने. : धार्मिक ग्रन्थों में से किसने सर्वाधिक प्रभावित किया ?

धार्मिक स्वाध्याय

श्रे. : छहढाला।

ने. : और ····

श्रे. : भक्तामर स्तोत्र। 'छहढाला' में सब कुछ आ गया है।

ने. : वह सरल भाषा में है; और जैनधर्म तथा दर्शन की स्पष्ट/असंदिग्ध झलक देता है।

श्रे. : 'बारह भावना' (भूधरदास) है। स्व. जुगलकिशोरजी मुख्तार की 'मेरी भावना' है।

ने. : 'भक्तामर स्तोत्र' में क्या दृष्टि है ?

श्रे. : वह तन्त्रशास्त्र है। उसके पाठ से शान्ति-शक्ति दोनों सहज ही मिलते हैं।

ने. : ऐसा आपने अनुभव किया ?

श्रे. : विश्वास है अपना-अपना। 'भक्तामर' का छठा श्लोक है :

'अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहास धाम,
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति,
तच्चाम्र चारुकलिकानिकरैकहेतु ।।'

जानता हूँ यह कि मैं विद्वानों के परिहास का केन्द्र हूँ, किन्तु करूँ क्या– 'त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बालान्माम'–मुझे आपकी भक्ति के लिए विवश करती है। यह भाव मुझे बहुत अच्छा लगता है।

ने. : कोयल बोलना नहीं चाहती, आम्रमंजरी ही विवश कर देती है उसे कुहुकने पर।

श्रे. : मुझे बहुत अच्छा लगता है यह।

ने. : वहाँ लगता है, कवि ने अपना हृदय ही उँड़ेल दिया है। यह तो आपने पुस्तकों के बारे में बताया। ऐसी कौन-सी पुस्तक लगी जो आपके जीवन की मूल प्रेरणा बनी ?

श्रे. : बचपन में तो दूसरे प्रकार की किताबें थीं; जैसे, देवकीनन्दन खत्री की 'चन्द्रकान्ता संतति'। उस समय वह बहुत प्रिय किताब थी। क्या अब कहीं मिलती है यह ?

पूना के एक भाई बड़े मसखरे थे। लम्बे प्रवास के बाद घर आये तो देखते हैं कि घर के ताला नहीं खुलता; क्या किया जाए? नाराज़ होने से ताला थोड़े ही समझने वाला था। वे नाटकीय स्वर में बोले: 'अरे कमबख्त ताले, मैंने तुझे पूरे दाम दे कर खरीदा था। मैं तेरा मालिक हूँ। तू मेरा क्रीत दास है। मैं दो महीने बाहर क्या गया, तू मुझे भुला ही बैठा! ठहर अब मैं तुझ पर स्नेह-प्रयोग करता हूँ। खोल तो जरा अपना मुहँ।' और उन्होंने स्नेह की दो-तीन बूंदें ताले में डाल कर फिर चाभी घुमायी। ताला तुरन्त खुला गया। घर के सब लोग, जो बाहर प्रतीक्षा में खड़े-खड़े तंग आ गये थे, प्रसन्न हो गये। और उसी शुभ प्रसन्नता के साथ उन्होंने गृह-प्रवेश किया। हमारे सामाजिक जीवन में रूढ़ि के ताले ऐसे ही खुल सकते हैं।

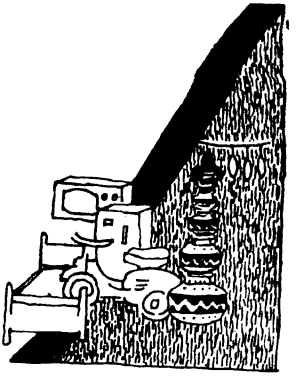

—काका कालेलकर

ने. : मिलती है, उसके नये एडीशन हुए हैं।

श्रे. : समय के अनुरूप साहित्य भी बदलता है; रुचियाँ भी करवट लेती हैं।

साहित्य/साहित्यकार

ने. : जब आप युवा थे, तब कैसी पुस्तकें पढ़ते थे?

श्रे. : कविता प्रिय लगती थी। अब तो उसमें भी बदलाव आ गया है। तुक और शब्दगत चमत्कार उस समय बहुत अच्छे माने जाते थे; अब शायद वे वाहियात चीजें हैं (हँसी)।

ने. : आज तो रुचि, संदर्भ – सब बदल गये हैं। अच्छा, बाबूजी! आप किन-किन साहित्यकारों के संपर्क में आये? उनके नाम तो बताइये।

श्रे. : शुरू से रामधारीसिंहजी 'दिनकर'।

ने. : कौन-सा वर्ष रहा होगा?

श्रे. : १९४४ में 'दिनकरजी' से संपर्क हुआ। फिर हम दोनों संसद् में भी साथ-साथ रहे; राज्यसभा में भी।

ने. : राज्यसभा में कब?

श्रे. : १९५२ से १९५५ तक। वहीं राष्ट्रकवि मैथिलीशरणजी गुप्त से परिचय हुआ। उनके माध्यम से और-और लोगों से।

ने. : डॉ. शिवमंगलसिंह 'सुमन' से?

श्रे. : शुरू से रामधारीसिंहजी 'दिनकर'।

ने. : कौन-सा वर्ष रहा होगा ?

श्रे. : १९४४ में दिनकरजी से संपर्क हुआ। फिर हम दोनों संसद् में भी साथ-साथ रहे राज्यसभा में।

ने. : राज्यसभा में कब ?

श्रे. : १९५२ से १९५५ तक। वहीं राष्ट्रकवि मैथिलीशरणजी गुप्त से परिचय हुआ। उनके माध्यम से और और लोगों से।

ने. : डॉ. शिवमंगलसिंह 'सुमन' से ?

श्रे. : हाँ, उनसे संबन्ध रहा है। जब कभी आते हैं, यहीं (शिखरकुंज में) ठहरते हैं।

ने. : लगता है, साहित्य में आपकी रुचि शुरू से ही है। आपकी इस रुचि को संवर्धित करने में इनका योगदान रहा है।

श्रे. : दो बातें हैं; एक, लोगों को बुलाना, उन्हें ठहराना, उनका आतिथ्य करना आदि का व्यसन मुझे है।

ने. : यह आपका व्यसन है ?

श्रे. : व्यसन ही है। और-और लोग आयें, तो और अधिक प्रसन्नता होती है, दूसरे, जब कविता आदि सुनता हूँ, तब मनोविनोद के साथ ज्ञानवर्धन भी होता है।

ने. : 'दिनकरजी' याद आते होंगे ?

श्रे. : हाँ, वे बहुत आत्मीय व्यक्ति थे।

ने. : उनसे आपका पत्र-व्यवहार भी हुआ ?

श्रे. : बहुत हुआ। कलकत्ते से १८ पत्र* प्रकाशित हुए हैं। उनका पारिवारिक जीवन बड़ा अस्त-व्यस्त था; कभी-कभी वे स्वप्न में भी आ जाते हैं। मुझे स्वप्न बहुत आते हैं।

ने. : किस क़िस्म के ?

श्रे. : रात में जो स्वप्न आते हैं; दिन में उन्हें भूल जाता हूँ; लेकिन अजीबो-ग़रीब वे होते हैं।

ने. : कोई अच्छा-सा स्वप्न याद आ रहा हो, तो बताइये। आज कोई स्वप्न देखा क्या ?

श्रे. : नहीं देखा।

ने. : कल देखा, परसों इधर जब भी देखा हो ? स्वप्न क्यों आते हैं ?

---

*देखें; दिनकर के पत्र, संपादक - कन्हैयालाल फूलफगर; दिनकर शोध संस्थान, 82/26 विधान सरणी, कलकत्ता-4; पृ. 190-95

श्रे. : यह प्रश्न मैंने कई लोगों से पूछा। डॉक्टर मित्र कहते हैं कि पेट खराब होने के कारण स्वप्न आते हैं। मैंने मुनि विद्यानन्दजी से भी पूछा और अखण्डानन्दजी से भी। उनका कहना है कि आपके मस्तिष्क में कोई चीज़ रहती है, स्वप्न उसीके रूपान्तर होते हैं। ऐसे स्वप्न आते हैं कई बार, जिनकी कभी कल्पना ही नहीं की थी; विचित्र वे होते हैं?

ने. : कल्पनातीत।

श्रे. : हाँ।

ने. : आप बता रहे थे कि नींद की कोई समस्या नहीं है और फिर आप कह रहे हैं कि स्वप्न आते हैं। स्वप्न के बाद नींद तो टूटती होगी?

श्रे. : नींद जिस वक्त टूटती है, तब टूटती है; स्वप्न के कारण नहीं।

ने. : क्या स्वप्नों को आप 'एनजॉय' (आनन्द लेने) करते हैं। कई स्वप्न भयानक होते होंगे?

श्रे. : भयानक स्वप्न भी आते हैं। जब स्वप्न भयानक होते हैं, तब आँख खुल जाती है। जब स्वप्न मधुर होते हैं, तब आँख नहीं खुलती।

ने. : मधुर, यानी कैसे?

श्रे. : अच्छी जगह है, बाग है, बागीचा है, यह है, वह है, गोष्ठी चल रही है।

ने. : वैसे तो सामाजिक स्वप्नदृष्टा हैं ही। 'समाज' का आपका अपना स्वप्न है। जो भयानक स्वप्न आते हैं, वे कैसे होते हैं?

श्रे. : कहीं खौफनाक जगह जा रहे हैं; हाथी है, साँप है।

ने. : साँप बहुत आता है?

श्रे. : हाँ।

ने. : पार्श्वनाथ की सिद्धि होती है साँप आने पर (हँसी)।

श्रे. : 'समाज' का एक स्वप्न तो है नहीं; उसके विविध आयाम हैं। उसका होना एक बड़ा स्वप्न है।

संगठन : प्रकाशन : तीर्थक्षेत्र

ने. : 'संगठन-का-स्वप्न'?

श्रे. : जैन समाज अल्पसंख्यक है, जिसमें मतभेदों के होते हुए भी संगठन की आवश्यकता है। अनेक समस्याएँ हमारे सम्मुख हैं, किन्तु प्रमुख है 'संगठित कैसे हो'?

ने. : 'संगठन' के बाद का स्वप्न क्या है?

श्रे. : दूसरा स्वप्न है प्रकाशन का, अर्थात् प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों के आधुनिक भाषा-शैली में लिखवाने और प्रकाशित कराने का।

ने. : तीसरा स्वप्न ?

श्रे. : तीसरा है कि तीर्थक्षेत्रों की उन्नति का; उनके जीर्णोद्धार का।

ने. : एक प्रश्न है : तीर्थक्षेत्रों में आज सुविधाएँ बढ़ाई जा रही हैं; क्या यात्री वहाँ सुविधा-भोग के लिए जाते हैं ? साधना के लिए नहीं जाते क्या ?

श्रे. : सुविधाएँ जितनी बढ़ेंगी, यात्री उतने ज्यादा वहाँ जाएँगे। पहले इतने तीर्थयात्री कहाँ जाते थे ? स्पष्ट है, ठहरने आदि की सुविधा ठीक से नहीं थी। मेरे ख़याल से सुविधाएँ मिलेंगी, संख्या बढ़ेगी और यात्री वहाँ रुकेंगे भी अधिक।

ने. : मेरा अलग विचार है। आदमी जितना-जितना संघर्ष करेगा, उतना-उतना वह ऊँचा उठेगा। सुविधाएँ साधना की तीव्रता को कम करती हैं।

श्रे. : तब सामान्य आदमी क्षेत्रों पर नहीं जाएगा। आप देखेंगे, सुविधाएँ होने से यात्रियों की संख्या बढ़ रही है। असुविधा के कारण पहले वह 'दर्शन करो और चलो' कहता था; अब वह दिन-दो-दिन रुकता है; भक्ति आदि करता है।

ने. : संख्या भले ही बढ़ गयी हो किन्तु · · ·

श्रे. : अगर आपकी बात ठीक होती, तो शायद साधना करता; किन्तु आज वह 'इधर-उधर-प्रस्थान' की चित्तवृत्ति में है।

ने. : तो क्या हम तीर्थों को भागमभाग की जगह बनाना चाहते हैं

तीर्थक्षेत्र बनें तपोभूमि

श्रे. : नहीं, हम तो ठहरने तथा धर्माराधन की एक सुविधाजनक तपोभूमि उन्हें बनाना चाहते हैं।

ने. : जो ठहरता है, वह ताश आदि भी खेलता है।

श्रे. : नहीं, ऐसा तो शायद नहीं है।

ने. : मैंने कई बार देखा है।

श्रे. : ठीक है। यह तो संसार है, सभी प्रकार के लोग इसमें होंगे / रहेंगे। ऐसे भी होंगे, जो शराब भी पीते होंगे। मैं नहीं कहता, यह सच है, पर असंभव कहाँ है ? (हँसी)।

ने. : यदि आदमी ही खराब हो, तो हम क्या करेंगे ?

श्रे. : अधिकतर यात्री अपना समय धर्मध्यान में ही व्यतीत करते हैं।

ने. : इस तरह की प्रवृत्तियाँ बढ़ा देनी चाहिये तीर्थों पर।

श्रे. : एक तो वहाँ आधुनिक सुविधाओं से लैस अतिथिगृह हों, दूसरे अच्छे समृद्ध पुस्तकालय हों। कोई ऐसा व्यक्ति भी हो जो धर्माराधन को उपयुक्त दिशा-दृष्टि दे सके।

ने. : क्या एयर कंडीशनिंग (वातानुकूलन) भी ?

श्रे. : हाँ।

ने. : फिर तीर्थयात्रा क्या हुई ?

श्रे. : यात्रा को सुविधाजनक बनाने के लिए ही ये सब चीजें हैं। आज का जो आधुनिक आदमी है, वह तभी वहाँ जाएगा, जब उसे आधुनिक साधन-सुविधाएँ उपलब्ध होंगी।

ने. : 'सम्मेदशिखर' पर जाएगा और लौट कर वातानुकूलित कक्ष में बैठ जाएगा, यही न ?

श्रे. : पर्वत पर वह जाएगा, वहाँ तो एयर कंडीशनिंग है नहीं। देखिये, जहाँ आदमी जाए, उसे वहाँ सुविधा नहीं होगी, तो उसका मन नहीं लगेगा; और सारा तमाशा मन का है।

ने. : लेकिन त्याग का आदर्श फिर नहीं टिक पायेगा।

श्रे. : त्याग के लिए जाते हैं कुछ लोग। वे श्रद्धावश जाते हैं; जैसे मुनि, त्यागी, ब्रह्मचारी। वे वहाँ ठहरते भी हैं। इन त्यागी/मुमुक्षुओं को भी उनकी शास्त्रोक्त चर्या के अनुरूप सुविधाएँ मिलनी चाहिये।

ने. : यह बात बिलकुल अलग है।

जटिल/व्ययसाध्य

श्रे. : आज मुनियों को आहार देने की प्रक्रिया काफी जटिल और व्ययसाध्य बन गयी है। मामूली आदमी आहार देने की हिम्मत नहीं कर पा रहा है।

ने. : आहार-दान खर्चीला तो हो गया है; उसके सरलीकरण की ज़रूरत है। हां, मैं आपसे कह रहा था कि आपकी स्मरण-शक्ति बहुत अद्‌भुत है।

श्रे. : अब तो दिनोंदिन कम होती जा रही है।

ने. : इतना सुनाते, बताते हैं। शेर भी तो सुनाते हैं।

श्रे. : अब मुझे व्यक्तियों के नाम याद नहीं रहते।

ने. : कविता रहती है ?

श्रे. : वह प्रसंगवश; वैसे आप कहेंगे, तो कविता, या शेर नहीं सुना सकूँगा।

ने. : लोगों को समय पर चीजें याद ही नहीं आतीं। समय पर ही यदि याद आ जाएँ, तो बहुत सारी समस्याएँ सुलझ सकती हैं।

श्रे. : मुझे चेहरे याद रखते हैं, नाम याद नहीं रहते।

ने. : ऐसा कब से हुआ; पचास के बाद ?

श्रे. : पैंसठ-सत्तर के बाद।

ने. : सुना है कि आपकी भवन-निर्माण में, स्थापत्य में गहन रुचि है; इसकी वजह क्या है ?

पसंद : शौक : हॉबी

श्रे. : अपनी-अपनी पसंद है। मैं आपसे पूछूं कि आपको साहित्य में आनन्द क्यों आता है? इसका कारण आपकी रुचि ही है।

ने. : पुस्तकें इकट्ठा करने में भी आपको आनन्द आता है; यह आपकी 'हॉबी' है, या और कुछ?

श्रे. : हॉबी (शौक) ही कहिये।

ने. : और भी कोई 'हॉबी' है?

श्रे. : ब्रिज खेलना।

ने. : वह शायद अनिवार्यता है।

श्रे. : अनिवार्यता नहीं है। न खेलूं तो महीनों न खेलूं। ऐसा नहीं है कि नहीं खेला तो मन में आकुलता बनी रहेगी।

ने. : बागवानी का शौक भी है क्या?

श्रे. : अच्छे वृक्ष, फूल देखने का शौक है। उसके संबन्ध में मेरी जानकारी अधिक नहीं है।

स्वतन्त्रता के लिए

ने. : स्वाधीनता-संग्राम के दौरान आप काफी-कुछ लोगों के संपर्क में आये होंगे; सुना है, आप जेल भी गये थे?

श्रे. : जेल जाने का कारण रामानन्द मिश्र का ठहरना था। वे भागलपुर जेल से कूद कर लाहौर पहुँचे थे। मैं उन दिनों लाहौर रहता था। वे दफ्तर में आये। मेरा उनसे कोई परिचय नहीं था और न ही कोई जानकारी थी। उन्होंने ठहरने की इच्छा और आवश्यकता बतायी। कहा कि मैं बिहार का हूँ; शान्तिप्रसाद को जानता हूँ। पत्र नहीं था, मौखिक बात थी। मैंने ठहरा लिया। अपने साथ वे रिवॉल्वर, पिस्तौल लाये हैं, मुझे मालूम नहीं था। एक कमरे में वे ठहर गये। वे मिलिटरी बैरकों में जाते थे। मैं भी उनके साथ जाने लगा। हमारे एक मित्र थे जस्टिस जे. एल. कपूर। इत्तफाकन उनसे भी मिश्रजी का संबन्ध हो गया था।

यह १९४३ के आरंभ की बात है। वे कपूर साहब से परिचित थे। कहने लगे : आप मेरे संबन्ध में उनसे पूछ लीजिये। मेरा कोई विरोध नहीं है, फिर भी पूछे लेता हूँ। वे तो वकील थे। उन्होंने हायकोर्ट में अर्जी देकर बचाव कर लिया। मिश्रजी एक दिन बाज़ार में पकड़े गये। पकड़े जाने पर पूछताछ हुई। उन्होंने अपने ठहरने का स्थान बता दिया। इस सिलसिले में मुझे भी पकड़ लिया गया। वैसे उस वक्त मेरे घर में कोई हिंसक शस्त्र नहीं थे।

शहीद भगतसिंह

ने. : शहीद भगतसिंह से आपकी भेंट हुई; यह कैसे हुई?

'स्वयं कल्याण-पथ पर चलते हुए जो दूसरों को भी कल्याण-पथ पर चलने की प्रेरणा देता है, जो पथ-भ्रष्टों का पथ-प्रदर्शक है, जो घने अन्धकार में भी प्रज्ञा की ज्योति प्रज्वलित करता है, वह सचमुच वन्दनीय है, पूजनीय है।

—भदन्त आनन्द कौसल्यायन

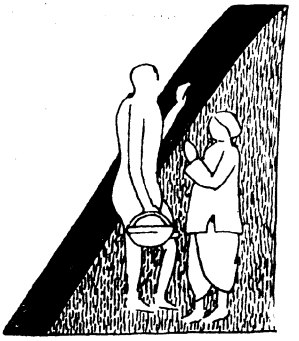

श्रे. : तब रोहतक में श्यामलालजी एडवोकेट थे। वे किसी मुक़दमे के सिलसिले में आये थे। सन् १९२७-२८ की बात है। मैं लाहौर गया हुआ था। वहाँ उन्होंने पूछा : भगतसिंह से मिलोगे ? मैंने कहा : अगर आप मिला सकें तो बड़ी प्रसन्नता होगी। मैं उनके साथ उनसे (सरदार भगतसिंह से) जेल में मिला। उनका चेहरा इतना ओजस्वी था कि कोई भी उनकी ओर सहज ही आकर्षित हो जाता था।

ने. : विराट् व्यक्तित्व वह था।

श्रे. : हाँ। जब तक मैं वहाँ रहा, उनके चेहरे पर मुस्कराहट बनी रही।

ने. : क्या उनसे आपकी कोई बातचीत हुई ?

श्रे. : पाँच मिनिट मिलने के थे। दो-तीन मिनिट नमस्कार में गये। 'आभा' कहते हैं न जिसे, किसी बड़े आदमी के निकट जाने पर हम प्रायः उससे घिर जाते हैं, वैसा कुछ अनुभव मुझे वहाँ हुआ; लेकिन नमस्कार के अलावा कुछ हो नहीं सका।

ने. : गाँधीजी से आपकी सब में पहले भेंट कब हुई ?

श्रे. : गाँधीजी से सब में पहली भेंट जुहू (बम्बई) पर हुई। मेरे साथ मेरी बेटी सरोज थी, उसने कहा कि मुझे गाँधीजी के हस्ताक्षर (ऑटोग्राफ) चाहिये। मैंने कहा, चलो। इसके पहले गाँधीजी के दर्शन नहीं हुए थे।

ने. : कौन-सा वर्ष था वह ?

पाँच-में-एक : दस-में-दो

श्रे. : १९४५-४६। उस समय काँग्रेस का अधिवेशन हुआ था। मैं उसके साथ वहाँ गया था। गाँधीजी ने कहा कि मैं तो बगैर पैसे लिये दस्तखत करता नहीं। विनोद किया। उसने दस रुपये निकाल कर दिये। गाँधीजी ने पूछा, एक हस्ताक्षर चाहिये या दो ? कहने लगे, एक चाहिये तो पाँच वापस लो। जब तुमने दस रुपये दे ही दिये हैं, तो मैं भी दो हस्ताक्षर किये देता हूँ (हँसी)।

ने. : बड़ी दिलचस्प घटना है यह। कौन बेटी थी आपके साथ ?

श्रे. : मेरी एक ही बेटी है : सरोज।

ने. : उसके बाद गाँधीजी से और कभी मिलना हुआ ?

श्रे. : बाद को तो कितने ही बार उनसे मिला, किन्तु गाँधीजी की अपेक्षा सरदार वल्लभभाई पटेल से मेरा संबन्ध अधिक रहा।

मिलना : लौहपुरुष से

ने. : ऐसा क्यों ?

श्रे. : पता नहीं। उनको मेरे प्रति, और मुझे उनके प्रति आकर्षण क्यों हुआ ? मैं इसकी व्याख्या आज तक नहीं कर सका हूँ। एक घटना सुनाता हूँ। मैं मसूरी गया था; गाँधी स्मारक निधि इकट्ठा होने वाली थी। मैं भी वहाँ आमन्त्रित था। १९४८ की बात है। गाँधीजी के निधन के बाद की। बैठक में जो होनेवाला था, वह सब हुआ। सरदार पटेल ने मुझे बुलाया और कहा : मैं देहरादून जा रहा हूँ। तुम मुझ से वहाँ आ कर मिले। मैंने कहा, वहाँ; कहें यहीं ठहरा रहूँ; जैसी सुविधा हो। मैं देहरादून आकर मिलूँगा। बोले : मैं तीन दिन बाद आऊँगा। मैंने कहा : मैं प्रतीक्षा करूँगा। उन्होंने कहा : अमुक तारीख को आ कर मिलना। मैं देहरादून गया। उनसे मिला। उन्होंने मुझ से व्यापार के सिलसिले में बातचीत की; एक परिजन की भाँति।

ने. : क्या बातचीत हुई ?

श्रे. : इतना ही बता सकता हूँ कि जो भी चर्चा उस क्षण हुई, वह आगे चलकर मेरे जीवन में बहुत लाभदायक सिद्ध हुई।

ने. : वे तो लौहपुरुष थे ही। कठोर अनुशासन और दृढ़ संकल्प उनकी विशेषताएँ थीं।

श्रे. : हाँ; वैसे संबन्ध तो तत्कालीन नेताओं से कमोवेश सभी से था।

ने. : क्या कभी संत विनोबा से आपकी भेंट हुई ?

श्रे. : विनोबाजी से संबन्ध नहीं रहा, परिचय-मात्र था।

ने. : और इन्दिराजी से ?

श्रे. : जब चीनी आक्रमण हुआ, तब जवानों के लिए सहायता जुटाने का काम वे कर रही थीं। उस सिलसिले में उनसे बराबर मिलना होता रहा।

ने. : संबन्ध उनसे इतने आत्मीय नहीं रहे, जितने सरदार वल्लभभाई पटेल से रहे ?

श्रे. : प्रश्न ही नहीं उठता। अब वे प्रधानमंत्री हैं।

पण्डितजी/मैं

ने. : नेहरूजी से तो आपके संबन्ध रहे ही हैं ? आपने उन्हें जो शेर सुनाया था, वह अवश्य सुनाइये।

श्र. : सुनिये–

'नहीं है अताबे जमाना खिताब के काबिल ।
तेरा जवाब यही है कि तू मुस्कराये जा ।।'

इसके पीछे एक कहानी है। १९६२ की बात है। उस वर्ष मैं फिक्की (फेडरेशन ऑफ इण्डस्ट्री एण्ड कामर्स) का प्रेसिडेंट था और बिजनेस कमेटी की ओर से मैं रुपया इकट्ठा कर रहा था। दिसम्बर के महीने में मैंने मुलाकात के लिए वक्त माँगा। मैं अकेला गया। सूची लेकर गया, यह बताने कि इतना रुपया इकट्ठा हुआ है। मैंने कहा : पण्डितजी, आज आप बहुत रंजीदा नजर आ रहे हैं। ऐसी कोई बात तो नहीं है। चुप रहे। मैंने कहा : अगर इज़ाजत हो, तो एक शेर पेश करूँ। बोले : कहो। तो यही शेर जो मैंने अभी आपको सुनाया था, सुनाया। लिटरली (अक्षरशः) वे कुर्सी से उठ खड़े हुए, और बोले : उससे मुझे तकलियत (बल) हुई है। फिर तो उनसे संबन्ध बढ़ा यदि ऐसे ताल्लुकात नहीं होते, तो राज्यसभा का सदस्य वे मुझे नहीं बनाते।

रजनीश : सुगम व्याख्याकार

ने. : रजनीशजी से भी आपका सम्बन्ध रहा है ?

श्रे. : जब 'रजनीश' 'रजनीश' नहीं थे, तब शायद सम्बन्ध अधिक थे। रजनीश रजनीश हो गये, तब भी संबन्ध रहा, लेकिन उतना घनिष्ठ नहीं।

ने. : रजनीश की आपके मन पर कैसी छाप है ?

श्रे. : यह कि वे एक बहुत प्रभावशाली वक्ता हैं, और दार्शनिक जटिलताओं को सरल शब्दों में कहते हैं, उनकी सुगम व्याख्या करते हैं, वैसा बहुत कम ही कर सकते हैं।

ने. : क्या आप नहीं चाहते हैं कि जैनधर्म की ऐसी ही सरल व्याख्या हो।

श्रे. : मैंने उनसे कहा था कि एक-दो पुस्तकें अनेकान्त, अहिंसा पर लिखो। कहा भी कि लिखूँगा, लेकिन काम आगे बढ़ा नहीं। एक बात है, जितना-जितना मैंने उनका साहित्य पढ़ा, लगा, कि यह ज़रूरी नहीं कि उनकी कोई किताब पूरी ही पढ़ी जाए, कहीं-से-भी पढ़ लें, सारी किताब समझ में आ जाएगी।

ने. : क्या आपको लगता है कि उनमें रिपीटीशन्स (पुनरावृत्तियाँ) हैं ?

श्रे. : चिन्तन की पुनरावृत्तियाँ हैं।

ने. : बुनियादी बातें (फण्डामेण्टल्स) वही हैं।

श्रे. : हाँ।

ने. : वही-वही बातें मिलेंगी।

श्रे. : कहीं से कोई पन्ना पढ़ें, वहाँ सब है।

और किससे ?

ने. : जैसे आप रजनीश से प्रभावित हुए, वैसे किसी और जैनेतर साधु से हुए ?

श्रे. : शुरू-शुरू में पं. दरबारीलालजी से, जो उस समय 'सत्यभक्त' कहलाते थे।

ने. : उनसे किस तरह प्रभावित हुए ?

श्रे. : बात बचपन की है। पयुर्षण में हम लोग किसी-न-किसी विद्वान् को नजीबाबाद में बुलाया करते थे। एक बार उन्हें आमन्त्रित किया। मुझे उनके विचारों तथा उन्हें पेश करने की शैली ने प्रभावित किया।

ने. : किसी हिन्दू संत/साधु से आपका कोई सरोकार रहा ?

श्रे. : अखण्डानन्दजी से संपर्क हुआ था।

ने. : संबन्ध प्रगाढ़ रहे ?

श्रे. : प्रगाढ़ तो मैं नहीं कहूँगा; हाँ, जान-पहचान अच्छी थी।

ने. : और कोई ?

श्रे. : रामकृष्ण मिशन के वरिष्ठ साधु रंगनाथन्। वे बहुत बड़े विद्वान् हैं, उनकी फ़िलॉसफी (दर्शन) से प्रभावित हुआ।

ने. : दादा धर्माधिकारी ने किस तरह प्रभावित किया ?

श्रे. : सबसे ज्यादा उनसे प्रभावित हुआ हूँ; शैली से और विचारों से।

ने. : कोई मुसलमान फ़क़ीर या क्रिश्चियन पादरी ने प्रभाव डाला ?

श्रे. : मेरे जीवन में इन दोनों में से कोई नहीं आया।

राजनीति : त्याग की, भोग की

ने. : कांग्रेस के प्रति आपकी निष्ठा शुरू से है। मैं आपके साथ बेलगाँव (१८ फरवरी १९८३) गया था, तब आप प्लेन में एक किताब पढ़ रहे थे–'राजनीति मेरी प्रेयसी'*। इससे लगता है कि राजनीति में भी आपकी गहरी रुचि रही है। राजनीतिक क्षेत्र में आज जो चल रहा है, उसके संबन्ध में आपके क्या विचार हैं ?

श्रे. : आज जो चल रहा है, वह बिलकुल अच्छा नहीं लगता। गाँधी-युग की जो राजनीति थी, उसमें और आज की राजनीति में बहुत बड़ा फ़र्क आ गया है।

ने. : क्या फ़र्क आ गया है ?

श्रे. : पहले कुछ पवित्रताएँ थीं।

ने. : खास फ़र्क क्या हुआ है ?

श्रे. : पहले त्याग की राजनीति थी।

ने. : आज अधिकार की राजनीति है, यही न ?

* अरुण भोले, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1983

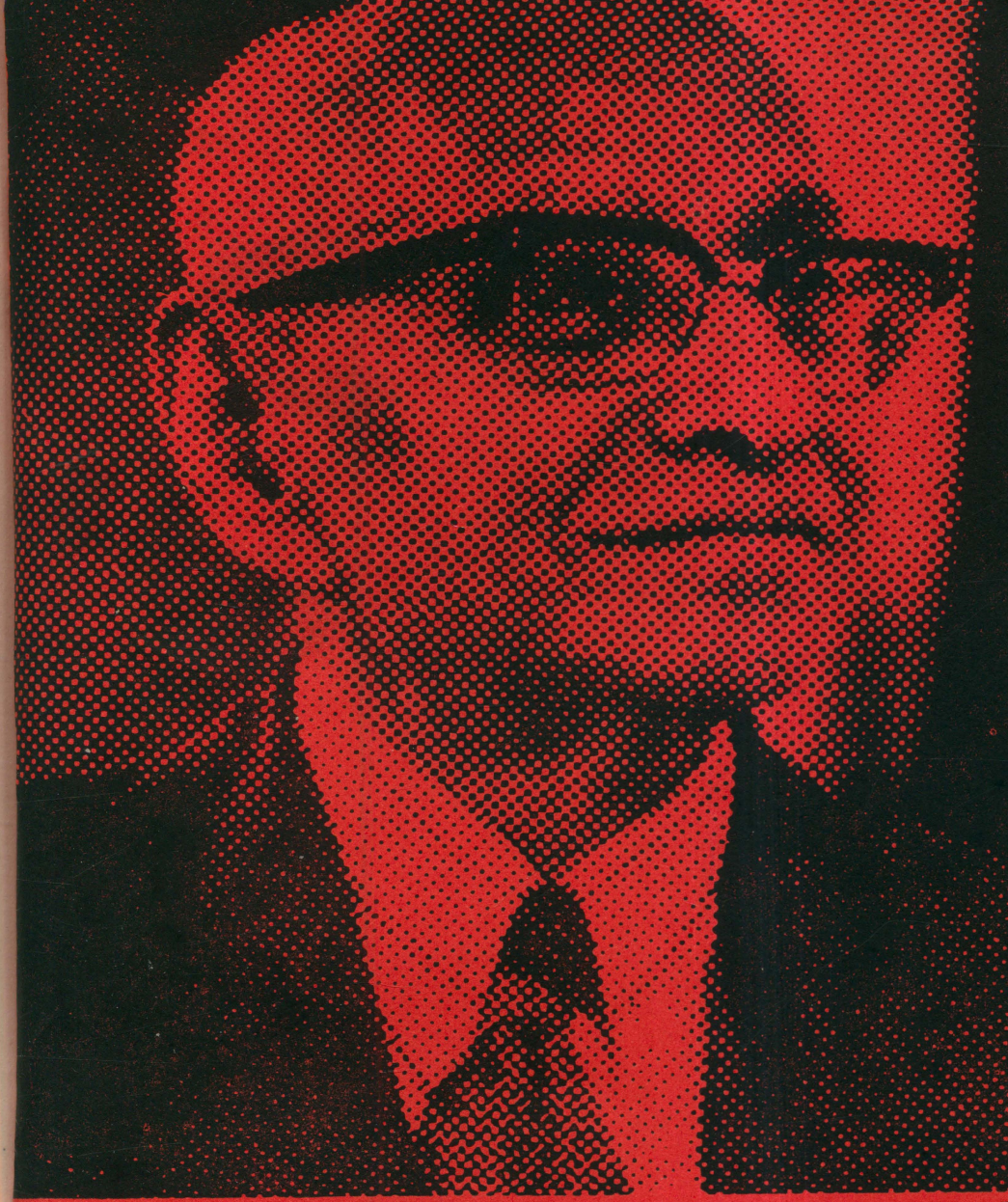

साहू श्रेयांस प्रसाद जैन; जन्म ३ नवम्बर १९०८

"...एक फिल्म देखी थी – 'दुनियादारी'। उसका एक दृश्य और वाक्य अभी तक मेरे चित्त पर जमा हुआ है : 'भावना से कर्तव्य ऊँचा है'। आज भी मुझे यह अच्छा लगता है। मैं प्रतिक्षण इसे याद रखता हूँ।"

–30 जुलाई 1983

श्रे. : हाँ, सत्ता की राजनीति है ।

पत्रकारिता : तब/अब

ने. : बुनियादी परिवर्तन हो गया है । आप पत्रकारिता, साहित्य-प्रकाशन आदि से भी सीधे जुड़े हुए हैं । इन्हें ले कर आपके अपने निष्कर्ष होंगे । आपको कैसा लगता है कि 'आजादी के पहले की पत्रकारिता' और 'आजादी के बाद की पत्रकारिता' में कोई उल्लेखनीय अन्तर आ गया है ?

श्रे. : कुछ समाचार-पत्रों ने तो अपनी इण्डिविज्युएलिटी (अस्मिता) को कायम रखा है, कुछ ने उसे समय के प्रभाव में गँवा दिया है । १९४६ में कलकत्ते में भीषण हत्याकाण्ड हुआ, जिसे 'केलकटा किलिंग' (१० अक्टूबर १९४६) कहा जाता है । तब 'टाइम्स ऑफ इंडिया' का एडीटर सर फ्रान्सिस लो नामक एक अंग्रेज था । मैं उस समय 'टाइम्स ऑफ इंडिया' का निदेशक था । उसका मेरे पास फोन आया कि ऐसा घटित हुआ है, आपकी क्या राय है ? मैं 'संपादकीय' क्या लिखूँ ? इसे क्या 'लाइन ऑफ एक्शन', 'लाइन ऑफ थिंकिंग' दूँ ? आज कोई नहीं करेगा । उसकी दो वजहें हो सकती हैं : एक, तो मैं उसका डायरेक्टर (निदेशक) था, किन्तु यह भावना शायद कम ही होगी; फिर शायद वह अंग्रेज था, इस कारण पूछा हो । आज हिन्दुस्तानियों पर क्या प्रतिक्रिया है, जिसे अपने अंग्रलेख में प्रतिम्बिबित करूँ । संभवत: यह भावना प्रधान रही होगी, ऐसा आज सोचता हूँ । यह भी हो सकता है कि इस घटना के साम्प्रदायिक होने के कारण विचार-विमर्श किया हो । घटना वाकई बहुत उग्र और भयानक थी ।

ने. : यह उत्कृष्ट पत्रकारिता है; इस प्रकार का विचार-विनियम अब नहीं होता है ।

श्रे. : अब कौन करता है ?

आप क्या चाहते हैं ?

ने. : इस क़िस्म का कोई और ऑब्जर्वेशन (अवलोकन) हो तो बताइये, आप क्या चाहते हैं, . ा चल रहा है, वैसा चले, या कोई रद्दोबदल हो ?

श्रे. : यह तो कोई चाहता नहीं कि जैसा चल रहा है वैसा चले; लेकिन हर-एक आदमी के वश में हरएक बात नहीं होती । आज पत्रकारिता, जहाँ तक दैनिकों (डेलीज) का ('तीर्थंकर' तो मासिक है, वह एक साहित्यिक-वैचारिक अपूर्व पत्र है । ऐसा कोई पत्र समाज में आज तक निकला नहीं, जैसा 'तीर्थंकर' आज निकल रहा है) और दूसरे पत्रों का सवाल है, संपादक की रीति-नीति पर ही बहुत-कुछ निर्भर करता है । जो संपादक चाहता है, उसके जो विचार हैं, वे ही पत्र के विचार होंगे, वे ही उसमें प्रतिम्बिबित होंगे । कभी कोई खास मसला आया, तो प्रोप्रायटर ने कुछ विचार परोक्ष रूप में बता दिये; किन्तु इससे अधिक कुछ हो नहीं सकता । पत्रकारिता का क्षेत्र अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का क्षेत्र है ।

ने. : यह तो हुई समाचार-पत्रों की स्थिति; प्रकाशनों की स्थिति आज क्या है ? 'भारतीय ज्ञानपीठ' जिसके आप अध्यक्ष हैं; कोई संदेह नहीं, वह जो काम कर रही है वह सब ऐतिहासिक, अविस्मरणीय तथा अखिल भारतीय या विश्व-स्तर का है; लेकिन मैं यहाँ यह जानना चाहता हूँ कि क्या पाठकों की संख्या जैसी-थी-वैसी ही है या उसका परिमाण तथा स्तर कम-ज्यादा हुआ है ? आप तो यह सब काफी लम्बे समय से देखते आ रहे हैं।

श्रे. : पाठकों की संख्या लगभग वही है। जो लक्ष्य पहले था वही आज है। व्यवस्था और रीति-नीति भी वही है। बदलते संदर्भों से जुड़ने का प्रयत्न अलबत्ता हम अवश्य करते रहे हैं।

ने. : मैं पूरे देश के बारे में बात कर रहा हूँ, जिस तरह के प्रकाशन हुए हैं/हो रहे हैं, क्या कोई तब्दीली नहीं हुई है ?

हिन्दी-को-छोड़

श्रे. : सिवाय हिन्दी भाषा को छोड़ रीडरशिप बढ़ी है। मराठी, गुजराती, बंगला, तमिल, कन्नड़ – सब में पाठकों की संख्या बढ़ी है। सब तरह की पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, अच्छे स्तर की किताबें प्रकाश में आयी हैं। हिन्दी में भी अच्छी पुस्तकें आयी हैं; किन्तु अनुपात में बिक्री कम हुई है।

ने. : मतलब यह कि हिन्दी की रीडरशिप कम हुई है ?

श्रे. : बिक्री ही नहीं है। समस्या यह है कि हर आदमी माँग कर किताब पढ़ना चाहता है। दूसरी भाषाओं में ऐसा नहीं है।

मैं : शायरी : भाषाएँ

ने. : शायरी में आपकी रुचि गहरी है; कब से है यह ?

श्रे. : हमारे एक शिक्षक थे, उन्हें शायरी का बड़ा शौक था। वे जैसा कि शहरों, या कस्बों में होता है–वसन्तोत्सव, होलिकोत्सव आदि पर्व-त्यौहारों पर कभी कवि-सम्मेलन, कभी मुशायरा रख लिया करते थे। उसमें शेर पढ़े जाते थे। उस जमाने में उत्तरप्रदेश (यू.पी.) की आम भाषा (कोर्ट-कचहरी की भी) उर्दू थी। जिस आदमी को उर्दू नहीं आती थी, वह अपढ़/गँवार समझा जाता था।

ने. : तब आप बहुत छोटे रहे होंगे ?

श्रे. : हाँ; उस समय उर्दू की प्रतिष्ठा हिन्दीसे अधिक थी।

ने. : मुगलिया जमाने से ऐसा हुआ ?

श्रे. : बात यह है कि उर्दू राज-काज की भाषा थी। मैंने फारसी भी पढ़ी।

ने. : फारसी लिपि में लिख भी पाते हैं; बोलना तो आता ही है ?

कषाय विषयाहार त्यागो यत्र विधीयते ।
उपवासः स तु विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः ।।

जिसमें कषाय, विषय, और आहार का त्याग हो उसे उपवास कहते हैं । जिसमें यह नहीं है, वह केवल लंघन ही है; अतः यदि अंतरंग की कषाय शान्त नहीं हुई, तो उपवास करने से क्या लाभ ?

श्रे. : अब भूल गया हूँ, फिर भी बंगला मैं अब पढ़ सकता हूँ; लेकिन प्रैक्टिस छूट जाने से अब बोल नहीं सकता ।

ने. : शायरी आपकी तेरह-चौदह की उम्र से शुरू हो गयी होगी ?

श्रे. : हाँ; मुशायरा सुनता था ।

ने. : क्या आपने कभी किसी मुशायरे का आयोजन करवाया ?

श्रे. : मैं खुद तो वैसा नहीं करता था । मेरे चचेरे भाई साहू जगमन्दिरदासजी, जो डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के चेयरमैन थे, करवाते थे; इस तरह के आयोजनों में रुचि लेते थे ।

ने. : भाग लेते थे ?

श्रे. : हाँ ।

ने. : शेर सुनाते थे ?

श्रे. : किसी ने लिख दिया, तो पढ़ कर सुना दिया ।

चस्का : शेरो-शायरी का

ने. : मान लीजिये, एक ऐसी सभा है जिसमें लोग बैठे हैं और मुल्क के कुछ अहम मसलों पर मशवरा कर रहे हैं; ऐसे में आप उन्हें कौन-सा शेर सुनायेंगे ?

श्रे. : अच्छा, सुनिये—

तूफाँ अगर आता है, आने दे;
क़िश्ती[1] का खुदा खुद मालिक है,
मालूम नहीं मौजों[2] में बहता हुआ साहिल[3] आ जाए ।

१. नौका । २. लहरों । ३. किनारा ।

ने. : कोई ऐसा आदमी है, जो जीवन से बड़ा निराश है, जो मुस्कराया ही नहीं है मुद्दतों से। ऐसे आदमी को उत्साहित करने के लिए आप कौन-सा शेर कहेंगे ?

श्रे. : बाहर से सुनाने से क्या होगा, उसके भीतर भी तो उल्लास होना चाहिये।

ने. : मान लीजिए, वह बहुत ग़मगीन है।

श्रे. : हरएक शेर से हरएक आदमी में जोश नहीं आ सकता। उसकी दिल-चस्पियाँ क्या हैं ? क्या चीज़ उसे पसन्द है ? कोई मौज़ूँ शेर याद आ जाए, तो संभव है उसका ग़म-ग़लत हो जाए; लेकिन सारा दार-मदार 'सिच्युएशन' पर 'डिपेंड' करता है।

ने. : ऐसा कोई शेर याद नहीं आ रहा है क्या ?

श्रे. : जो सब के लिए हो।

ने. : कोई हिम्मत बँधाने वाला, हौसलाए-अफ़जाइ करने वाला शेर सुनाइये, जिसे सुन कर क़रार आ जाए।

श्रे. : देखिये, इनसे शायद कुछ हो–

समझ सक्के हैं वही हयात (जीवन) का मक़सद (उद्देश्य)
मुसीबतों में भी जो मुस्कुराये हैं।

मेरे जीने के लिए एक आसरा दरकार था
आप ग़म देते गये मेरी गुज़र होती गई।

ख़ुदा उस डूबने वाले की हिम्मत को जवाँ रक्खे,
साहिल के करीब आकर जिसे साहिल नहीं मिलता।

फिल्में : बहुत पहले

ने. : क्या फिल्में देखने का शौक आपको नहीं है ?

श्रे. : पहले बहुत था।

ने. : कब ?

श्रे. : नजीबाबाद के रहने वालों के लिए पहले कोई सिनेमा नहीं था।

ने. : मुव्हीज़ होती होंगी ?

श्रे. : मुव्हीज़ या टॉकीज़ नहीं, सिनेमा ही नहीं था। हर महीने दिल्ली जाते थे फिल्म देखने। सिर्फ मुव्हीज़ देखने।

ने. : टॉकीज़ पहले थी कहाँ, मुव्हीज़ ही थीं।

श्रे. : पहली टॉकीज़ १९३२ में बनी, नाम था शायद – आलम आरा। पहली फिल्म मेरठ में देखी।

ने. : क्या वह देश में पहली थी ?

श्रे. : हाँ।

ने. : उसके बाद शौक बना रहा ?

श्रे. : हाँ ।

ने. : कौन-सी फिल्म सब में अच्छी लगी ?

श्रे. : फिल्में बहुत हैं । 'देवदास', मुझे बहुत अच्छी लगी ।

'गाँधी' फिल्म

ने. : फिलहाल 'गाँधी' फिल्म चल रही है ।

श्रे. : 'गाँधी' फिल्म बहुत अच्छी है, पर मुझे वह नयी नहीं लगी । जिन्होंने गाँधी को चलते-फिरते-बोलते देखा है, उनके लिए नया वहाँ कुछ नहीं है । १९४७ के बाद जो जन्मे हैं, उनके लिए वह एक प्रेरणादायी फिल्म है ।

ने. : जिन्होंने प्रत्यक्ष देखा है ।

श्रे. : उनके लिए कोई नवीनता नहीं है ।

ने. : जिन्होंने बापू को प्रत्यक्ष देखा है, उन्हें क्या फिल्म में प्रत्यक्षता की अनुभूति नहीं होती ?

श्रे. : अब जैसे जलियाँ वाला बाग है । वह एक घटना है, जो जुल्म के लिए एक ज़ज्बा पैदा करती है ।

ने. : शायद वह घटना फिल्मायी गयी होगी ? वैसे, 'गाँधी' फिल्म की काफी शोहरत है ।

श्रे. : नाम इसलिए है कि जिन्होंने गाँधी को प्रत्यक्ष नहीं देखा है, वे उन्हें देख पाते हैं । जो लोग १९४७ के बाद पैदा हुए हैं उनके लिए भी वह महत्त्वपूर्ण है । १९४० के बाद की पीढ़ी ने भी उन्हें नज़दीक से कहाँ देखा था । असल में इस समय उन लोगों की संख्या ज्यादा है, जिन्होंने गाँधी को कभी देखा ही नहीं, इसलिए उन लोगों के लिए यह ठीक है । जो गाँधीजी के संपर्क में कभी आये नहीं; कि वह महापुरुष कौन था, क्या था, जो देश की आज़ादी के लिए निहत्था लड़ा-जूझा ?

ने. : और जिन्होंने आँखों के सामने देखा है ····

श्रे. : उन्हें इसमें कमियाँ नज़र आती हैं । जिन्होंने सरदार पटेल को कभी देखा ही नहीं, उन्हें सरदार पटेल को मोटा दिखाओ , दुबला दिखाओ, कैसा भी दिखाओ, क्या फ़र्क पड़ता है ? किन्तु जिन्होने उन्हें देखा है, पं. जवाहरलाल नेहरू को देखा है, जिन्ना को देखा है; उन्हें पिक्चर बिलकुल बचकाना लगती है ।

नाटक : शोमैनशिप घटी है

ने. : नाटक आपको कैसे लगते हैं ?

श्रे. : हिन्दी नाटकों के बारे में मेरी बड़ी रुचि है, पर अब तो हिन्दी नाटक ख़त्म हो गये ।

ने. : पहले हिन्दी-नाटक थे कहाँ ?

श्रे. : पहले मदन थिएटर्स-जैसी नाटक कम्पनियाँ थीं। मेरठ में लगने वाले नौचंदी मेले में उसके नाटक दिखाये जाते थे, जिन्हें देखने हम लोग जाते थे।

ने. : कौन-सा वर्ष रहा होगा ?

श्रे. : १९२५-३० के बीच। आज के और तब के नाटकों में बहुत फ़र्क़ था। आज सिम्प्लीसिटी आ गयी है, पहले का तरीक़ा अलग था।

ने. : वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण ही शायद यह हुआ है।

श्रे. : आज के नाटकों में जीवन का दिग्दर्शन ज्यादा है।

ने. : पहले जटिलताएँ अधिक थीं ?

श्रे. : जटिलताएँ तो ज्यादा नहीं थीं, लेकिन शोमैनशिप (प्रदर्शनात्मक) ज्यादा थी।

ने. : यह अच्छा हुआ, या बुरा ?

श्रे. : अच्छा।

ने. : अब प्रदर्शनात्मकता घट गयी है।

श्रे. : अब नाटक जीवन के अधिक क़रीब आ गया है, अब वह यथार्थवादी अधिक हो गया है।

ने. : पहले नाटक जीवन से थोड़ा हटा होता था। कभी छात्र-जीवन में आपने अभिनय किया है ? कुछ हुआ कि नाटक खेले ?

श्रे. : घर में बच्चे जैसे।

ने. : घर में नाटक की स्थिति बनती है।

श्रे. : हमारे यहाँ कभी-कभी ऐसा होता था कि बच्चे नाटक खेल लेते थे, किन्तु वह सब उनकी तरह का ही होता था।

टॉयज ऑफ द ओल्ड मेन

ने. : बच्चों का ज़िक्र आपने अच्छा किया। बच्चों के साथ आपको, मैं समझता हूँ, बहुत अच्छा लगता होगा ?

श्रे. : हाँ; बच्चे यानी ग्राण्ड चिल्ड्रन (नाती-नातिन)। 'ग्राण्ड चिल्ड्रन आर द टॉयज आफ द ओल्ड मैन' (नाती-पोते बूढ़ों के खिलौने होते हैं)।

ने. : नातियों के साथ ज्यादा सुख अनुभव करते हैं ?

श्रे. : उनसे बातें अधिक खुल कर हो सकती हैं; परिहास (हँसी-मजाक) कर सकते हैं। दरअसल, अपने बच्चों के साथ आप उतना परिहास नहीं कर सकते, जितना अपने ग्राण्ड चिल्ड्रन के साथ कर सकते हैं।

ने. : फर्क़ तो थाह लेने के लिए पूछ रहा हूँ। 'युवाओं-के-बीच' और 'बच्चों-के-साथ' दोनों में से किसके साथ आपको अधिक अच्छा लगता है ?

श्रे. : जहाँ तक आन्तरिक सुख का सवाल है, बच्चों के साथ।

ने. : बच्चों के साथ भविष्य होता है।

श्रे. : भविष्य की बात नहीं; 'स्वान्तः सुख' की बात है।

ने. : वैसे तो बच्चों के साथ सुख सभी को मिलता है।

श्रे. : बच्चों के साथ भविष्य अच्छा होगा, इसमें ऐसी कोई बात नहीं है।

ने. : बच्चों को आपने कहानी-किस्से सुनाये, या उन्होंने आपको ?

श्रे. : दोनों ने, एक-दूसरे को (हँसी)।

ने. : चुटकुले सुनाते होंगे। कहानी तो क्या ?

श्रे. : कुछ भी बात कह दो, कहानी बन जाती है। कहानी कोई रची-रचायी तो होती नहीं है। तुरत घड़ो, तुरत कहो।

एकान्त : असंभव

ने. : आपको एकान्त भाता है या चहल-पहल, तेज हलचल ?

श्रे. : थोड़े समय का; क्योंकि आदमी अगर, साधु-संतों की बात छोड़ दीजिये, एकान्त में रहे, तो घबड़ा जाएगा।

ने. : आप ऐसा धर्म के मानने वाले हैं, जिसमें अनेकान्त होता है। मैं एकान्त की चर्चा कर रहा हूँ; मानूँ कि चहल-पहल आपको ज्यादा अच्छी लगती है।

श्रे. : 'चहल-पहल' शब्द का इस्तेमाल मैं नहीं करूँगा। अच्छा वार्तालाप हो; शायरी हो, या ऐसा कोई प्रसंग हो, जिसमें दिलचस्पी हो, तो आनन्द आता है।

ने. : सो तो देख ही रहा हूँ।

श्रे. : एकान्त कुछ देर के लिए अच्छा लगता है। यह बताना तो मैं आपको भूल ही गया कि लाहौर की जेल में मुझे चार दिन का 'एकान्त कारावास' हुआ था।

ने. : कब ?

श्रे. : १९४३ में।

ने. : 'एकान्त कारावास' यानी ?

श्रे. : 'सोलिटरी कन्फाइनमेंट'।

ने. : कोई साथ में नहीं था ?

श्रे. : न; उस कोफ़्त की तो आप कल्पना ही नहीं कर सकते। आदमी को एकान्त देना खुद में बहुत बड़ी सजा है। ऐसा चाहे घर पर ही क्यों न हो। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह अकेला रह नहीं सकता। साधु-संतों की बात मैं नहीं करता। उन्हें एकान्त चाहिये, यह उनकी फ़ितरत है।

ने. : उनकी बात अलग है। वे अपवाद हैं। 'वे चार दिन' बहुत सालते होंगे; उन्हें यदि शब्द दे सकते हों तो बताइये।

श्रे. : उस वक्त मेरी अवस्था ऐसी नहीं थी। जो मैं कहना चाहता हूँ उसे शब्दातीत ही समझिये।

ने. : जब एकान्त से मुक्त हुए होंगे, तब उत्सव-जैसा उल्लास मन में हुआ होगा ?

श्रे. : हाँ।

ने. : अब तो एकान्त अच्छा लगता होगा ?

श्रे. : मैं एकान्त में रह ही नहीं सकता। मुझे कोई-न-कोई कम्पनी (साथ) चाहिये।

ने. : क्या कभी एकाग्रता सध पाती है ?

श्रे. : अगर कोई तीव्र खयाल हो तो। फिर चाहे वह सांसारिक हो या साहित्यिक। यदि उसमें आपकी रुचि है तो उसमें आप डूब जाएँगे, निमग्न हो जाएँगे।

ने. : मैं तो आपकी बात कर रहा हूँ।

श्रे. : मैं भी अपनी ही बात कर रहा हूँ। जिस विषय में मेरी रुचि है, उसमें मेरी एकाग्रता होती है।

ने. : ऐसा तो कई बार होता होगा ?

श्रे. : उसे ही सोचता रहता हूँ बाद में।

कभी यह कि–

ने. : आपका जीवन-दर्शन (फिलासाफी ऑफ लाइफ) है ?

श्रे. : जीवन-दर्शन के बगैर तो कोई आदमी जिन्दा ही नहीं रह सकता।

ने. : उसे बतायें अनुग्रहपूर्वक।

श्रे. : जीवन-दर्शन सदैव एक-सा नहीं रहता। समय के साथ उसका विकास होता है। कभी यह कि ताश खेलो; कभी यह कि पुस्तकें पढ़ो। कभी ऐसा कि ऐसे मित्रों की कम्पनी (साथ) हो, जिनके साथ रहने में सुख-शान्ति मिले। कभी कोई सेवा का कार्य मिल जाए, या किसी संस्था का काम मिल जाए, तो उससे बड़ा सकून मिलता है। इस तरह कुछ सिद्धान्तों/दृष्टियों का समुदाय जीवन की दिशा निर्धारित करता है।

ने. : दृष्टियों और रुचियों का जो समुदाय बन जाता है, उसे ही जीवन-दर्शन कहेंगे ?

श्रे. : कोई एक चीज से जीवन-दर्शन नहीं बनता, वह बनता है हमारी चिन्तन-शैली से।

ने. : उसमें विविधता होती है। वह एकांगी नहीं हो सकता। वह इच्छा, ज्ञान और क्रिया का एक संतुलित समुच्चय होता है।

'हमारा कहना है : जो आपके घर भोजन और वस्त्र आदि में व्यय हो उसमें १ रुपया पर पाव आना (अब लगभग १ पैसा) दान में रख लो। यदि यह काम हो गया तो अनायास ही सर्व संस्थाएँ चल जावेंगी, परन्तु यह सामूहिक होना चाहिये।

—गणेशप्रसाद वर्णी

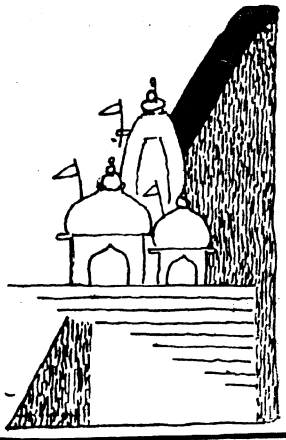

श्रे. : यह आदमी के अंतरंग 'मूड' पर निर्भर करता है। हिन्दी में 'मूड' को क्या कहेंगे ?

ने. : चित्तवृत्ति; रुझान, या ढलान भी कह सकते हैं। उस पर बहुत कुछ निर्भर करता है। आपके जीवन-दर्शन में बहुत बातों का समावेश है, हँसी है, विनोद है, बच्चे हैं, खेल है, पढ़ना है इत्यादि। इन सब को एक साथ देखने पर ही आपके जीवन-दर्शन की कोई स्पष्ट कल्पना हो सकती है।

शब्द नहीं, काम

ने. : नवम्बर १९८३ से अक्टूबर १९८४ की अवधि में हम लोग आपका 'अमृत महोत्सव' मना रहे हैं; मंगलाचरण-स्वरूप आप कोई संदेश दें।

श्रे. : मैं सत्य कहता हूँ, बिलकुल शुद्ध हृदय से कि मुझे ले कर कोई अमृत महोत्सव मने, इस पक्ष में मैं नहीं हूँ। मैं नहीं चाहता, इसे लोग इस या उस तरह मनायें। मैंने तो अपने दिल्ली-बम्बई के मित्रों और सहयोगियों से निवेदन किया है कि वे मुझे अपनी शुभ कामनाएँ दें, यही मेरा पाथेय है।

ने. : आप तो शुरू से ही इसके प्रति उदासीन हैं।

श्रे. : मैं बिलकुल नहीं चाहता हूँ, करूँ क्या मेरी यह कमज़ोरी है कि जब मित्रों का आग्रह होता है, तो मैं उसे टाल नहीं पाता हूँ, इसलिए इच्छा होते हुए भी अपने मित्रों को मना नहीं कर पा रहा हूँ।

ने. : यह आप के तथा हम सब के जीवन का एक महत्त्वपूर्ण वर्ष है, अतः कोई संदेश तो दें ही ताकि उसे मशाल की तरह लेकर हम आगे बढ़ सकें, या दीये की भाँति उसे जीवन के आँगन में रख दें, ताकि उसके उजाले में सारे अंधेरों के समाधान मिल सकें।

श्रे. : इसमें मैं आपका मार्गदर्शन चाहूँगा।

ने. : मैं भला क्या कर पाऊँगा इस संदर्भ में ?

श्रे. : गुरुजनों का मार्गदर्शन बड़े महत्त्व का होता है, वह जीवन में प्रतिक्षण चाहिये। घिसी-पिटी चीजें तो मेरे सामने बहुत हैं; यह कि समाज-सेवा करो, धर्माराधना करो इत्यादि ; पर शब्दों से काम चलेगा नहीं, करने में से ही बन जाएगा।

ने. : इस सब में आपके लिए अब रस कहाँ है ?

श्रे. : दूसरों के लिए भी रस नहीं है इनमें। मेरे मन में है कि मैं भविष्य के लिए एलाचार्य मुनि विद्यानन्दजी, आचार्य विद्यासागरजी, आचार्य धर्मसागरजी, गुरुदेव समन्तभद्रजी, आप-जैसे मूर्द्धन्य विद्वानों, गुरुजनों और मनीषियों से मार्गदर्शन प्राप्त करूँ।

ने. : गाँधीजी ने एक बात बहुत बढ़िया कही थी कि 'मेरा जीवन ही मेरा संदेश' है ।

श्रे. : गाँधीजी मैं नहीं हूँ।

ने. : सच, आपका जीवन ही हम सब के लिए बहुत कीमती संदेश है।

उम्र : शरीर : प्रतिभा

श्रे. : मैं बार-बार कहता हूँ कि उम्र की सुदीर्घता है, वह आदमी को नहीं नाप सकती। पचहत्तर वर्ष हो गये, इसलिए मैं बड़ा आदमी हो गया हूँ, या विचारक हो गया हूँ, ऐसा सोचना बिलकुल ग़लत है। चालीस का आदमी भी सौ वर्ष जी चुके आदमी से अधिक उपयोगी बातें कर सकता है।

ने. : उम्र का और शरीर का शायद कोई संबन्ध नहीं है ?

श्रे. : ठीक से, शायद, कोई संबन्ध नहीं है। दोनों अलहदा हैं। पचहत्तर वर्ष का आदमी भी बिलकुल बच्चों-जैसा व्यवहार कर सकता है।

ने. : कई लोग करते भी हैं; इसका संबन्ध प्रतिभा, या बुद्धि से है।

श्रे. : शरीर के साथ बुद्धि का भी विकास होना चाहिये। बुद्धि का संबन्ध चिन्तन से है। शरीर चला जाता है, विचार बने रहते हैं, इसलिए मेरा ज़ोर सदैव स्वस्थ और रचनात्मक चिन्तन पर ही रहा है। आप सब की शुभ कामनाएँ प्रतिपल मेरे साथ हैं। यही मेरी संपत्ति है।

ने. : कुल मिलाकर आपने जो कहा है वही हम संदेश-रूप ले रहे हैं; और मानव-सेवा में लगे असंख्य लोगों तक उसे पहुँचा रहे हैं।

समस्याएँ : सामाजिक

ने. : अब मैं एक दूसरे ही मोड़ पर आता हूँ सीधे समाज-सेवा पर। सब जानते हैं कि समाज किसी एक से तो बनता नहीं है, उसे बनाते हैं स्त्री-पुरुष दोनों।

श्रे. : समाज अर्थात् एक संतुलित समुदाय।

ने. : अलग-अलग उम्र, अलग-अलग पेशे, अलग-अलग रुचियों के लोगों से बनता है कोई समाज। विषमताएँ होती हैं, इसलिए समाज-सेवा का स्वरूप सर्वत्र एक-जैसा संभव नहीं है। जैसे नारी-समाज के प्रति सेवा के निमित्त (उसके द्वारा और उसके लिए) समाज-सेवा का रूप काफी भिन्न होगा?

श्रे. : नारी की समस्याएँ अलग हैं। सब की समस्याएँ समान नहीं हैं। जिसकी जैसी समस्या होगी, उसका तदनुसार समाधान ढूँढ़ना होगा।

ने. : स्त्री-जीवन की प्रमुख समस्याएँ आज क्या हैं?

श्रे. : वह स्वयं एक समस्या है।

ने. : यह तो दर्शन (फलसुफा) की बात हुई; एक चिरन्तन कथन, जिसका कोई हल नहीं है।

श्रे. : जो स्त्रियाँ शहरों में रहती हैं, उनकी समस्याएँ अलग हैं।

ने. : शहर की स्त्रियाँ और देहात की स्त्रियाँ।

श्रे. : दोनों ही की समस्याएँ अलग-अलग हैं। शहरी स्त्रियों की कई समस्याएँ हैं। उनका पारिवारिक जीवन सुख-शान्तिपूर्ण नहीं है। आधुनिकता (मॉडर्निटी) उसमें बाधक बनी है। गाँवों और कस्बों में दहेज की समस्या है। यदि वे घर से पूरा दहेज नहीं लाती हैं, तो उनके साथ जो सलूक होता है, वह बड़ा अमानवीय और मन को पीड़ा देने वाला है।

शादी : मेरी, मेरे पौत्र की

ने. : आप की शादी में दहेज की क्या स्थिति थी?

श्रे. : मेरी शादी की एक उपलब्धि तो यह हुई कि नजीबाबाद में जैन और वैष्णव समाज में जो संघर्ष चला आ रहा था, वह मेरे विवाह के समय नहीं हुआ। जब मेरा विवाह हुआ, उस समय मैं सत्रह का था। १९२५ में मेरा विवाह हुआ। उस समय चौदह में शादी हो जाती थी। हुआ यह कि दोनों ओर का जो वैमनस्य था, वह ख़त्म हो गया। जब वैमनस्य टूटा तो दोनों ओर के आदमियों ने बारात में जाने का संकल्प किया। बारातियों की संख्या क़रीब हज़ार रही होगी। जहाँ तक माँगने का सवाल है, कुछ भी माँगा नहीं गया; और जो दिया गया उससे इनकार नहीं किया गया। अब जैसे मेरे पौत्र चि. बकुल की शादी हुई, तो हमने लेने से इनकार किया। साफ कहा : हम नहीं लेंगे।

ने. : यह परिवर्तन हुआ।

श्रे. : हमें कुछ आदर्श स्थापित करने होंगे। पौत्र चि. बकुल की शादी हुई, जितना भी देना चाहा सब इनकार कर दिया। इसी प्रकार दूसरे बच्चों की शादी जब होगी, मेरा मन है, उन सब में भी हम कुछ नहीं लेंगे। लड़कियों की शादी में तो मजबूर

हैं; जो कहेंगे, करना पड़ेगा; लेकिन लड़के की शादी में तो मैं इनकार कर सकता हूँ, वह तो मेरे हाथ की बात है।

ने. : साधुवाद। यह तो साहू-खानदान के अनुरूप ही हुआ। अब आर्थिक समस्या पर आइये और बताइये कि क्या उसे आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ होना / बनना चाहिये ?

नारी : बने आत्मनिर्भर

श्रे. : जब तक स्त्री आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर नहीं होगी, तब तक उसका शोषण जारी रहेगा। स्त्री को आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ होना ही चाहिये। घर में तभी उसकी प्रतिष्ठा बनेगी और इज्जत होगी। इसके कुछ दुष्परिणाम भी निकल सकते हैं। यह तो संसार है। जो चीज अच्छी है, उसका भी कोई दूसरा अनचाहा पहलू हो सकता है; और बुराई में से भी कोई अच्छाई जनम सकती है।

ने. : क्या नारी पूर्णतः शोषण-मुक्त हो सकती है ?

श्रे. : हो सकती है। शिक्षा का मिक़दार बढ़ाना होगा। आज दफ्तरों में, विशेषतः शहरों में, स्त्रियाँ कार्यरत हैं। वे स्वावलम्बी हैं। समाज के विकास में उनका भी योगदान है।

ने. : अच्छा लक्षण कहें इसे ?

श्रे. : जब तक स्त्री स्वावलम्बी नहीं होती आर्थिक दृष्टि से, तब तक उसके शोषण-मुक्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता। अहमदाबाद, बंगलौर, कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली कोई भी शहर हो, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। स्त्री कार्यालयों में जा रही है, पुरुष जा रहा है; दोनों काम कर रहे हैं। अब यह सामान्य हो गया है। इसमें अब अजूबा रहा नहीं है।

ने. : समाज-सेवा को यदि हम बाल-विकास की ओर मोड़ना चाहेंगे, तो उसका क्या रूप होगा ?

श्रे. : बालकों की समाज-सेवा अलग से क्या ?

ने. : संस्कार, लालन-पालन, आरंभिक शिक्षा-दीक्षा।

श्रे. : ये सब तो माता के काम हैं ?

ने. : धार्मिक शिक्षण। जैनों में इसकी क्या स्थिति है ? आप भले ही भेद न करते हों जैन समाज और भारतीय समाज में, लेकिन इसे थोड़ा रेखांकित करके सोचने की ज़रूरत है। एक छोटे समूह की सेवा और एक बड़े समूह की सेवा – दोनों में अन्तर तो आयेगा ही। स्वरूप एक-जैसा हो सकता है, लेकिन मैदान में दोनों अलग-अलग ही होगी।

श्रे. : स्थान-विशेष की समस्या तो समझ में आती है कि यह गाँवों की समस्या है और शहर की; लेकिन आर्थिक, सामाजिक, या सांस्कृतिक तल पर मैं इन समस्याओं

में अधिक अन्तर नहीं कर पा रहा हूँ। हाँ, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक इस तरह वे भिन्न-भिन्न हो सकती हैं।

प्रश्न : एप्रोच का

ने. : जैनों में ग़रीब भी हैं और अमीर भी।

श्रे. : अन्य समाजों में भी ऐसा ही है।

ने. : किन्तु जैनों को तो ज्यादातर लोग समृद्ध मानते हैं।

श्रे. : यह तो अनुमान हुआ; वस्तुतः जैनों में ग़रीब भी हैं और अमीर भी हैं।

ने. : मध्यम श्रेणी के लोग भी हैं।

श्रे. : अधिकतर मध्यम श्रेणी के ही हैं। मैं बताना चाहूँगा कि यह समस्या सिर्फ जैनों की नहीं है। समूचे भारतीय समाज की है, इसलिए जो समाधान वहाँ होंगे, वही यहाँ होंगे। हम और हमारी समस्याएँ भारतीय समाज से अलग नहीं हैं।

ने. : हम व्यापक रूप में देखें कि समस्याएँ क्या हैं? संपूर्ण भारतीय समाज के संदर्भ में जैन समाज को लें? कामकाजी जैन महिलाएँ हैं। वे शहरों में ही हैं। गाँव में जैन हैं, लेकिन वहाँ जैन महिलाएँ कामकाजी नहीं हैं। जैन सामाजिक संदर्भ में इन महिलाओं की क्या स्थिति है, इसकी समीक्षा करें, ताकि आगे चल कर यह कोई घातक मोड़ ग्रहण न कर ले।

श्रे. : आप इसे भारतीय – व्यापक संदर्भ में नहीं ले रहे हैं; लेकिन लेना पड़ेगा; इसलिए कि जो शहरी महिलाओं की समस्याएँ हैं, वे जैन शहरी महिलाओं की समस्याएँ हैं, कोई ऐसा प्रदेश या ऐसा नगर-ग्राम नहीं है, जिसमें केवल जैन ही हों; जैन सर्वत्र हैं; अतः उनकी समस्याओं का स्वरूप भी अन्य लोगों की समस्याओं-जैसा ही है, अलग से कुछ नहीं है।

ने. : शायद प्रश्न 'एप्रोच' का हो। एक सामान्य जैन महिला का 'एप्रोच' क्या है, और एक कामकाजी जैन महिला का क्या है?

श्रे. : जहाँ तक सामाजिक समस्याओं का समाधान है वह समान है। धार्मिक 'एप्रोच' भिन्न हो सकता है; क्योंकि धार्मिक मान्यताओं में अन्तर हो सकता है।

ने. : सामाजिक 'एप्रोच' एक-सा है?

श्रे. : हाँ।

ने. : जैन और जैनेतर दोनों का?

कामकाजी महिलाएँ

श्रे. : वह एक-जैसा रहेगा। उसमें भिन्नता क्यों होगी? अगर किसी क़िस्म का अन्तर होगा भी तो वह संपन्नता के आधार पर ही होगा।

ने. : लेकिन एक संपन्न महिला कामकाजी क्यों बनेगी?

श्रे. : आज शहर में संपन्न महिलाएँ भी कामकाजी बनने को तैयार हैं। उसमें सुख है, इसलिए उसे समय बिताने के लिए कोई-न-कोई काम चाहिये; अर्थात् व्यस्त रहने की समस्या ?

श्रे. : हाँ।

ने. : धन की नहीं ?

श्रे. : व्यस्तता चाहिये। जो शहरी महिलाएँ हैं, वहाँ के जो नागरिक हैं, उनमें सब तरह के लोग हैं। रीति-रिवाजों और परम्पराओं के भेद भी इनमें हैं।

ने. : आर्थिक और व्यस्तता-संबन्धी समस्या समान है। संपन्न महिला चाहे वह जैन हो या जैनेतर, व्यस्त रहना चाहती है।

श्रे. : कस्बों में इसे हेय समझा जाता है; इसलिए वहाँ वह सामाजिक भय से अभी कामकाजी नहीं है।

ने. : एक उलझन हमारे सामने आ खड़ी होती है कि जो नारी बाहर व्यस्त होना चाहती है, उसकी पारिवारिक व्यस्तताएँ क्या कम हो गयी हैं ?

श्रे. : परिवार की व्यस्तताएँ आज इतनी नहीं हैं कि वह सुबह-से-शाम तक घर-गिरस्ती में उलझी रहे। पति तो चला गया दफ्तर में और संयुक्त परिवार आज है नहीं; अब तो उस, उसके पति, और बच्चों से परिवार बनता है। अगर बच्चे बड़े हो गये हैं, तो उन्हें घर से फिर कोई सरोकार नहीं है। यदि छोटे हैं, तो भी उसके लिए पूरा काम नहीं है। उनके लिए नर्सों की व्यस्तता है। जो धनी महिलाएँ हैं, वे बच्चे नर्स को सौंप कर छह-आठ घण्टों के लिए निश्चिन्त हो जाती हैं, इसलिए उन्हें तीन-चार घण्टों की अनिवार्य व्यस्तता चाहिये।

है भी, नहीं भी

ने. : क्या इसे इस प्रकार 'इंटरप्रीट' नहीं करेंगे कि भारतीय नारी आज अपने पारिवारिक दायित्व से विरक्त हो रही है ?

श्रे. : बिलकुल नहीं। विरक्त है भी और नहीं भी है। यह उसकी मानसिक बनावट पर निर्भर करेगा कि वह क्या है ? इसका कोई परिपूर्ण उत्तर संभव नहीं है। प्रश्न कुछ-कुछ व्यक्ति से संबन्धित भी है।

ने. : देखा गया है कि जो महिलाएँ एक बार बाहर निकल जाती हैं, वे घर के प्रति प्रायः उदासीन हो जाती हैं।

श्रे. : उदासीन तब हो जाती हैं, जब पति से उन्हें पूरा 'रिस्पॉन्स' नहीं मिलता। अगर पति से पूरा 'रिस्पॉन्स', आदर-सत्कार मिले, तो उदासीन होने का कोई कारण नहीं है।

ने. : मैं पूछना चाहूँगा कि ऐसी समस्याओं का कोई निराकरण है ? उदासीनता तो है कहीं-न-कहीं, बल्कि कहें कि अब उसने उपेक्षा की शक्ल ले ली है।

'अपने-आप-को-जानना स्वातंत्र्य का प्रथम सोपान है। अपने-आप-को-समझने से ही वह स्थिति वह प्रज्ञा प्राप्त होती है, जो काल की कुण्डली में जकड़ी हुई नहीं है। इस कालातीतता का, इस शाश्वतता का साक्षात्कार करने वाली प्रज्ञा ही मानव की समस्याओं का समाधान कर सकती है।

—जे. कृष्णमूर्ति

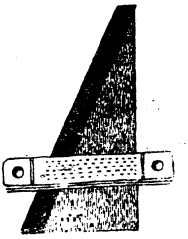

श्रे. : अगर समाधान चाहते हैं, तो जो संपन्न महिला है, जो व्यस्त रहना चाहती है, उसके लिए रास्ता खोजिये ताकि वह व्यस्त रह सके। उसे समाज-सेवा में लाइये, या लगे रहने दीजिये अपने किसी परम्परागत व्यापार-व्यवसाय में। व्यस्तता उसके लिए, किन्तु, अनिवार्य है; वह उसे चाहिये।

परिवार : रस-भंग

ने. : मैं इस बारे में यह भी सोचता हूँ कि गृहस्थी में, जो एक रस था, वह भंग हो गया है, क्या रस-भंग की इस विषम स्थिति को समाप्त कर सकते हैं? क्या परिवार में सरसता लौट सकती है?

श्रे. : हरएक परिवार में रस-भंग नहीं हुआ है।

ने. : ज्यादातर हुआ है। मेरा अपना तो बहुत अनुभव नहीं है। कुछ लोग मुझे बताते हैं। नारी के घर से निकलने में एक शिकायत यह बनती है कि घर में टूटन, नीरसता, रिक्तता और उदासी पैदा हो गयी है?

श्रे. : अगर ऐसा है, तो उसका समाधान क्या है?

ने. : वही तो मैं पूछ रहा हूँ।

श्रे. : कोई रास्ता नहीं है। आप नारी को मकान, या घर में क़ैद नहीं रख सकते, जब यह मान लिया जाएगा तो उसके 'आउट लेट' हमें ढूंढ़ निकालने होंगे, अगर वैसा हम नहीं कर पाये, तो सहज ही नारी स्वयं वैसा करेगी।

ने. : मतलब यह कि एक समस्या है, जो समाधान ढूंढ़ रही है; अभी समाधान निकला नहीं है।

श्रे. : शहरों में वह समझने लगी है कि जब तक आर्थिक संपन्नता नहीं आयेगी, तब तक एक सामान्य सुखद जीवन संभव नहीं है। महँगाई के कारण परिवार का भरण-पोषण तब तक संभव नहीं है, जब तक पति-पत्नी दोनों नहीं कमाते; और जो

लोग नौकरी-पेशा नहीं हैं, संपन्न हैं, उनके सामने समस्या यह है कि समय कैसे काटा जाए ?

सेवा : 'पास्टाइम'

ने. : समय व्यतीत करने के लिए क्या किया जाए—'पास्टाइम' क्या हो ?

श्रे. : यह उनके रुझान (एटीट्यूट) पर निर्भर करता है। किसी को सेवा की लगन है, तो किसी को संगीत प्रिय है। सब की अपनी-अपनी पसन्द है।

ने. : आप यह कहना चाहते हैं कि सेवा 'पास्टाइम' है ?

श्र. : उनके लिए 'पास्टाइम' ही है; इसलिए कि उसमें उनका वक्त कट जाता है। वक्त निकलने में से उन्हें तृप्ति मिलती है।

ने. : सेवा की एक शक्ल यह भी है। उनके लिए हम और कुछ तो शायद कर नहीं सकते ?

श्रे. : एक चीज़ सामने है।

ने. : यह सच्चाई है, जिसे नकारा नहीं जा सकता। क्या स्त्री-पुरुष दोनों के लिए समाज-सेवा का एक ही रूप है ? या अलग-अलग ?

श्रे. : यह उनकी रुचियों पर निर्भर करेगा।

ने. : सामान्य रुचि की बात है। हम विशिष्ट रुचि पर तो जा नहीं रहे हैं। स्त्री-वर्ग को ले लें कि उसके लिए समाज-सेवा की क्या शक्ल होगी ?

सेवा : मन-पंगु बच्चों की

श्रे. : मैं अपने घर की बात बताऊँ। कुछ महिला सदस्य हैं, जिनकी 'मेंटली रिटार्टेड' (मानसिक रूप से पंगु) बच्चों में रुचि है। उस काम में उनका लगाव/रुझान है। वे पंगुता को दूर करने, या कम करने के काम में लगी हुई हैं। सेवा की उनके लिए यह एक तर्कसंगत शक्ल है। उनकी रुचि है कि 'मेंटली रिटार्टेड' बच्चों की हालत सँभालें, और ऐसे उपाय करें जिससे वे समाज में रहने लायक बन सकें।

ने. : मानसिक रूप से जो बालक पंगु हैं, उनकी सहायता, या सेवा करना ?

श्रे. : हाँ, मैं अपने घर में ही देख रहा हूँ। चि. दुर्गा (पुत्र-वधू) की रुझान उसमें है। अभी एक ऑलिम्पिक हुआ रिटार्टेडनेस (पंगुता) का न्यूयार्क में, उसके लिए दिल्ली जाना, मिनिस्टर से मिलना, फिर आना। उसमें उसकी लगन थी। अब यदि उससे कहें कि तुम दूसरे काम में जाओ, तो उसका मन कैसे लगेगा ? जिसकी जिस कार्य में रुचि हो, वह उसमें अपना सर्वश्रेष्ठ योग दे सकता है। इसे एक महत्त्वपूर्ण सूत्र मानें समाज-सेवा का।

ने. : 'रिटार्टेड चिल्ड्रन' की बात अलग है। यह एक विशिष्ट क्षेत्र है। जब अन्य सामान्य बच्चों का प्रश्न आता है, तब उनकी शिक्षा-दीक्षा, बाल मन्दिर, उनका संचालन इत्यादि कई नये क्षितिज सामने आते हैं। पुरुष के लिए समाज-सेवा के क्या क्षेत्र हो सकते हैं ? यही कि जैसी उसकी रुचियाँ हो, वैसा काम वह करे, या अन्य कुछ ? यह आधार बहुत व्यापक हो गया है।

श्रे. : व्यापक ही उसे रखना होगा। किसी को समाज-सेवा के लिए लाचार कैसे करेंगे ?

समाज-सेवा : स्वेच्छा से

ने. : बाँध कहाँ रहे हैं ? मात्र सुझाव दे रहे हैं।

श्रे. : सुझाव कौन दे सकता है; यह कि अमुक आदमी, अमुक काम करे। यह तो सैनिकीकरण हो जाएगा। समाज-सेवा स्वेच्छा से संभव है, उसे कैसे थोप सकेंगे ?

ने. : जैसे दहेज है। उसके लिए मानसिकता बनायें।

श्रे. : दूसरी बात है।

ने. : वह भी तो सेवा का ही एक रूप है।

श्रे. : यह तो स्त्री, पुरुष दोनों पर चरितार्थ होता है।

ने. : हम समाज-सेवा के क्षेत्र दोनों के लिए अलग-अलग निर्धारित नहीं कर सकते ?

श्रे. : नहीं।

ने. : जो भी संभावना दीखे, उसे अपनायें।

श्रे. : यह ठीक है। स्त्री की बच्चों के काम में रुचि हो सकती है, उस ओर रुझान हो सकता है, पर इससे अधिक कुछ नहीं।

ने. : युवा-वर्ग में आज बड़ा आक्रोश और असंतोष है। कारण चाहे सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक या राजनैतिक हो, किन्तु हम उसके होने से इनकार नहीं कर सकते। युवा भारतीय समाज का अभिन्न अंग है, फिर वह जैन युवा ही क्यों न हो ? आप इस बारे में क्या सोचते हैं ?

आक्रोश : समाजोन्मुख

श्रे. : युवा-आक्रोश है, लेकिन परिवारोन्मुख नहीं, समाजोन्मुख है। आज यूनिवर्सिटियों में जो हो रहा है, उस पर घर वाले कह रहे हैं कि यह क्या बेवकूफी है ? वे उससे प्रभावित नहीं हैं। वे इस आक्रोश से बिलकुल अप्रभावित हैं।

ने. : प्रभावित नहीं होते; कारण खोजते हैं क्या ?

श्रे. : कारण खोजना एक बात है और आक्रोश में सम्मिलित होना दूसरी।

ने. : माना, उसमें सम्मिलित नहीं है; लेकिन आक्रोश आखिर है क्यों?

श्रे. : आक्रोश तमाम पोलिटिकल (राजनैतिक) है; राजनीति के कुछ वर्ग ऐसे हैं, जो उन्हें उकसाते हैं और अपने क्षुद्र स्वार्थ साधते हैं।

ने. : उन्हें 'स्टेपिंग स्टोन' जैसा बना लेते हैं।

श्रे. : दूसरे यह कि उनमें भविष्य के प्रति कोई आशा, या विश्वास नहीं है।

ने. : भविष्य के प्रति वे संदिग्ध और अनिश्चित हैं, क्या हो कल, उन्हें नहीं मालूम।

प्रतिभा : सीमित

श्रे. : लेकिन जो युवक वास्तव में प्रतिभाशाली (इंटेलीजेंट) हैं, फर्स्ट क्लास हैं, उन्हें कोई चिंता नहीं है। उनके लिए अनेक अवसर खुले हैं। अनिश्चितता तो उन विद्यार्थियों के लिए है जो बिलो स्टेण्डर्ड (स्तर-के-नीचे) हैं। मुझे बतलाइये, क्या प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कोई विद्यार्थी बेकार है?

ने. : हैं। ऐसे उदाहरण तो अनेक मिल जाएँगे।

श्रे. : बहुत कम मिलेंगे। जैसे– एम. बी. ए. (मैनेजमेंट ऑफ बिजनेस एडमिनिस्ट्रेशन) की इतनी माँग है कि देश इसे पूरा नहीं कर पा रहा है। आज एम. बी. ए. संस्थान (इन्स्टीट्यूट) से निकलने के पहले ही उनका बुकिंग हो जाता है।

ने. : यह तो एक क्षेत्र हुआ। कई क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ अभी प्रथम श्रेणी में आने वाले भी काम पर नहीं लग पा रहे हैं; फिर भी मान लिया कि इस प्रकार की प्रथम पंक्ति है, जो प्रतिभाशाली है, उसे अवसर है।

श्रे. : प्रतिभाशाली को कोई रोक नहीं सकता।

ने. : किन्तु सारे लोग प्रतिभाशाली कहाँ होते हैं?

श्रे. : सब तो हो नहीं सकते।

ने. : कम ही लोग होंगे; अँगुली पर गिनने लायक।

श्रे. : यह भी एक समस्या है। मेरे पास बहुत से लोग आते हैं, मेरा एडमीशन मेडिकल कॉलेज में, इंजीनियरिंग कॉलेज में करवा दीजिये। उन्हें देख कर आश्चर्य होता है। ८५ %, ९० % अंकों से उत्तीर्ण छात्र हैं; इससे लगता है कि या तो शिक्षा का स्तर थोड़ा घट गया है, या प्रतिभा बढ़ गयी है। दोनों में से कोई एक बात हुई है।

युवा-आक्रोश : चुनौती

ने. : आप क्या सोचते हैं? कौन-सी बात घटित हुई है? मान लें, इंटेलिजन्स बढ़ी है; लेकिन इसके साथ जो आक्रोश बढ़ा है, वह गड़बड़ मामला है।

श्रे. : आक्रोश सबमें नहीं है।

ने. : यह जो तमाम तोड़फोड़ है; और अब तो वह जैन कॉलेजों में भी फैल गयी है।

ने. : आपने कभी यह भी ध्यान दिया है कि कुछ छात्र ऐसे हैं, जो डर के मारे साथ हो जाते हैं। वे सोचते हैं कि इनका साथ नहीं दिया, तो ये हमारे साथ मार-पीट करेंगे ?

श्रे. : एक तो यह कारण है; दूसरे, इसके पीछे है 'पोलिटिक्स'; ये वे लड़के हैं, जिनका शैक्षणिक स्तर गिरा हुआ है।

ने. : आपका सोच ठीक है। आपका जो ऑब्जर्वेशन (अवलोकन) है, वह बहुत सन्तुलित और उचित है। सच, तोड़-फोड़ करने वाले लड़के संख्या में कम ही होते हैं। कुछ लड़के डर से शामिल हो जाते हैं। तो क्या युवा-आक्रोश की समस्या हमारे सामने नहीं है ?

श्रे. : समस्या तो है। मैं नकार नहीं रहा हूँ कि वह नहीं है।

आतंक : आक्रोश : असंतोष

ने. : युवा स्वयं में एक विकट समस्या है। आक्रोश के लिए उत्तरदायी किसे मानेंगे ?

श्रे. : देश और समाज के वातावरण को।

ने. : पक्षपात भी एक कारण है। युवा असंतुष्ट है। उसे कोई रोजगार, काम-धन्धा नहीं मिल रहा है। माता-पिता की भी उससे अपेक्षाएँ हैं।

श्रे. : मेरा मानना है कि आक्रोश काफी व्यापक है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति में कमोवेश आक्रोश है।

ने. : मतलब यह कि आक्रोश और आतंक से हम घिरे हुए हैं।

श्रे. : आक्रोश इसलिए है कि हमारा राज्यतन्त्र सन्तुलित तरीके से काम नहीं कर रहा है; जैसे, कोई बिजनेस वाला है, उसका कोई काम तब तक नहीं हो सकता, जब तक वह अन्य उपाय न करे।

ने. : यानी अनैतिक उपायों को मिटाना भी एक क़िस्म की बहुत ज़रूरी समाज-सेवा है।

श्रे. : समाज-सेवा का नाम दें, न दें; इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ेगा; बहरहाल आक्रोश और असंतोष कम पड़ने चाहिये।

सेवा : मानवेतर क्षेत्र

ने. : मानव-सेवा के क्षेत्र तो बहुतेरे हमने चुन लिये; क्या अब सेवा को हम

थोड़ा मानवेतर क्षेत्रों तक विस्तृत करें; जैसे– पक्षी, पेड़-पौधे। दिल्ली में तोतों का या पक्षियों का एक अस्पताल है। इस सेवा-क्षेत्र की क्या संभावनाएँ हैं?

श्रे.: कुछ संस्थाएँ हैं। मेरा सुप्रसिद्ध समाज-सेवी रुक्मिणीदेवी अरुंडेल (मद्रास) से संपर्क आया। वे इसमें बड़ी दिलचस्पी रखती हैं। वे मेरे साथ राज्यसभा (१९५२-५८) में भी थीं। उस वक्त (१९५२-५३) बन्दरों का निर्यात हो रहा था। उन्होंने एक बड़ा मर्मस्पर्शी/लाजवाब भाषण दिया, जिससे प्रभावित हो कर पण्डित जवाहरलालजी ने राज्यसभा के फर्श पर ही (ऑन द फ्लोअर ऑफ द हाउस) कहा : 'हम तुम्हारी बात मानते हैं'।

ने.: मर्मस्पर्शी क्या था उसमें?

श्रे.: उनका कहने का तरीका, अभिव्यक्ति।

ने.: विषय क्या था?

श्रे.: बन्दरों का निर्यात नहीं किया जाए।

प्रदूषण-समस्या

ने.: इकॉलाजी (परिस्थिति-विज्ञान) भी मानव-सेवा का ही एक हिस्सा है। प्रदूषण से बचाव, शाकाहार, वन-संरक्षण आदि विषय भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

श्रे.: शाकाहार, वनों की रक्षा दूसरी बात है। इकॉलाजी में हम प्रदूषण रोकने के उपाय करते हैं। प्रदूषण के कई कारण हैं। आज हम जहाँ से अपनी साँस खींच रहे हैं, वह सारा वातावरण प्रदूषित है। जल प्रदूषित है। लोगों का स्वास्थ्य आज इसीलिए खराब हो रहा है। प्रदूषण की समस्या मुख्यतः शहरों में है। यहाँ इतनी विषैली गैसें निकलती हैं कि कई बार साँस लेना तक मुश्किल हो जाता है।

ने.: कार्बन घुल जाता है सारे वातावरण में। प्रदूषण धीरे-धीरे हिंसा का रूप भी ग्रहण कर लेता है। ये जो बड़े-बड़े कारखाने हैं, इनसे जल प्रदूषित हो कर मिलता है और जल नदी-नालों में मिलता है, जिससे मछलियाँ और कई जलचर जीव मारे जाते हैं। इस घातक प्रभाव के लिए क्या किया जा सकता है? इस दृष्टि से क्या जैनधर्म की अपनी कोई भूमिका हो सकती है?

श्रे.: तकनीकी तरक्की की जरूरत है, जैनधर्म इसमें कुछ नहीं कर सकता। प्रदूषण कैसे रुके, इस सिलसिले में देश-विदेश में काफी छान-बीन हो रही है; लेकिन यह सब धार्मिक दृष्टि से नहीं हो रहा है। मैं अपनी ही फैक्टरी की बात बताता हूँ। उसमें से 'एफ्लुअॅन्ट्स' (बहिःस्राव) निकलता है।

ने.: यह क्या चीज़ है?

श्रे.: इससे वायुमण्डल प्रदूषित होता है

आस्था, आस्था, अपने में आस्था—यदि तुम्हें तैंतीस कोटि देवताओं में, और उन सब देवताओं में भी जो विदेशियों ने हमारे मध्य प्रतिष्ठित कर दिये हैं, आस्था हो; परन्तु अपने में आस्था न हो तो तुम्हारा निर्वाण असंभव है।

—विवेकानन्द

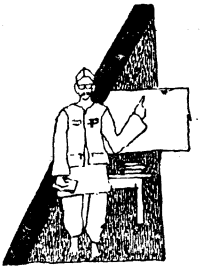

ने.: यह अंग्रेजी शब्द है क्या ?

श्रे.: हाँ, अब उलझन आती है कि इन 'एफ्लुअॅन्ट्स' से छुटकारा कैसे हो ? इसकी भी तकनीक है। जहाँ समुद्र मिले, वहाँ छोड़ दें, तो नतीजा बहुत भयानक होता है—तमाम मछलियों का और अन्य जीवों का सर्वनाश होता है। इस बहिःस्रावी विष को यदि समुद्र में मीलों आगे ले जा कर पाइप लाइन के माध्यम से छोड़ा जाए, तो जल-प्रदूषण से काफी कुछ बचा जा सकता है।

हिंसा तो होगी

ने.: एक प्रयोग है, आपने इसे अपनाया क्या ?

श्रे.: ऐसा हमने किया, किन्तु इससे यह न समझा जाए कि मछलियाँ बिलकुल नहीं ही मरेंगी; हिंसा तो होगी, किन्तु उसका मिक़दार घट जाएगा।

ने.: मरेंगी तो सही।

श्रे.: लेकिन उसमें १००% मरती थीं, तो इससे १०% या ५% मरेंगी।

ने.: यह विषय तकनीकी ज्यादा है, किन्तु प्रदूषण रोकने में एक धार्मिक संतोष भी है।

श्रे.: धार्मिक संतोष है, लेकिन धर्म के लोग इसमें कर क्या सकते हैं ? शुभकामना, या शुभेच्छा के सिवाय और कुछ वे कर नहीं सकते। इसमें प्रचार-प्रसार की कोई गुंजाइश नहीं है।

ने.: प्रश्न यह भी है कि क्या ऐसे हिंसक उद्योग समाज के लिए अपरिहार्य हैं ?

श्रे.: कपड़ा पहिनना होगा आखिर।

ने.: कपड़ा ठीक है।

श्रे.: लेकिन जो ऐसा सिन्थेटिक (कृत्रिम) कपड़ा है, उसका क्या करें ?

ने. : प्रदूषण का मुख्य कारण तो वही है। क्या बिना सिन्थेटिक कपड़ों के हमारा काम नहीं चल सकेगा ?

हिंसा : किफायत

श्रे. : काम तो चल सकता है; लेकिन किफायत भी तो देखनी पड़ेगी, खादी के कपड़े रोज धुलवाने पड़ते हैं। खुद धोयें या किसी से धुलवायें। धुलाई कितनी महँगी है। सिन्थेटिक कपड़े एक-एक हफ्ते में भी धुलवायें, तो काम चल सकता है।

ने. : किफायत, सिद्धान्त और मानसिकता—ये तीनों एक साथ कैसे चल सकते हैं ?

श्रे. : आज की परिस्थिति में हर आदमी धार्मिक नहीं हो सकता। हम हर चीज को धार्मिक दृष्टि से नहीं देख सकते। धार्मिक दृष्टि से देखने वाले बहुत कम हैं। वे या तो पुरानी फैशन के हैं, या जिनके धार्मिक संस्कार प्रबल हैं, वे हैं। आज सबसे बड़ी समस्या इकॉनॉमिक (आर्थिक) है। सुविधा-संपन्न गृहस्थ-जीवन व्यतीत करने के लिए उसे अपनी आर्थिक स्थिति अवश्य देखनी होगी।

ने. : आप तो उद्योगपति हैं। क्या उद्योग-धन्धों में हम अहिंसा को प्रवेश नहीं दे सकते ?

श्रे. : दे भी सकते हैं और नहीं भी। आज कई उद्योग चल रहे हैं। मत्स्योद्योग भी है।

ने. : फसलें खड़ी की जाती हैं मछलियों की। मत्स्य-पालन-उद्योग वही है।

श्रे. : ठीक है; जैन नहीं करते, उन्हें नहीं करना चाहिये, क्योंकि हरएक उद्योग से पैसा कमाना जरूरी नहीं है; लेकिन इस तरह उद्योग बन्द नहीं होंगे, वे तो चलेंगे।

ने. : जैन ऐसा नहीं कर सकता कि थोड़ा-सा ....

श्रे. : सत्याग्रह ?

ने. : सत्याग्रह नहीं, स्वस्थ मानसिकता या अहिंसा की हवा बनाये।

गोवध : गौ-परवरिश

श्रे. : देखिये, देवनार-स्थित बूचड़खाना (बम्बई)। जैनेतर और जैन सब मिल कर उसके विरुद्ध प्रचार-प्रसार कर रहे हैं। कृषि गो-सेवा संघ है, उसने कुछ काम किया है, लेकिन बूचड़खाना तो बहाल है। जब कभी ज्यादा एजीटेशन (आन्दोलन) होता है, तो थोड़ा फ़र्क पड़ जाता है।

ने. : जब आन्दोलन कम होता है, तो गायों का कटना बढ़ जाता है।

श्रे. : मैं एक बात लोगों से कहता हूँ। मेरे पास वे कभी-कभी आते हैं। वह यह कि आप गौवध बन्द करना चाहते हैं, अच्छी बात है; लेकिन क्या आप इसके लिए भी तैयार हैं कि जो ड्राय (दूध न देने वाली) गायें हैं; जो बूढ़े, निकाम बैल हैं उनमें से ५-५ को 'सपोर्ट' करने (पालने) के लिए तैयार हैं ?

ने. : परवरिश के लिए ?

श्रे. : कोई तैयार नहीं है। आज ड्राय (दूध न देने वाली) गाय को इकॉ. नॉमिकली (आर्थिक दृष्टि से) रखना बहुत महँगा है, बनस्बित दूध के। केवल प्रचार-प्रसार से काम नहीं चलेगा; वस्तुतः हमें स्वयं कुछ जिम्मेदारी उठानी चाहिये कम-से-कम उस क्षेत्र में जिसमें कि हमारा विश्वास है।

ने. : निष्कर्ष यह कि आज आर्थिक कारणों से ही हिंसा ज्यादा हो रही है।

श्रे. : अर्थोपार्जन भी हिंसा का एक प्रमुख कारण है।

आर्थिक हिंसा

ने. : यह एक बहुत बड़ी वजह है, क्योंकि सिन्थेटिक कपड़ा हमें इसलिए पहनना चाहिये कि उससे इकॉनॉमी होती है, और ड्राय (दूध न देने वाली) गाय की परवरिश लोग इसलिए नहीं करते कि वह महँगा पड़ता है, इसलिए वह बूचड़खाने में चली जाएगी, जाती रहेगी। क्या हम इस अर्थतन्त्र को कोई 'नॉन व्हायलेंट टर्न' (अहिंसक मोड़) नहीं दे सकते ?

श्रे. : जनसंख्या का प्रश्न भी तो पेचीदा है।

ने. : क़रीब तीन अरब लोग हैं दुनिया में आज।

श्रे. : जैन कितने हैं इनमें ? अहिंसक दृष्टि के लोग कितने हैं ?

ने. : कम हैं, किन्तु प्रभावशाली कुछ ही सकते हैं। हाथी बड़ा होता है, लेकिन अंकुश तो हमेशा छोटा ही रहा है।

श्रे. : पर अंकुश है किन हाथों में ?

ने. : जैनों को सक्रिय होना चाहिये। अपना आचरण देखना चाहिये। मन्त्र होता है छोटा; लेकिन उसका प्रभाव बहुत होता है।

श्रे. : यह सिमली (उपमा) ठीक नहीं है।

ने. : किन्तु इसका यह मतलब भी नहीं कि जैन बिलकुल निष्क्रिय हो जाएँ।

श्रे. : मैं निष्क्रिय होने को नहीं कहता; केवल यह कहता हूँ कि इस सारे परिवेश में से जैनों को अलहदा करके देखने की जो पद्धति है, वह कहीं-न-कहीं फॉल्टी (त्रुटिपूर्ण) है।

अलग देखना अनुचित

ने. : यानी जैनों को दुनिया में जो चल रहा है, उससे अलग देखना संभव नहीं है, उचित भी शायद नहीं है ?

श्रे. : उचित नहीं है।

ने. : उचित नहीं है, या संभव नहीं है ?

श्रे. : दोनों बातें हैं।

ने. : उचित और महत्त्वपूर्ण वह है, संभव भले ही न हो।

श्रे. : भारत की आबादी आज ७०-७२ करोड़ है। मांसाहारियों का प्रतिशत ९० है।

ने. : क्या यह ठीक है ?

वापसी : शाकाहार की

श्रे. : यह कौन कह रहा है ? किन्तु इन आमिषभोजियों में अधिकांश ऐसे हैं, जो माँसाहार शाकाहार की तरह करते हैं। उन्हें ग्लानि नहीं है।

ने. : १०% तो शाकाहारी हैं।

श्रे. : १०% तो हैं ही; ९० प्रतिशत में से भी कुछ लोग मजबूरी में शाकाहारी हैं, चूँकि माँस महँगा है और उसे एफोर्ड (उपलब्ध) नहीं कर सकते। अगर माँस उन्हें मिल जाएगा, तो खा लेंगे।

ने. : माँस खाने की इच्छा तो उनकी है, किन्तु उपलब्ध/सुलभ नहीं कर सकते। एक वर्ग ऐसा भी है।

श्रे. : उनकी माँसाहार की इच्छा है, या हो सकती है।

ने. : वे माँसाहारी ही हैं।

श्रे. : वैश्य, अग्रवाल, वैष्णव, ब्राह्मण कुछ लोग हैं, जो शाकाहारी हैं; पर उनकी संख्या अत्यल्प है।

ने. : जो हो, शाकाहार की अपनी गरिमा और अपने स्पष्ट लाभ तो हैं।

श्रे. : लाभ हैं, इसके लिए रेस्ट्राँ/होटलें खुली हैं।

ने. : निरामिष भोजनालय/शाकाहार के प्रचार की संभावनाओं का दिनोंदिन घटना सचमुच काफी दुर्भाग्यपूर्ण है।

श्रे. : स्वास्थ्य-सम्बन्धी लाभों के कारण ही उसका प्रचार संभव है। लोग जब शरीर मजबूर करेगा, तब स्वयं शाकाहार की ओर आयेंगे।

ने.: आपका निष्कर्ष है कि लोग जब भी शाकाहार की ओर लौटेंगे, कारण उसका स्वास्थ्य ही होगा।

श्रे. : कितने लौटेंगे, यह अभी कहा नहीं जा सकता; किन्तु हमें अपने प्रचार-प्रसार में कमी नहीं करनी चाहिये।

प्रक्रिया शुरू करें

ने. : कितने लोग लौटेंगे, कैसे लौटेंगे, यह सब अभी कहा नहीं ज सकता; लेकिन यदि हम चाहें तो प्रक्रिया शुरू हो सकती हैं, यही न ?

श्रे. : हमारे ऋषियों, मुनियों और तपस्वियों की भी इस संदर्भ में एक ऐतिहासिक भूमिका हो सकती है।

ने. : जो हो, शाकाहार का विस्तार होना चाहिये।

श्रे. : ज़रूर होना चाहिये।

ने. : और इस काम के लिए ऐसे लोगों को जो अहिंसक जीवन-शैली में आस्था रखते हैं, तुरन्त आगे आना चाहिये।

श्रे. : उन्हें जगह-जगह जा कर प्रचार करना चाहिये, खासतौर पर शहरों में, जहाँ शाकाहारी भोजनालय (रेस्ट्राँ) दिनोंदिन घट रहे हैं।

ने. : जैन समाज इस निमित्त क्या कर सकता है ?

श्रे. : शाकाहारी भोजनालय या होटलें खोले और उन लोगों को जो शाकाहारी नहीं है, आकर्षित करे। तब वे आयेंगे, जब हम ऐसा वातावरण पैदा करेंगे जैसा आज गैर शाकाहारी होटलों में है।

ने. : आप कोई उपाय बतायें, ताकि प्रभावी ढंग से हम कोई स्पष्ट शुरूआत कर सकें।

खोलें : शाकाहारी होटलें

श्रे. : जैन समाज को शहरों में कम-से-कम लाभ-हानि-रहित (नो प्रोफिट ना लॉस) के आधार पर अच्छे शाकाहारी होटल खोलने चाहिये।

ने. : ऐसे प्रयोग होने चाहिये। यह कौन करेगा, व्यक्ति या संस्थाएँ ?

श्रे. : कुछ लोग मिल कर करें—ग्रुफ ऑफ पर्सन्स करे। संस्थाओं के पास धन कहाँ है ?

ने. : ऐसा आपको लगता है कि आज जितनी जैन संस्थाएँ हैं, वे लगभग दिवालिया हैं ?

श्रे. : 'हेण्ड-टू-माउथ' वाली बात है।

ने. : 'हेण्ड-टू-माउथ' होना और दिवालिया होना—दोनों में क्या फर्क है ?

श्रे. : 'हेण्ड-टू-माउथ' यानी जितनी आमदनी, उतना खर्च। 'दिवालिया' यह कि आमदनी कम, खर्च ज्यादा।

ने. : इनमें से किस क़िस्म की संस्थाएँ ज्यादा हैं ?

श्रे. : हेड-टू-माउथ' संस्थाएँ।

ने. : किसी दिन 'हेण्ड-टू-माउथ' वाली संस्थाएँ 'दिवालिया' में बदल सकती हैं। क्या ऐसी संस्थाओं की संख्या बढ़ नहीं रही है ? इस बारे में आप चिन्तित तो होंगे ही ?

श्रे. : मेरा ऐसी संस्थाओं से संबन्ध है, जो 'हेण्ड-टू-माउथ' हैं।

ने. : दिवालिया नहीं हैं।

दिगम्बर संस्थाएँ

श्रे. : दिगम्बर संस्थाएँ अधिकतर दिगम्बर ही हैं (हँसी)।

ने. : दिगम्बर संस्थाएँ ही 'हेण्ड-टू-माउथ' हैं।

श्रे. : जो श्वेताम्बर, स्थानकवासी संस्थाएँ हैं, वे संपन्न हैं। आज वहाँ यदि कोई रुपया इकट्ठा करना चाहे, तो तुरन्त हो जाता है। दिगम्बरों में यह मुश्किल है।

ने. : यह संपन्नता का फर्क है, या प्रवृत्ति का ? लोग देते नहीं हैं या उनके पास है नहीं, या कोई और कारण है ?

श्रे. : एक तो संपन्नता है; दूसरे उनका त्यागी-वर्ग है, यति-साधु-वर्ग है जो कह देता है, उसे लोग सिर झुका कर मान लेते हैं।

ने. : साधुओं के प्रति श्रद्धा है।

श्रे. : साधुओं के प्रति अटूट श्रद्धा है, इसीलिए वे जो भी कह देते हैं, वे उसे कर देते हैं।

ने. : दिगम्बर थोड़ा सोचता है। विश्लेषण करता है, तर्क करता है, फिर आगे बढ़ता है और वे श्रद्धा से आगे बढ़ जाते हैं। शायद ऐसा कुछ है।

श्रे. : आज हमारे यहाँ तनाव, पागलपन, कलह, राग-द्वेष बहुत बढ़ गये हैं ?

ने. : तमाम दुनिया में ऐसा हुआ है।

दुनिया नहीं, जैन

श्रे. : दुनिया या भारतीय समाज की बात मैं नहीं कर रहा हूँ, जैन समाज की बात कर रहा हूँ। अच्छा, मान लीजिये, सारी दुनिया में ये बढ़ रहे हैं, तो इन्हें

'सल्लेखना' वीतरागता की कसौटी है। वह, मुनिधर्म सिंहवृत्ति है, इसकी घोषणा है। इस पथ को दुर्बल पार नहीं कर सकते; जिन्होंने मदन के मद को गलित किया, परिग्रहों के बहुरंगी प्रलोभनों पर पाँव रक्खा अब्रह्म को आजन्म चुनौती दी और पाणि-पात्र भिक्षाशी हो कर आत्मचिन्तन को सर्वोपरि माना, वे ही अनासक्ति योग के पालन करने वाले समाधिमरण-व्रत लेते हैं। विषय-कीट, इन्द्रियदास, परिग्रहों को पर-लोक तक साथ ले जाने की कल्पना करने वाले तो फूल की चोट से भी मुरझा जाते हैं।

—एलाचार्य मुनि विद्यानन्द

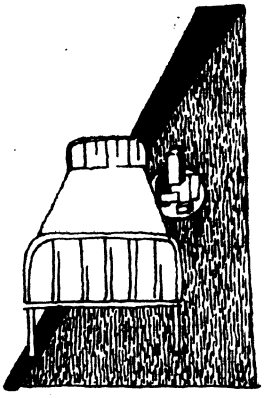

रोकने का उपाय क्या करें? संत्रास कम करें, पागलपन कम करें, तनाव कम करें, शान्ति लायें — ये तमाम चीजें लौटायें, तो कैसे लौटायें?

श्रे. : प्राचीन पद्धति के आश्रम स्थापित करें। हमारे मुनिगण हैं, वे लोगों को आधुनिक शैली में समझाने का काम करें। सदाचार को लौटायें।

ने. : यहाँ ध्यान और योग की बात खड़ी होती है।

श्रे. : तनाव (टेंसन) भी दो प्रकार का होता है—एक सामुदायिक, दूसरा व्यक्तिगत। सामुदायिक तनाव को दूर करने का उपाय तो प्रचार-प्रसार ही है और व्यक्तिगत तनाव को ध्यान से, योग से, स्वस्थ चिन्तन से दूर, या कम किया जा सकता है।

'जनरेशन गेप'

ने. : सही ज्ञान के प्रचार-प्रसार से ग़लतफहमियाँ दूर हो सकती हैं। इससे आपसी तनाव सहज ही घटेंगे। तनाव का संबन्ध शायद पीढ़ियों की टकराहट से भी है। हमारे सामने आगामी पीढ़ी है। पीढ़ियों का वैचारिक अन्तर 'जेनरेशन गेप' बहुत स्पष्ट है। क्या इसे कम किया जा सकता है?

श्रे. : यह तो रहता आया है और शायद रहेगा।

ने. : ऐसा शायद नहीं है; अभी जो 'जेनरेशन गेप' है, वह काफी चौड़ा मालूम पड़ता है। 'यंग' आदमी नहीं आ रहा है आपके पास, और आप यानी जो बुजुर्ग हैं, वे उसके पास नहीं जा रहे हैं। युवा सोचता है, बुजुर्ग रूढ़िग्रस्त हैं, वह उनके पास

क्यों जाए ? बुजुर्ग सोचता है; युवा बहुत आधुनिक है, वह उसके पास क्यों जाए ? यह है 'जेनरेशन गेप'।

श्रे. : यह जो 'गेप' है, इसकी स्थिति 'सोचने के तरीके' में है। 'जेनरेशन गेप' का मतलब हुआ कि एक ५० साल का आदमी है और दूसरा २५ साल का; लेकिन दोनों के सोचने में 'गेप' बन गया है। इसे स्वाध्याय और समझ से दूर किया जा जाना चाहिये।

ने. : दोनों के सोचने में 'गेप' जो दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है, इसे कम करने के लिए हम क्या उपाय करें ?

श्रे. : उपाय जब भी सोचें तो ग़लती पर ही जोर न दें, क्योंकि 'गेप' को दोष मानकर नहीं चलना है। आज का वातावरण है, यातायात के साधन हैं, फिल्में हैं, पत्र-पत्रिकाएँ हैं, पुस्तकें हैं – ये सोचने के तरीकों को प्रभावित करते हैं। इनकी प्रभाव-परिधि में सोचने से युवाओं की कुछ बातें ऐसी हो सकती हैं, जिन पर हमें आपत्ति हो; लेकिन यदि परिवर्तन लाना है तो हम हरएक बात पर आपत्ति नहीं उठा सकते।

ने. : आप युवा-वर्ग के बारे में कह रहे हैं यह ?

श्रे. : हाँ।

ने. : बुजुर्ग बार-बार टीका-टिप्पणी करें, यह उचित नहीं है; इससे तो 'जेनरेशन गेप' बढ़ता जाएगा।

गेप : आक्रोश

श्रे. : दो बातें कह रहा हूँ : एक, जिस 'गेप' को आप बुरा समझते हैं, वह बुरा है ही नहीं; दूसरे, यदि यह 'गेप' है, तो वह 'गेप' आक्रोश में बदल कर खत्म नहीं होगा।

ने. : फिर कैसे/क्या करें ?

श्रे. : समझायें उन्हें। वैज्ञानिकों और शिक्षाविदों का सहयोग हम ले सकते हैं।

ने. : इस तरह तो वह संघर्ष का रूप ले लेगा। युवा-वर्ग और बुजुर्गों के बीच अण्डरस्टेंडिंग (समझ) का जो सेतु टूट गया है, वह दुर्भाग्यपूर्ण है। आज न युवा बुजुर्ग को समझ पा रहा है और न बुजुर्ग युवा को।

श्रे. : युवा तो कभी समझेगा नहीं।

ने. : ऐसा कैसे मान लें ?

श्रे. : वह नहीं समझेगा; किन्तु जो वृद्ध हैं; बुजुर्ग हैं, उन्हें तनिक संतुलित करने की ज़रूरत है।

ने. : बुजुर्ग पीढ़ी के संतुलित रहने पर आपका बल है?

श्रे. : यह आवश्यकता है; क्योंकि युवा को आप समझा नहीं सकेंगे। उसे जितना आप समझायेंगे, उसका आक्रोश उतना बढ़ेगा। समझाना ही गलती है। उसे आहिस्ता-आहिस्ता अपने आचरण से, प्रेम से, वात्सल्य से, सद्व्यवहार से जितना आप समझा सकें, समझायें।

बुजुर्ग : बदलना होगा

ने. : मतलब यह कि बुजुर्ग को बदलना होगा। बुजुर्ग बदलेगा तो संभावना है, युवा भी बदले।

श्रे. : संभावना है। जो आज बच्चा है, वही ३० साल बाद वृद्ध होगा, तब जिसे आज वह ग़लत समझता है, उसे ग़लत नहीं कह सकेगा।

ने. : यह निरन्तरता कि बुजुर्ग पिता अपने युवा पुत्र को चिट्ठी लिखे, अक्षुण्ण बनी रहेगी।

श्रे. : लिखने में कुछ भेद हो सकता है, तर्क बदल सकते हैं। उस समय की परिस्थिति में बदलाव हो सकता है, लेकिन हरएक वृद्ध की आदत उपदेश देने की होती ही है।

ने. : एक बात है कि जैसे पिता मन्दिर जाता है, तो पुत्र मन्दिर नहीं जाता (चिट्ठी उसे भले नियमित मिल रही है); पिता जनेऊ पहिनता है, तो पुत्र नहीं पहिनता; अर्थात् उपदेश और यथार्थ के बीच की खाई बराबर बनी रहेगी।

श्रे. : जब तक आप युवा-मन को वैज्ञानिक ढंग से यह समझाने की कोशिश नहीं करेंगे कि जो उसके पिता ने किया है वह वैज्ञानिक था, उसके पीछे एक आदर्श था, तब तक वह किसी की मानेगा नहीं।

ने. : एक ओर तो आप कह रहे हैं कि युवा को समझाइये मत और···

श्रे. : इस तरह हम इकतरफा और आग्रही नहीं हो सकते। कुछ चीजें समझायी जा सकती हैं; कुछ चीजें नहीं समझायी जा सकतीं। जहाँ उसका मन डाँवाडोल है, वहाँ उसे समझाया जा सकता है।

वैज्ञानिक समझायें

श्रे. : बुजुर्ग समझाये, या कोई संस्था या हमारे जो ऋषि-मुनि हैं वे, या जो वैज्ञानिक हैं वे समझायें; मात्र पिता के समझाने से बात समझ में नहीं आयेगी। उसके पीछे पूरा तामझाम, अभियान, आन्दोलन खड़ा करना होगा।

ने. : खड़ा करना होगा ?

श्रे. : स्वयं ही होगा ।

ने. : लगता है, 'जेनरेशन गेप' फिर भी बना रहेगा ।

श्रे. : हमेशा बना रहा है ।

ने. : संघर्ष टालना 'जेनरेशन गेप' का मतलब है युवा और बुजुर्ग पीढ़ी के बीच जो ग़लतफहमी और टकराहट है, उसे समझा जाए तथा उसके पाटने के कारगर उपाय किये जाएँ ।

श्रे. : इस सबको इतना 'जनरलाइज' (सामान्य) कर सकते हैं क्या ?

ने. : बुजुर्गों के प्रति युवा श्रद्धा रखते हैं, लेकिन उनकी (बुजुर्गों की) तमाम बातें मानने को वे तैयार नहीं हैं । यह आग्रह भी अनुचित है कि उनकी हरएक बात मान ही ली जाए । आप भी तो हमारे पूज्य हैं; क्या आप सोचते हैं कि आपकी हर बात मान ही ली जाए ?

श्रे. : जब मैं यह ज़िद करूँगा कि मेरी हर बात मानी जाए, तब तय मानिये कि मेरी अच्छी बातें भी नहीं मानी जाएँगी ।

ने. : जैसा आप सोच रहे हैं, वैसा सारे बुजुर्गों को सोचना चाहिये ।

श्रे. : सोचना चाहिये (हँसी) ।

यह निष्कर्ष

ने. : आपका यह निष्कर्ष कि यदि हमने सारी बातें मनवाने का आग्रह रखा, तो हमारी वे बातें जो सचमुच बड़ी वज़नदार और अच्छी हैं भी नहीं मानी जाएँगी, बहुत महत्त्वपूर्ण है ।

श्रे. : मेरा विचार यह है कि आग्रह किसी चीज का मत करो । अपनी बात कहो, आग्रह मत करो ताकि युवा-वर्ग को लगे कि उस पर थोपा कुछ नहीं जा रहा है वरन् सुझाव दिया जा रहा है । उसे लगे कि प्रस्तुत सुझाव मननीय है ।

ने. : यानी बुजुर्ग को अब ऐसा दूरदर्शिता-पूर्ण आचरण करना चाहिये ।

श्रे. : यदि वह अपने परिवार का प्रमुख बना रहना चाहता है, तो उसे परिवार का सेवक भी बनना चाहिये । (वन हू वान्ट्स टू बी द हेड ऑफ वंज फेमिली, ही शुड बी द सर्वेंट ऑफ द फेमिली) ।

ने. : यहाँ 'सर्वेंट' का मलतब 'दास' तो नहीं है ?

श्रे. : नहीं ।

ने. : फिर क्या है ?

श्रे. : हितैषी कहिये।

ने. : 'हितैषी' शब्द थोड़ा नरम है। बुजुर्ग तो हितैषी होते ही हैं।

श्रे. : ज़रूरी नहीं कि वह हितैषी हो ही।

ने. : मुखिया हितैषी नहीं होगा, यह कैसे हो सकता है?

श्रे. : हरएक बुजुर्ग की मनोवृत्ति अलग होती है। स्वार्थ जब आता है, तब मनोवृत्ति बदल जाती है। वृद्ध मन में स्वार्थ कुछ अधिक ही होता है। जब स्वार्थ आड़े आता है, तब हितैषिता खत्म हो जाती है। यह बात कि हर बुजुर्ग हितैषी होता है। मैं मानने को तैयार नहीं हूँ।

ने. : जीवन के प्रति उसका व्यामोह कम हो जाता है।

बुजुर्ग अड़ें नहीं

श्रे. : कहिये, बढ़ जाता है। वृद्धों में तृष्णा बढ़ जाती है। मेरी सलाह है कि बुजुर्गों को किसी बात पर अड़ना नहीं चाहिये और न ही किसी स्थिति को निश्चित या अड़िग मानकर चलना चाहिये।

ने. : ज़िद या आग्रह नहीं करना चाहिये। एक उदार और सहिष्णु जीवन बिताने की ओर कदम उठाने चाहिये। जब आप युवा रहे तब आपने बुजुर्गों के लिए क्या, किस तरह सोचा था?

श्र. : हमने उनकी चिलमें भरी थीं हँसते-मुस्कराते (हँसी)।

ने. : चिलमें भरने का मतलब?

श्रे. : बीमारी में उनकी खूब सेवा की, मल-मूत्र उठाया।

ने. : अब युवा ऐसी नहीं कर रहा है?

श्रे. : नहीं।

ने. : युवा को चाहिये कि बुजुर्ग के प्रति वह सद्व्यवहार को लौटाये।

श्रे. : यह सब उपदेश और आदर्श की बातें हैं।

ने. : कौन-सी चीजें हैं, जो उपदेश आदर्श की जगह आयें और हम उसकी स्थापित करें?

लौटें : तीन चीजें

श्रे. : विज्ञान, यथार्थ और विवेक।

ने. : उपदेश और आदर्श के स्थान पर विज्ञान और यथार्थ?

श्रे. : अभी विज्ञान पूरी तरह आया कहाँ है? हरएक वस्तु/स्थिति को विज्ञान की दृष्टि से देखना चाहिये।

ने. : उपदेश की जगह अब तर्कसंगत बात, युक्तियुक्त बात को लाना होगा?

श्रे. : तर्क मैं नहीं कहूँगा। विज्ञान कहना ज्यादा उचित समझूँगा। तर्क में संघर्ष हो सकता है और संघर्ष का जितना कम इस्तेमाल हम करें उतना अच्छा है।

ने. : किन्तु विज्ञान तर्क-प्रधान है, भावना-प्रधान नहीं है।

श्रे. : विज्ञान सदैव गतिशील रहा है, वह जड़, स्थायी, या मृत नहीं है। आज उसके जो निष्कर्ष हैं, कल नये अनुसंधान उन्हें बदल भी सकते हैं। विज्ञान की सबसे बड़ी विशेषता उसका सापेक्ष होना है।

ने. : वह संभावनाओं पर आधारित है; अतः बदलेगा।

ज़मीन : संभावनाओं की

श्रे. : हाँ; संभावनाओं की जमीन पर वह है, लेकिन जो आज का विज्ञान है, काफी-कुछ सिद्ध है। उसमें तर्क के लिए गुंजाइश नहीं है।

श्रे. : वैज्ञानिक तो तथ्यान्वेषक होते हैं।

श्रे. : जो चीजें स्थापित हो चुकी हैं, उनमें भला क्या तर्क?

ने. : जब आप कहते हैं कि उपदेश और आदर्श की जगह विज्ञान आना चाहिये, तो इच्छा होती है कि आपसे कहूँ कि इसे थोड़ा और विस्तृत कीजिये।

श्रे. : दो हिस्सों में बाँट लीजिये इसे; एक, पारिवारिक और सामाजिक; दूसरे, व्यापार-व्यवसाय। जो व्यापार-व्यवसाय है, उसे तो विज्ञान की दृष्टि से देखा-परखा जाएगा। वहाँ विज्ञान आयेगा, कम्प्यूटर आयेगा, यह आयेगा, वह आयेगा। उसमें हवाई जहाज में चलना, मोटर में चलना सब आयेगा। अब रहा पारिवारिक-सामाजिक यहाँ भूल जाना होगा कि युवा क्या कर रहा है? हमें अपना कर्तव्य निश्चित करना होगा। जब हम दूसरों से अपेक्षा करेंगे कि उसका कर्तव्य यह/ऐसा हो, तो संघर्ष होगा। यदि व्यक्ति सब कुछ भूल कर मात्र इतना याद रखे कि उसे अपना कर्तव्य तो स्थिति बदल सकती है; किन्तु यह मुश्किल है क्योंकि दिल में जब टेन्शन बनता है कि मैं यह सब कर रहा हूँ और वह कुछ नहीं कर रहा है तो फिर सिवाय संघर्ष के कोई दूसरा विकल्प दिखाई नहीं पड़ता; इसीलिए यहाँ आ कर हम बिखर जाते हैं।

संघर्ष नहीं, कर्तव्य

ने. : मैं इसे एक प्रेरक संदेश मानता हूँ। आपने बहुत बड़ा मन्त्र दिया है इन शब्दों में कि 'आदमी अपना कर्तव्य करे, तो संघर्ष नहीं होगा', किन्तु कर्त्तव्य से जैसे ही चूकेगा, वैसे ही संघर्ष की स्थितियाँ बन जाएँगी।

श्रे. : एक फिल्म देखी थी 'दुनियादारी', उसका एक वाक्य अभी भी चित्त पर चढ़ा हुआ है : 'भावना से कर्तव्य ऊँचा है'।

ने. : आपके साथ बहुविध विषयों पर हुई यह लम्बी आत्मीय बातचीत, जिसमें कई जटिल प्रश्नों के सहज, निश्छल समाधान आपने दिये हैं, समाज-सेवा के क्षेत्र

का एक अद्वितीय/बेमिसाल दस्तावेज़ साबित होगी। मुझे विश्वास है, हमारे इन विचार-विमर्श से लोक-जीवन को एक प्रांजल, स्पष्ट और निष्कपट दिशा-दृष्टि मिलेगी और इससे वह यथासमय लाभान्वित होगा। अनुद्विग्न, शान्त और अनाग्रही चित्त से आपने जो कुछ कहा है उसके प्रति 'तीर्थंकर' आपका आभार मानता है और आपके यशस्वी, सुदीर्घ, स्वस्थ, सुखद जीवन की कामना करता है।

श्रे. : कृतज्ञ हूँ कि आपने मुझे मौका दिया कुछ सोचने का। जो भी मैंने कहा है, वह सब तत्काल सोचकर कहा है। पहले से सोचा हुआ कुछ भी नहीं है।

ने. : आपका अनुभव ही आपका प्लानिंग है।

श्रे. : नहीं मालूम था कि क्या करना है, अतः मुझे जो अच्छा लगा, युक्ति-युक्त और व्यावहारिक, वह सब मैंने आपके सामने रख दिया है। आपसे बातचीत कर मैं आनन्दित और प्रसन्न हुआ हूँ।

ने. : इससे तो मैं गौरवान्वित हुआ हूँ।

श्रे. : मुझे एक अवसर मिला कि अपने विचारों को आप तक पहुँचा सका।

भूमिका : माँ की

ने. : आपने मेरी माँ की भूमिका भी उस क्षण अदा की, जब मुझे बैठाकर बड़ी ममता से खाना खिलाया; लगा अनायास ही 'माँ' और 'पिता' दोनों की भूमिका में आप अविराम बने रहे। उपसंहार के इन क्षणों में मेरे प्रणाम लीजिये।

श्रे. : अन्त में, एक बात मैं दोहरा रहा हूँ। आतिथ्य का, सामाजिक आदर का संस्कार मुझे पितामह से मिला और इतनी सावधान देखभाल मेरी की कि मैं किसी बुराई की ओर नहीं जा सका।

ने. : माता का इतना अपरंपार वात्सल्य और अभिभावन आपको मिला; सचमुच आप बहुत भाग्यशाली हैं।

श्रे. : उनमें कठोरता नहीं थी, पारदर्शी कोमलता थी। कितने संयोग प्राप्त थे खराब होने के, किन्तु उनके स्नेह ने मुझे बचाये रखा।

ने. : चारों ओर विषम वातावरण था।

श्रे. : संयोग ऐसे थे कि मैं कभी भी विचलित हो सकता था, पर हुआ नहीं। इसमें केवल माँ ही कारण हैं। मैंने कभी शराब नहीं पी, सिगरेट नहीं पी, कोई व्यभिचार नहीं किया; यह सब उनके शुभाशीष हैं।

ने. : बहुत बड़ी बात हुई।

कारण : सिर्फ माँ

श्रे. : कारण एकमात्र माँ ही थी।

ने. : माँ को केन्द्र में रख कर ही यह सब हुआ; वैसा नहीं होता तो···

श्रे. : माँ के प्रति मैं पूर्णतः समर्पित था। मेरे पिताजी का मस्तिष्क थोड़ा विकृत था। माँ में मेरे लिए जितनी वत्सलता और ममता होनी चाहिये, उससे थोड़ी अधिक ही थी। आज जब मैं उन्हें याद करता हूँ, तो आँखें डबडबा आती हैं। कैसा · · · (बच्चों-जैसे बिलख-विलख कर रो पड़े।)

बातचीत; परिशिष्ट; बम्बई, १० सितम्बर १९८३

माँ : उत्तरावस्था

ने. : आपने अपने जीवन के बारे में बताते हुए कहा है कि आप पर माँ का अमिट-अचूक प्रभाव पड़ा। यह भी बताया है आपने कि उन्हीं के कारण आप व्यसन-मुक्त रह सकें। अब उत्कण्ठा है यह जानने की कि उनकी उत्तरावस्था कैसी बीती? क्या इस अवस्था में आप उनके साथ रह सके? उनकी सेवा-शुश्रूषा का अवसर आपको मिल सका?

श्रे. : उनका निधन कलकत्ते में हुआ।

ने. : कौन-से वर्ष?

श्रे. : १९३८ में। विजयादशमी थी।

ने. : दशहरे का दिन था, क्या आप उस क्षण उपस्थित थे?

श्रे. : रात साढ़े ग्यारह बजे उन्होंने अन्तिम साँस ली। वैसे सुबह ही पता चल गया था कि उनका अन्तिम समय अब आ गया है, अतः उस दिन मैं कमरे से निकला ही नहीं। डॉक्टरों ने इशारा कर दिया था कि वे किसी भी क्षण जा सकती हैं।

ने. : आपकी मनःस्थिति तब कैसी थी?

श्रे. : मैं वैसे अक्सर १० बजे अपने कमरे में सोने चला जाता था। उस दिन मन नहीं हुआ। वे नर्स आदि को तो छूने नहीं देती थीं; दाई, या सेविका कोई रहती थी।

ने. : एलोपैथी के बारे में उनकी क्या धारणा थी?

श्रे. : कोई खास धारणा नहीं थी। छुआछूत का विचार था। नर्सें ज्यादातर ईसाई होती थीं।

ने. : इन नर्सों के बारे में उनका क्या खयाल था?

श्रे. : वे ज्यादा जानती ही नहीं थीं; लेकिन धार्मिक वे थीं।

ने. : माँ के अन्तिम क्षणों में आप उन्हीं के पास रहे होंगे?

माँ : मेरी गोद में

श्रे. : उन्होंने अन्तिम साँस ही मेरी गोद में ली।

ने. : सब कुछ बड़ा मर्मान्तिक था। उनकी गोद में आपका जन्म हुआ और आपकी गोद में उनका निधन; अजब है विधाता का विधान!!! उनकी उत्तरावस्था कैसी बीती?

श्रे. : वे प्रायः बीमार रहती थीं। उनके खून में खराबी आ गयी थी। उन दिनों इलाज की पद्धति आज-जैसी नहीं थी। विकृत रक्त को खींचने के लिए डॉक्टर जोंक लगवाता था।

ने. : बड़ी पीड़ा होती होगी ?

श्रे. : कोई विकल्प नहीं था।

ने. : बड़ा रूढ़ तरीका था; आपको सेवा-शुश्रुषा का अवसर तो मिल जाता था ?

श्रे. : जहाँ तक याद है, पूरे एक माह मैं उनके ही पास रहा और उनकी तीमारदारी करता रहा। रात-रात भर जागने के कारण मैं खुद भी बीमार पड़ गया था।

ने. : आपके माँ के पास बने रहने की उन पर क्या प्रतिक्रिया हुई ?

श्रे. : उन्हें संतोष हुआ, अच्छा लगा। हमारे कमरे पास-पास ही थे।

ने. : उनके जीवन के उपसंहार में तो पूरे एक मास आप साथ रहे; किन्तु इससे पहले ?

श्रे. : कलकत्ते तो उन्हें इलाज के लिए ही लाया गया था।

जीवन-रथ निर्विघ्न

ने. : यह हमारी लम्बी बातचीत का संक्षिप्त परिशिष्ट है; अतः कई-कई बातें बेतरतीब पूछ रहा हूँ। जानना चाहता हूँ कि जब आपने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया तब पूज्या माँ के शुभाशीर्वाद तो लिये ही होंगे; कौन-सा वर्ष था वह ?

श्रे. : १९२५।

ने. : मातृतुल्य भाभीजी का साथ कैसा रहा ? खानदान बड़ा था; जीवन-रथ लगता है, निर्विघ्न ही चला ?

श्रे. : कोई खास उतार-चढ़ाव नहीं हैं। अच्छा है, लेकिन कोई बौद्धिक तृप्ति नहीं रही। माँ से प्यार, ममता, वात्सल्य मिले; गृहस्थ-जीवन सामान्य चला। जब शादी होकर वे आयीं तब निरक्षर थीं। हमारे जो पुरोहित थे उन्होंने इन्हें पढ़ाया। वे साक्षर हुईं। थोड़ी धार्मिक शिक्षा भी इन्होंने ली।

मूर्तिदेवी-ग्रन्थमाला

ने. : पूज्या माँ की स्मृति में आप सबने कुछ किया ?

श्रे. : उनके जीवन-काल में तो विशेष कुछ हुआ नहीं; हाँ, जब भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना हुई तब समवेत् श्रद्धांजलि के रूप में 'मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला' प्रवर्तित हुई, जिसके अन्तर्गत विपुल जैन साहित्य प्रकाशित हुआ है।

ने. : मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला पूज्या माँ के प्रति एक पारिवारिक श्रद्धांजलि थी, जिसमें आप, शान्तिजी, रमाजी सब सम्मिलित हुए।

श्रे. : १८ फरवरी १९४४ से यह चल रही है।

धड़कनें एक थीं

ने. : अच्छा हुआ, शान्तिजी का नाम-स्मरण हो आया। इतनी लम्बी बातचीत हुई किन्तु यह पूछ ही नहीं पाया कि आपके जीवन में उनकी – आपके प्रिय अनुज की– क्या भूमिका रही? उनके जीवन में आपका और आपके जीवन में उनका कितनी दूर तक प्रवेश हुआ?

श्रे. : हम एक-दूसरे के प्रति पूर्ण समर्पित थे; हालाँकि ज़बान पर वह सब कभी नहीं हुआ।

ने. : समर्पण, आचरण/कृतित्व में व्यक्त होता रहा।

श्रे. : हमारी धड़कनें एक थीं।

ने. : क्या कभी तकरार हुई, झगड़े होते थे?

श्रे. : कभी-कभी ।

ने. : क्या ऐसी कोई मधुर घटना याद पड़ती है?

देखिये, यह दाग

श्रे. : छुटपन का प्रसंग है। तब मैं ४-५ साल का था, वह ३-४ का। माँ गुड़ बना रही थीं। उस समय गुड़ घर पर ही बनाते थे। मैं जहाँ बैठा था, शान्तिप्रसाद ने उस जगह को हथियाना चाहा; बच्चे वैसा करते ही हैं। बात यह थी कि मैं जहाँ बैठा था, वह जगह गुड़ के बहुत करीब थी। उसने मुझे धक्का दिया तो मेरा हाथ कड़ाही में जा गिरा। देखिये, यह दाग; यह उसी झगड़े की मधु-स्मृति है।

ने. : फिर क्या हुआ?

श्रे. : होता क्या; मैं उठ गया, और वह बैठ गया।

ने. : 'शान्ति' ने 'अशान्ति' की किन्तु आप शान्त रहे; आप बड़े थे न?

श्रे. : थोड़ी-बहुत अशान्ति तो उसे भी हुई होगी, पता नहीं ।

ने. : बाद में कोई दंगा-फसाद हुआ, या नहीं?

श्रे. : ऐसा कुछ 'फॉलो-अप' बचपन में संभव नहीं है।

ने. : ऐसा मौका तो कभी नहीं आया जब दोनों के झगड़े में माताजी को बीच-बचाव करना पड़ा?

श्रे. : ऐसा प्रसंग शायद कोई है नहीं।

ने. : शान्तिजी तेज-तर्रार थे, या आप?

श्रे. : वे स्वभाव से किंचित् उग्र थे।

ने. : लेकिन नाम शान्तिप्रसाद था; जो हो, एक-दूसरे के हमदर्द थे।

श्रे. : वे मेरठ कॉलेज पढ़ने गये, तो माताजी के कहने पर मैं भी वहाँ चला गया।

ने. : आपको पढ़ना तो था नहीं ?

श्रे. : प्रश्न ही नहीं था, मैं वहाँ छह महीने रहा।

ने. : उसके बाद वे पढ़ते रहे, आप चले आये। वे कहाँ तक पढ़े ?

श्रे. : बी. ए. तक।

ने. : आपने मैट्रिक के बाद छोड़ दिया, उसे भी प्राइवेट किया ?

श्रे. : हाँ; उसने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से इन्टरमीजिएट और मेरठ, या आगरा विश्वविद्यालय से बी. ए. किया।

ज्ञानपीठ : रमा

ने. : भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना में प्रमुख हाथ किसका था ?

श्रे. : रमा का।

ने. : बीज वहाँ से आया। रमाजी ने शान्तिजी से प्रस्ताव किया होगा ? उसके बनने में आपका क्या योग था ?

श्रे. : निर्माण में मेरा कोई हाथ नहीं रहा।

ने. : निर्वाह में आपका हाथ है। आप उसके अध्यक्ष हैं। रमाजी को लेकर कोई संस्मरण हो तो सुनाइये।

श्रे. : सारे परिवार से जितने आत्मीय संबन्ध रमा के थे, उतने शान्तिप्रसाद के नहीं थे। जितनी बहुएँ थीं, उनसे मिल-बैठकर पारिवारिक बातें रमा करती थी। उसके सबसे मधुर संबन्ध थे।

ने. : वे बड़ी सहृदय थीं।

श्रे. : मार्के की बात यह है कि वह सबमें पहली महिला थी परिवार में, जिसने पर्दा-प्रथा समाप्त की। हमारे खानदान में पर्दा बहुत था उस वक्त। रमा को अल-सुबह टहलने जाने की आदत थी। वह और शान्तिप्रसाद टहलने जाते थे। यह एक चर्चा का विषय हो गया था कि वह पर्दा हटा कर जाती है। इसका असर सारे परिवार पर पड़ा, नतीजतन पर्दा समाप्त हो गया।

ने. : आपने इसे शुभ लक्षण माना होगा ?

श्रे. : शुभ तो हुआ ही। महिलाएँ बन्द रहती थीं। और सब में बड़ी और महत्त्व की बात यह हुई कि माताजी ने भी उस पर स्वीकृति की मुहर लगा दी।

ने. : माताजी कैसे मान गयीं ?

श्रे. : उनकी आदत थी कि यदि कोई अच्छा कर रहा हो तो वे उसमें बुराई नहीं देखती थीं। उसे तत्काल, बावजूद दूसरों के विरोध के, मान लेती थीं। जब उन्हें विश्वास हो जाता था कि फलाँ काम परिवार के हित में है तब वे उसमें हस्तक्षेप नहीं करती थीं। उनका व्यक्तित्व बड़ा निश्छल, विमल और प्रेमपूर्ण था।

मैं : विदेश

ने. : आप विदेश तो कई बार गये हैं ?

श्रे. : कई बार ।

ने. : वहाँ खान-पान शुद्ध रहता होगा ?

श्रे. : बिलकुल ।

ने. : यह मैं इसलिए पूछ रहा हूँ कि लोग विदेश जाते हैं, और इसका खयाल नहीं रखते ।

श्रे. : हमारे परिवार के सब लोग साल में एक-दो बार विदेश जाते ही हैं ।

ने. : क्या सब लोग खान-पान में शुद्धता बरतते हैं ?

श्रे. : खान-पान में कोई अशुद्धि नहीं हुई । हमारे यहाँ ऐसा कोई नहीं है, जो विदेश न गया हो ।

ने. : खान-पान का खयाल सब रखते हैं ?

श्रे. : हाँ ।

ने. : किसी को कोई व्यसन नहीं है । आप जब भी विदेश गये हैं, भारत की याद आती रही होगी ?

मेरा देश : अप्रतिम

श्रे. : बहुत याद आती थी भारत की । मैं समझता हूँ, भारत-जैसा देश कोई है नहीं । यहीं ऐसे आदमी हैं, जो अपने सुख-दुःख की बातें कर सकते हैं ।

ने. : वहाँ क्या आत्मीयता नहीं है ?

श्रे. : वे कहते हैं—'व्हाट केन आइ डू फार यू' ? (मैं आपके लिए क्या कर सकता हूँ ?) किन्तु करने को शायद कुछ होता नहीं है ।

ने. : वहाँ लोग औपचारिक हो जाते हैं । कभी साल-दो साल वहाँ रहना पड़े, तो कैसा लगेगा ?

श्रे. : मेरा वहाँ जाने का मन नहीं होता; बिलकुल नहीं होता ।

ने. : नहीं होने का कारण ?

श्रे. : एक तो वहाँ मेरा मन ही नहीं लगता; 'बिजनेस' वगैरह हो, तो बात और है, लेकिन मैं 'बिजनेस' करता नहीं । दूसरे, वहाँ जाने का कोई आकर्षण नहीं है । यहाँ हमारे मित्र हैं, समाज है; उठना-बैठना है; वहाँ वे आत्मीय संदर्भ नहीं हैं ।

ने. : देश में ही काम करने को बहुत है ।

श्रे. : है । सबको विदेश-यात्रा का शौक है; किन्तु उपयोगिता शायद उतनी नहीं है ।

ने. : लेकिन यह उचित है या नहीं ?

श्रे. : उचित है । अनुचित तो तब है, जब वहाँ जा कर कोई खुराफात करे ।

ने. : देश में काम हो और विदेश जाएँ; इसमें क्या तुक है ?

श्रे. : वहाँ भी काम से ही लोग जाते हैं; कोई 'बिजनेस' के लिए, कोई अध्ययन-अनुसंधान के लिए।

निर्वाण-महोत्सव

ने. : १९७५ में जो २५०० वाँ महावीर निर्वाण-महोत्सव मनाया गया था। उसे लेकर आपके क्या निष्कर्ष हैं?

श्रे. : महोत्सव के माध्यम से समाज परस्पर निकट आया। जैनेतरों से संपर्क हुआ। एक सद्भाव बना। समन्वय की भावना समृद्ध हुई। उसकी सफलताओं में जैनेतरों का काफी योगदान है।

ने. : उसके बाद आपने अनुभव किया कि कोई संगठन हुआ है; किसी सामाजिक प्रगति की धड़कन आपको सुनायी दी?

श्रे. : महासमिति का जन्म हुआ; उसी की फलश्रुति है। जितना संगठन महोत्सव के समय हुआ, खासकर दिगम्बर जैन समाज का, उतना पहले कभी हुआ नहीं।

ने. : जो संकल्प उस समय हमने किये, उनमें से कुछ पूरे हो सके हैं क्या?

श्रे. : पूरे तो हुए हैं। बहुत-सा साहित्य प्रकाशित हुआ। बहुत-सी संस्थाएँ बनीं। बहुत-सी संस्थाओं के नाम 'महावीर' या 'जैन' रखे गये। औषधालय, पाठशाला आदि खुलीं।

ने. : महोत्सव के समय जो संस्थाएँ स्थापित हुईं, क्या वे अभी चल रही हैं?

श्रे. : हाँ; बहुत-सी चल रही हैं।

ने. : क्या आप उनसे संतुष्ट हैं?

श्रे. : संतुष्टि तो सापेक्ष है।

ने. : सापेक्ष तो है; संतुष्ट न हों, तो बता सकते हैं—यह हुआ, यह अभी होना है; यह गलत है, यह सही है, इसे यों होना चाहिये, आदि।

श्रे. : उस समय जैसी परिस्थिति थी, तदनुसार हुआ। असंतुष्ट इस मायने में हूँ कि जितना होना चाहिये था, उतना नहीं हुआ।

दो खूँटियाँ

ने. : मान लीजिए, मैं दो खूँटियाँ गाड़ दूँ – १९७५ और १९८१ – महोत्सव से महामस्तकाभिषेक तक; तो इस बीच जो हुआ उस पर आपकी निष्पक्ष टिप्पणी क्या होगी?

श्रे. : महामस्तकाभिषेक एक जगह सीमित था और महोत्सव सारे देश में विस्तृत। महोत्सव व्यापक था और महामस्तकाभिषेक स्थानिक।

ने. : पहले वृत्त खींच दिया गया, फिर बाद में केन्द्रानुसन्धान हुआ, यही न?

श्रे. : यद्यपि महामस्तकाभिषेक में भी समूचे देश के लोग सम्मिलित थे, तथापि दोनों की भूमिकाएँ अलग-अलग थीं।

ने. : यदि मैं कहूँ कि हमारा जो काम सन् १९७५ में शेष रह गया था, वह १९८१ में पूरा हुआ, तो क्या यह कथन ठीक होगा?

श्रे. : इससे उसे जोड़ना ठीक नहीं है।

ने. : बेमेल क्या है?

श्रे. : वह पूरक नहीं है; दोनों अलहदा हैं। एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी तो कहते हैं कि हर पाँचवें, या सातवें साल में कोई विशाल आयोजन होना चाहिये। स्वाध्याय को प्रमुखता दे कर अब वे एक राष्ट्रव्यापी ज्ञानरथ निकालने को कह रहे हैं।

ज्ञानरथ : १९८७

ने. : ज्ञानरथ का संकल्प उनमें उभर रहा है। क्या आप भी चाहते हैं कि हर पाँच या सात साल में कोई बड़ा आयोजन हो?

श्रे. : इससे समाज में जागृति तो आती है।

ने. : १९७५ से १९८१ तक छह साल तो हुए।

श्रे. : १९८१ में जो हुआ, उसकी तो सन् १९६८ या ८२ से तैयारी थी।

ने. : और १९७५ की?

श्रे. : पाँच-सात साल पीछे से समझिये।

ने. : १९८७ आने को है, क्या इस संदर्भ में आपका कोई प्रस्ताव है?

श्रे. : एलाचार्यश्री जो आज्ञा देंगे, करूँगा।

ने. : आप भी तो प्रस्ताव ले कर पहुँच सकते हैं? वे कुन्दकुन्दाचार्य को ले कर 'ज्ञानरथ' चाहते हैं?

श्रे. : मैं रथ घुमाने के पक्ष में तो नहीं हूँ। रथ का तो दुरुपयोग होता है।

ने. : आपका मनोरथ क्या है?

श्रे. : स्वाध्याय की प्रवृत्ति बढ़नी चाहिये।

ने. : यह कैसे बढ़ेगी?

श्रे. : कानजी स्वामी ने स्वाध्याय का एक संस्कार विकसित किया; ऐसे ही आचार्यश्री विद्यासागरजी के सान्निध्य में आगम-वाचन की एक परम्परा विकसित हुई। सागर में 'षटखण्डागम' का वाचन हुआ। ये परम्पराएँ स्वाध्याय के संस्कार को समृद्ध कर सकती हैं।

ने. : स्वाध्याय की महत्ता और उपयोगिता लोगों को बतायी जाए। उसकी प्रक्रिया पर प्रकाश डाला जाए। कानजी स्वामी ने यह किया अवश्य, लेकिन उनका क्षेत्र अचानक सीमित हो गया।

श्रे. : स्वाध्याय से मेरा तात्पर्य व्यापक स्वाध्याय से है; केवल 'दर्शन' के स्वाध्याय से नहीं।

ने. : एक तुलनात्मक अध्ययन आप चाहते हैं?

श्रे. : उदाहरण के लिए, प्रथमानुयोग से संबन्धित जो प्रेरक कथाएँ और जीवनियाँ हैं, उन्हें नयी भाषा-शैली में लिखवाकर प्रकाशित किया जाए। आगम में विवेचित सिद्धान्तों को आधुनिक संदर्भ और वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में प्रतिपादित किया जाए, ताकि लोगों में स्वाध्याय की परिष्कृत आम रुचि उत्पन्न हो। इस समय हमें स्वाध्यायमूलक तुलनात्मक अध्ययन को बढ़ावा देना चाहिये।

ने. : व्यक्ति और समूह के स्तर पर जब स्वाध्याय को अपनाया जाएगा, तब उसमें से जो अविचल-अकम्प ज्ञानज्योति प्रकट होगी, वह आत्मशोधन और आत्मोत्थान के लिए लाभप्रद सिद्ध होगी। आपका यह अमृत महोत्सव समाज को 'मृत्योर्मा अमृतं गमय' की दिशा में अग्रसर करे, यही मेरी/हमारी मंगल कामना है। □□□

संस्कार; सादगी; शाकाहार

अभयकुमार; शंभूकुमार कासलीवाल/डॉ. नेमीचन्द जैन; बम्बई, १० सितम्बर,८३

डॉ. नेमीचन्द जैन : सुखद संयोग कि आज मैं आपसे (बाबा* के दोनों सुपुत्रों से) बातचीत कर रहा हूँ। बतायें, अभयजी ! आपको उनसे कौन-से संस्कार विरासत में मिले ?

अभयकुमार कासलीवाल : यह कि सबके लिए अच्छा करो। किसी का मन मत दुखाओ। किसी का छीनो मत। अपने पुरुषार्थ से जो कुछ कर सकते हो; करो, करते जाओ।

ने. : यह तो आचार-पक्ष हुआ, जैनधर्म भी कर्म-प्रधान है, यह उसकी कसौटी है।

अ. : अपना दैनंदिन आचरण, यानी दिनचर्या ऐसी होनी चाहिये कि जो समाज के योग्य हो। हम अपने बच्चों को उपदेश न दें, अपनी दिनचर्या में से ही उनके संस्कारों को पुष्ट होने दें, ऐसा प्रेरक-पोषक वातावरण चारों ओर निर्मित करें।

ने. : व्यक्ति परिवार और समाज का अभिन्न अंग है। व्यक्ति के संस्कारवान होने पर परिवार और समाज भी संस्कारवान बनेंगे; लेकिन यह सब निर्भर करेगा आपकी समाज-विषयक धारणा और अपेक्षा पर। आप चाहते क्या हैं; यह महत्त्वपूर्ण है।

अ. : यह कि रूढ़िवादी मत बनो; जैसे, सिर्फ मन्दिर जाना, या पूजा करना ही धर्म है।

ने. : अन्धानुकरण ही रूढ़िवाद है। बिना सोचे-विचारे अनुकरण करना अन्धानुकरण है।

अ. : आपने ठीक कहा। बाबा ने हमें अपने परिवार में रूढ़िवादी नहीं बनाया, लेकिन धर्म की मौलिक बातों पर दृढ़ रहने की सीख दी। वे हमें सिखाते रहे कि हम शाकाहारी (वेजिटेरियन) हैं, इसका हमें हर परिस्थिति में पालन करना है। हम बाबा की इस सीख का बराबर पालन कर रहे हैं; हमें खान-पान में कहीं भी, कोई तकलीफ नहीं आयी।

ने. : आप तो देश-विदेश घूमते हैं ?

अ. : दुनिया-भर में घूमते हैं; लेकिन खान-पान को शुद्ध बनाये रखने में हमें कहीं-कोई परेशानी नहीं हुई।

ने. : क्या आप पूरी तरह निर्व्यसन रहे ?

अ. : न कहीं शराब पीने की ज़रूरत हुई, न माँस खाने की। मैं कह सकता हूँ कि हमारे यहाँ से ज्यादा शुद्ध खाना वहाँ (विदेशों में) मिलता है। शुद्ध और सात्त्विक खान-पान का यह संस्कार हमें अपने परिवार में मिला है और हम इसका अक्षरशः पालन कर रहे हैं।

---

* एस. कुमार्स उद्योग-समूह के संस्थापक स्व. शंकरलालजी कासलीवाल; श्री अभयकुमार (अग्रज) तथा श्री शंभूकुमार (अनुज) उनके सुपुत्र।

ने. : घटते हुए शाकाहार के लिए हम क्या कुछ कर सकते हैं ?

अ. : हमें शाकाहारी बने रहना है।

ने. : संभव है, शाकाहार की हमारी दृढ़ता का असर प्रत्यक्ष-परोक्ष अनुकूल और प्रेरक सिद्ध हो। अब थोड़ी-सी बात शंभूजी से कर रहा हूँ। आप पर बाबा का कौन-सा संस्कार दृढ़ हुआ ?

शंभूकुमार कासलीवाल : बाबा से मैंने सीखा–'आत्मविश्वास'। जिस बात या चीज को मैं सही मानता हूँ, उसे कहने और करने में संकोच नहीं रहता।

ने. : आत्मविश्वास और अभय।

शं. : जिसे हम उचित और सही मानते हैं, उस पर दृढ़ रहना। हम यदि सही हैं, तो सही हैं ही, उस पर विश्वास रखना चाहिये।

ने. : आप ऐसा ही करते हैं ?

शं. : पूरी तरह। बाबा ने हमें बताया है, जो हमें आज भी याद है (तब हम लोग ८-१० वर्ष के रहे होंगे) कि बेटा, 'सिम्पल ट्रुथ इज द अटमोस्ट स्किल' (सीधी-सादी सचाई ही सबसे बड़ा कौशल है)। इसे पा लोगे, तो कहीं भी कोई खतरा नहीं है। बाबा की इस सिखावन का मैंने अपनी ज़िन्दगी में पूरा-पूरा उपयोग किया है, और आज मैं यह कहने की स्थिति में हूँ कि मुझे इसमें सौ फीसदी सफलता मिली है। व्यापार-उद्योग में भी इसका उपयोग कर मैं पूर्णतः सफल रहा हूँ।

ने. : सीधी-सादी बात यानी जिसमें छल-कपट न हो, दुराव-छिपाव न हो।

शं. : हाँ, छल-कपट से हम अपने आपको बचायें। मेरा अपना अनुभव है कि किसी भी हालत में अपना आचार-विचार/आहार-विहार–दोनों ही यदि शुद्ध और सात्त्विक हैं; तो कहीं कोई तकलीफ या परेशानी नहीं होगी। मेरा विचार है कि आचार-विचार में सात्त्विकता और प्रामाणिकता बनाये रखने पर सुखी और संपन्न जीवन व्यतीत किया जा सकता है।

ने. : आज जहाँ देखें, वहाँ क्लेश, कष्ट, संत्रास दीख पड़ते हैं; लेकिन आप दोनों भाइयों को मैं मुस्कराते हुए देख रहा हूँ, इसका रहस्य क्या है ?

शं. : सादगी (सिम्प्लसिटी)। हमारे बैठकखाने और शयन-कक्ष में भी आप सादगी ही पायेंगे; सुविधाजनक चीजें तो हैं, लेकिन वे भी सादगीपूर्ण हैं।

ने. : अच्छा, थोड़ा-सा यह तो बताइये कि धर्म को परिवार में सहज ही कैसे प्रकट करें ?

शं. : आज हमारा धर्म है कि जो भी 'बिजनेस' है, उसे अच्छी तरह से करें। ईमानदारी से कमायें, अपने परिवार को ठीक से चलायें और साथ ही हमारे जो दूसरे साथी हैं, उन्हें भी आगे बढ़ने दें। ध्यान रखें प्रतिक्षण हमारे कमाने के तरीके किसी का अहित करने वाले न हों।

ने. : एक बात और; आपके तो इतने कारखाने हैं, कई उद्योग चलते हैं; क्या इनके परिसर में अहिंसक आहार यानी शाकाहारी वृत्ति का पालन किया जाता है।

शं. : हमारे छह प्लाँट हैं, जिनमें लगभग ६ हज़ार आदमी काम करते हैं; ऑफिस में भी क़रीब १५० कर्मचारी कार्यरत हैं। हम लोगों ने शुरू से ही यह

(शेष पृष्ठ २०० पर)

अर्द्ध कथानक

○ 'गोम्मटसार' के अध्ययन ने मेरे जीवन को आलोकित कर दिया। मेरे समस्त विश्वासों/समस्त प्रश्नों का अवसान हुआ; मानो, मेरा नवीन जन्म ही हुआ। मैंने इतने दिनों के बाद स्याद्वाद का प्रकृत अर्थ जाना।

○○ मैं अध्यात्म-विषयक पद-रचना में अद्वितीय हूँ। मैं उनकी सुन्दर भाव से आवृत्ति भी कर सकता हूँ। लोग उससे प्रभावित होते हैं। मैं संस्कृत, प्राकृत जानता हूँ और इनके शुद्ध उच्चारण भी कर सकता हूँ। मैं बहुत-सी देशी भाषाएँ भी जानता हूँ। भाषा के प्रयोग में, शब्द और अर्थ के प्रयोग में मैं सर्वदा जागरूक हूँ।

क्रमशः आगरा से महामारी चली गयी। लोग पुनः आगरा लौटने लगे। कुछ दिन पश्चात् मैं निहालचन्द के विवाह में योग देने अमासर गया।

वहाँ से लौटने पर मैं साहू सवल सिंह के घर अक्सर जाया करता। मेरी माँ भी जौनपुर से आगरा आ गयी। फिर खैराबाद विवाह करने गया। विवाह के पश्चात् पुनः आगरा लौट आया और तीर्थयात्रा करना तय किया। प्रख्यात शराफ कँवरजी वर्द्धमान के नेतृत्व में एक तीर्थयात्री-दल अहिच्छत्र और हस्तिनापुर तीर्थ जाने के लिए तैयार हो रहा था। मैं भी उसी दल में माँ और पत्नी को ले कर मिल गया। मैंने तीनों के लिए एक गाड़ी भाड़े पर ली और शुभ दिन देख कर सुबह के समय यात्रा प्रारम्भ की। रास्ते-भर मेरा हृदय एक परम भक्ति से आपूरित था और था संसार से परम विरक्त।

पौष मास के एक शुभ क्षण में अहिच्छत्र में हम लोगों ने भगवान् पार्श्वनाथ की पूजा की। वहाँ से हम हस्तिनापुर गये और तीन तीर्थंकर शान्ति, कुन्थु, और अरहनाथ की पूजा की। उनके सम्मान में मैंने एक छप्पय लिखा एवं भक्ति-भाव से नित्य उसे गाया। पद है–

श्री बिसेन नरेश, सूर नृप राइ सुदंसन।
अचिरा सिरिआ देवि, करहिं जिस देव प्रसंसन।।
तसु नंदन सारंग, छाग नंदावत लंछन।
चालिस पैंतिस तीस, चाप काया छबि कंचन।।
सुखरासि बनारसिदास भनि, निरख मन आनंदई।
हथिनापुर, गजपुर, नागपुर, सांति कुंथ अर बंदई।।५८३।।

संघ दिल्ली के पथ से लौटा। राह में मेरठ पड़ा, जहाँ मेरा ननिहाल है। संघ ने किले के निकट छावनी डाली। वहाँ से शहर जा कर मैं अपने आत्मीय

स्वजनों से मिला। मेरठ से हम कोएल (अलीगढ़) आये; कारण यहाँ के मन्दिर में पूजा करने को हम प्रतिज्ञावद्ध थे। फिर वहाँ से हम आगरा आये और अपनी-अपनी इच्छानुसार अपने-अपने घर लौट गये।

इस तीर्थयात्रा के पश्चात् मैं सच्चा जैन बन गया। मैं नियमित रूप से उपाश्रय जाता और विहार-रत अल्प समय के लिए ठहरे हुए जैन साधुओं के दर्शन-वन्दन करता। उनसे साधु और गृहस्थों के चारित्र का ज्ञान प्राप्त किया और गृहस्थ-चारित्र पालने में तत्पर हुआ। बारह व्रतों के पालन की प्रतिज्ञा की एवं उस पर कविता रची। शास्त्रोक्त आत्मसंयम के चौदह नियम भी पालन करने लगा। भूल होते ही प्रायश्चित्त करता। प्रतिदिन सन्ध्या समय प्रतिक्रमण करता। पूर्वकृत पापों की आलोचना करता, भविष्य में भी उनसे सतर्क रहने के लिए जागरूक रहता। मेरा विश्वास भी क्रमशः जैन तत्त्वों में केन्द्रित होने लगा; फलतः मिथ्यात्व का पूर्णतः परित्याग कर दिया।

विक्रम संवत् १६७६ में मेरी पत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया। मेरी धार्मिक प्रवृत्ति और बढ़ती गयी।

एक वर्ष पश्चात् मेरी माँ का देहान्त हो गया। प्रथानुसार आत्मीय स्वजनों में मैंने फल-मिठाई बाँटी।

विक्रम १६७९ में मेरी पत्नी और पुत्र दोनों की मृत्यु हो गयी। उसी वर्ष फिर मेरा सम्बन्ध हुआ। इस बार कूकड़ी गोत्रीय वेगा साहू की लड़की के साथ रिश्ता हुआ। उनका निवास-स्थान भी खैराबाद ही था। १६८० में मैं खैराबाद गया और तीसरी बार विवाह कर आगरा लौट आया।

इस बार खैराबाद में एक विशेष मित्र प्राप्त हुआ, जिसका नाम था अर्थमल धोर। अर्थमल को आध्यात्मिक चर्चा अच्छी लगती थी। अर्थमल मेरी ओर आकृष्ट हुआ एवं मुझे 'समयसार नाटक' पढ़ने को दे गया। इस पर राजमल्ल नामक एक पण्डित ने हिन्दी टीका लिखी थी। अर्थमल ने मुझे टीका की सहायता से मूल ग्रन्थ पढ़ने को कहा। बोला—'इससे मैं सत्य को जान सकूँगा। मैं भी आग्रह-पूर्वक उस पुस्तक को पढ़ने लगा; किन्तु अध्यात्म का मर्म मैं समझ नहीं सका; लेकिन इतना ज़रूर हुआ कि बाह्य धार्मिक क्रिया-काण्डों से मेरा विश्वास उठ गया। मैं एक आध्यात्मिक नैरुज्य में जा पड़ा; कारण यद्यपि बाह्य क्रिया-काण्डों पर से मेरी श्रद्धा उठ गयी थी तथापि मैं आत्मा को पकड़ नहीं सका था। मैं आकाश और पृथ्वी के मध्य झूलने लगा और ऊँट के वायु निःसरन की भाँति हवा को दूषित करने लगा।

क्रमशः मुझमें एक परिवर्तन आने लगा। सच्चा वैराग्य मन में जमने लगा। मैं रूपातीत आत्मा की चर्चा करने लगा। उस नवीन आलोक में मैंने कई ग्रन्थ लिख डाले। उस समय जो कुछ लिखा उसकी तालिका इस प्रकार है:

'ज्ञान-पच्चीसी' में सच्चा ज्ञान क्या है, इस पर पच्चीस कविताएँ लिखीं। 'ध्यान-बत्तीसी' में ध्यान पर आलोचना की, 'आध्यात्मिक गीत' में आत्मा की चर्चा। 'शिव मन्दिर' एवं अन्य कुछ कविताएँ कवित्त छन्द में लिखीं।

मैंने सब प्रकार के क्रिया-काण्डों का परित्याग कर दिया। अब तक मैं जिन मन्त्रों का जाप करता, व्रत-पालन करता, सामायिक-प्रतिक्रमण करता उन सभी का त्याग कर दिया। हरी सब्जी नहीं खाने का जो नियम लिया था, उसे भी भंग कर दिया; क्योंकि मुझे सभी क्रिया-काण्ड निरर्थक प्रतीत होने लगे। मैं सब कुछ से अलग हो गया। मुझे सब विजातीय लगने लगा।

उस समय की मेरी मनःस्थिति के विषय में बहुत कुछ कहा जा सकता है; किन्तु मुझे वह प्रयोजनीय नहीं लगता; लेकिन एक बात कहे बिना नहीं रह सकता। मैंने सब प्रकार के आकारों की उपासना का परित्याग कर दिया। चारित्र का भी परित्याग कर दिया। मुझे लगा जैसे मैं दुर्विनीत और नीच होता जा रहा हूँ। इसी समय त्रिपुरदास के विवाह में बाराती बन कर सांगानेर गया। वहाँ से लौटने पर मैं जैसे और अधार्मिक हो गया। यहाँ तक कि भगवान् के सम्मुख रखा चढ़ावा भी उठा कर खाने को मन प्रस्तुत हो गया।

उस समय मेरे जो तीन मित्र हुए वे भी मेरी ही तरह अधार्मिक, धर्मद्वेषी, और स्थूल हँसी-ठट्ठा परायण थे। मैं उनके साथ मिल कर जो धार्मिक जीवन-यापन करते उनकी अश्लील हँसी उड़ाता।

मेरे उन तीनों मित्रों के नाम थे चन्द्रभान, उदयकरण, और थान। वे भाँड़ों की तरह नाना प्रकार के खेल दिखाना पसन्द करते। हम जब मिलते तब एक-दूसरे के माथे पर जूते के तलवे से मारते।

कभी अध्यात्म-ज्ञान में ज्ञानी की तरह नेत्र करके खेल दिखाते तो कभी किसी कोठरी में घुस कर कपड़े उतार कर नाचते। बोलते—हम परिग्रह-त्यागी निर्ग्रन्थ मुनि बन गये हैं। हम एक-दूसरे के सिर पर जूता मार कर कहते जो हमें अधार्मिक कहता है, हम उसके सिर पर जूता मारते हैं। जो गीत, भजन आदि प्रचलित थे उन्हें व्यंग्यात्मक रूप देकर गाते और उनमें अध्यात्म का मर्म खोजते।

मेरे अशुभ कर्मों का उदय हुआ था; नहीं तो ऐसा मिथ्यात्व और पागलपन कैसे कर पाता? आज मैं सोच भी नहीं सकता हूँ कि मनुष्यों के सदुपदेश की उपेक्षा कर किस प्रकार मैं लज्जास्पद अश्लील खेलों में मस्त हो गया था। जब तक मेरे अशुभ कर्मों का उदय रहा तब तक वह सब रहा तत्पश्चात् स्वतः ही चला गया; किन्तु इसने मेरी ख्याति को कलंकित कर दिया। सारे जैन, क्या यति, क्या गृहस्थ सब, मुझे अन्तःसारशून्य शेखचिल्ली समझने लगे। अब तक जो 'पण्डित' विशेषण पाता रहा था, वह इसी कारण कि लोग मेरे इन तीनों मित्रों के विषय

में नहीं जानते थे। लोगों का मुहँ बन्द भी नहीं किया जा सकता। जो घटित होता है सभी देखते हैं। फिर अपने-अपने मतानुसार निन्दा-प्रशंसा करते हैं। मनुष्य कुछ बोले बिना नहीं रह सकता। जैसा देखता है, सुनता है, वैसा बोलता है। लोगों का मुहँ बन्द नहीं किया जा सकता।

क्रमशः मैं खेल-तमाशे छोड़ने लगा; किन्तु अश्रद्धा का परित्याग नहीं कर सका। तीर्थंकर मूर्ति को भी मैं अश्रद्धा की दृष्टि से देखने लगा। मैं उनके विषय में वह सब बोला जो बोलना उचित नहीं था। जैन साधु से व्रत ग्रहण किये; किन्तु घर पहुँचते ही उन्हें इच्छापूर्वक भंग किया। रात-दिन पशु की तरह खाने लगा। सब कुछ त्याग कर महामिथ्यात्व में डूब गया।

सम्वत् १६८४ के आषाढ़ मास में मेरी तीसरी पत्नी के एक पुत्र हुआ; किन्तु वह कुछ दिनों से अधिक जीवित नहीं रहा। जीवन ऐसा ही नश्वर है। उसी वर्ष २२ वर्ष राज्य कर बादशाह जहाँगीर काश्मीर से दिल्ली आते हुए रास्ते में ही मर गया। उसकी मृत्यु के चार मास पश्चात् शाहजहाँ आगरे के सिंहासन पर बैठा और साहिब खान किरान की उपाधि धारण की।

१६८५ में मेरे एक और पुत्र जन्मा। वह भी एक वर्ष कुछ ही दिन बचा। मेरे सभी पुत्र अल्पायु थे। १६८७ में मेरे एक पुत्र और हुआ एवं १६८९ में एक लड़की। लड़की भी अधिक दिन जीवित नहीं रही। एक पुत्र को छोड़ कर मेरे सभी लड़के-लड़कियाँ कुछ महीनों ही ज़िन्दा रहे। वह लड़का भी मात्र कुछ वर्ष ही जीवित रहा और मर गया। अब मैं एकदम निःसंतान हुँ।

इसी प्रकार समय बीतता गया; किन्तु धर्म के प्रति जो मेरी अश्रद्धा थी, वह नहीं गयी।

विक्रम १६८० से १६९२ की मुख्य घटनाएँ अब तक बतलायी हैं। उस समय की और भी बातें कहने की हैं, वे अब बता रहा हूँ।

इसी बीच वच्छा के पुत्र के विवाह में चाटसू गया था और उसी समय कुछ विशेष लिखा था; जैसे–

(१) सूक्ति रत्न माला—इसमें १०० पद हैं, (२) अध्यात्म बत्तीसिका—भगवद् भक्ति विषयक ३२ कविताएँ, (३) पैड़ी, (४) फागु-धमाल, (५) सिन्धु चतुर्दशी, (६) शिवपच्चीसी—ध्यान पर २५ पद, (७) सहस अठोत्तर नाम—ईश्वरीय नाम, (८) करम छत्तीसी, (९) राम-रावण-अंतर, (१०) आँखें दोई विधि—दो प्रकार की दृष्टि भंगी विषयक

इसके अतिरिक्त दो वचनिकाएँ, बहुत से अष्टक गीत भी रचे। इस प्रकार मैंने बहुत लिखा और लिखने में आनन्द भी मिला; किन्तु जो कुछ लिखा वह अर्द्ध और आंशिक सत्य मात्र है। सम्वत् १६९२ में पण्डित रूपचन्द्र आगरा आये और तिहुना साहू निर्मित मन्दिर में रहने लगे। वे जैन आगम साहित्य के अगाध पण्डित

थे। हम समस्त अध्यात्मीगणों ने मिल कर उनसे अनुरोध किया कि वे 'गोम्मटसार' की व्याख्या कर हमें सुनायें। 'गोम्मटसार' गुणस्थान और सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। विभिन्न प्रकार के जीव गुणस्थान की विभिन्न पर्यायों में अवस्थान करते हैं जो कि सम्यक्त्व-प्राप्ति के विभिन्न सोपान हैं। 'गोम्मटसार' गुणस्थान के विभिन्न सोपानों का विस्तृत विवरण देता है। इससे जाना जाता है कि अन्तर की जो वस्तु है वह ध्रुव/नित्य है केवल बाह्य आकार और कर्म परिवर्तित होते हैं। विभिन्न अपेक्षा से वस्तु-सत्य को किस प्रकार जाना जाता है, इसका भी विचार इसमें हैं।

'गोम्मटसार' के अध्ययन ने मेरे जीवन को आलोकित कर दिया। मेरे समस्त अविश्वासों, समस्त प्रश्नों का अवसान हुआ। मानो मेरा नवीन जन्म हुआ। मैंने इतने दिनों बाद स्याद्वाद का प्रकृत अर्थ जाना।

रूपचन्द पण्डित एक सुयोग्य शिक्षक थे। उनकी शिक्षा से जैनधर्म के मूल तत्त्वों पर मेरी दृढ़ श्रद्धा हुई।

मैं फिर लिखने लगा। इस बार जो कुछ लिखा अध्यात्म के आलोक में लिखा। साथ ही यह भी समझ गया कि मैंने जो कुछ पहले लिखा और जो कुछ अब लिख रहा हूँ उसमें कोई विरोध नहीं है। मेरे हृदय में तब कालिमा थी, विश्वास में अदृढ़ता थी, अब वह दूर हो गयी थी। मैंने वह दृष्टि प्राप्त की, जिसमें सबकुछ समभाव से देखा जाता है। सब कुछ समान, ऊँच-नीच का कोई भेद-भाव नहीं। भगवान् साक्षी हैं, मैंने वह ज्ञान प्राप्त किया जो आत्मज्ञान के समीप है।

१८८३ विक्रमाब्द। गत वर्ष जो 'समयसार नाटक' मेरे लिए दुर्बोध्य था, अब लगा मैं उस पर काम कर सकता हूँ। मैं एक नवीन प्रेरणा और आनन्द से उसका 'हिन्दी-अनुवाद' करने लगा। ७२७ पदों में मैंने उसे समाप्त किया। स्याद्वादतत्त्व में तब मैंने परिपक्वता प्राप्त कर ली थी।

१८८३ सम्वत् में मेरी तीसरी पत्नी से जो पुत्र हुआ था वह भी मर गया। उसकी मृत्यु ने मुझे गंभीर दुःख में निमज्जित कर दिया। वास्तव में संसार में मोह महा बलवान् है जो कि ज्ञानी-अज्ञानी दोनों को ही समान भाव से बाँधता है।

मेरे पुत्र की मृत्यु को आज दो वर्ष व्यतीत हो गये हैं, फिर भी मन रिक्त है। मैं उस दुःख को भुला ही नहीं पा रहा हूँ। उसकी स्मृति मुझे पीड़ित कर रही है।

मेरी आत्मकथा प्रायः सम्पूर्ण हो गयी है। अभी मेरी उम्र ५५ वर्ष की है। मैं अपनी पत्नी के साथ एक प्रकार से अभाव-रहित जीवन बिताते हुए आगरा में निवास कर रहा हूँ। मैंने तीन विवाह किये। मेरे दो कन्याएँ और सात पुत्र हुए; किन्तु आज उनमें से कोई नहीं रहा। शीतकाल के वृक्ष की भाँति श्यामलता खो कर मैं और मेरी पत्नी रिक्त और शून्य हो गये हैं। तत्त्व दृष्टि से देखने पर कहना

होगा कि जब हम वस्तु को ग्रहण करते हैं तभी तो उसका परित्याग करना पड़ता है? किन्तु, संसार में रहते हुए उस दृष्टि से हम कहाँ देख पाते हैं। जब वह ग्रहण करता है तब स्वयं को धनी समझता है, जब कुछ खोता है तो रिक्त और शून्य।

मैं अपनी आत्म-कथा यहीं समाप्त करता हूँ, किन्तु उसके पूर्व मेरे वर्तमान गुण और दोष बतलाता हूँ।

प्रथम, गुणों को ही बतलाता हूँ :

मैं अध्यात्म-विषयक पद-रचना में अद्वितीय हूँ। मैं उनकी सुन्दर भाव से आवृत्ति भी कर सकता हूँ। लोग उससे प्रभावित होते हैं। मैं संस्कृत, प्राकृत जानता हूँ और इनके शुद्ध उच्चारण कर सकता हूँ। मैं बहुत-सी देशी भाषाएँ भी जानता हूँ। भाषा के प्रयोग में, शब्द और अर्थ के प्रयोग में मैं सर्वदा जागरूक हूँ।

मैं स्वभावत: क्षमाशील और सन्तोषी हूँ। सांसारिक चिन्ता में शीघ्र विचलित नहीं होता। मैं मधुरभाषी और लोक-व्यवहार में निश्छल हूँ। मैं सहन करता हूँ, कटु शब्द नहीं बोलता। मैं स्थिर चित्त हूँ, अत: जो बोलता हूँ, उससे दूसरों का कल्याण ही होता है। मेरा हृदय स्वच्छ और कपट-रहित है। पर-स्त्री के पीछे मैं कभी नहीं दौड़ता। जैनधर्म में मेरी अगाध और सच्ची श्रद्धा है। जो संकल्प करता हूँ, उसका निष्ठा के साथ पालन करता हूँ। मेरा मन शुद्ध है। मैं सदा साम्यभाव रखने की चेष्टा करता हूँ।

ये हैं मेरे गुण। इन गुणों की भी मैंने चरम उत्कर्षता प्राप्त नहीं की है। इनमें न्यूनाधिकता है।

अब बताता हूँ मेरे अवगुण :

यद्यपि मैंने बताया है कि मुझमें क्रोध, मान, कपट नहीं है, फिर भी अर्थ के प्रति मेरी लालसा है। सामान्य लाभ भी जहाँ मुझे आनन्द के शिखर पर चढ़ा देता है, वहाँ सामान्य-सी क्षति भी मुझे हताशा के अन्धकार में डुबो देती है। मैं स्वभाव से ही आलसी और मन्दगति हूँ। घर से बाहर जाना ही नहीं चाहता।

मैं धार्मिक क्रिया-काण्ड नहीं करता, मन्त्रोच्चारण भी नहीं करता। न मैं तपस्या करता हूँ, न आत्म-दमन; न पूजा करता हूँ, न दान देता हूँ।

मैं हँसी-मज़ाक करना पसन्द करता हूँ। मज़ाक में मुझे बहुत आनन्द आता है। भाँड-सा व्यवहार करने में मुझे अच्छा लगता है। मैं बहुत-सी ऐसी बातें कहता हूँ जो निर्लज्ज हुए बिना नहीं बोली जा सकतीं। विभिन्न प्रकार के किस्से-कहानियों का मैं उस्ताद हूँ और बना-बना के कथाएँ कहता हूँ जो पर-निन्दा से भरी होती हैं; उन्हें मैं सत्य बतलाने की चेष्टा करता हूँ। मैं जब हँसी-ठट्ठे पर उतर जाता हूँ, तब सत्य-असत्य का कुछ ध्यान ही नहीं रहता।

मैं जब अकेला रहता हूँ, तब कभी-कभी नाचता हूँ; और कभी-कभी अन-जानी आशंका से भयभीत हो जाता हूँ।

ऐसा है मेरा स्वभाव। कभी अच्छा, कभी बुरा।

मेरे विषय में जो कुछ कहना था वह प्रायः सभी कह चुका हूँ। मैंने वही कहा है जो मेरे कार्य और व्यवहार में प्रकाशित हुआ है; जिन्हें लोगों ने देखा था, जाना था। फिर भी मनुष्य के जीवन में बहुत कुछ इतना सूक्ष्म होता है, जिसे न पकड़ा जा सकता है, न जाना जा सकता है। उसे तो मात्र एक ईश्वर ही जानता है।

मैं यह बात पुनः कहता हूँ, जो मैं स्मरण कर सका वही बोल पाया हूँ। बहुत-सी ऐसी बातें जान बूझ कर नहीं बतायीं, जिन्हें प्रमाद के वशवर्ती हो कर किया एवं प्रमाद ऐसा है कि वह किसी को बताया नहीं जा सकता। फिर भी आप इस बात को स्वीकार करेंगे कि अनेक दोष और प्रमाद जो कुछ किये उन्हें छिपाने की चेष्टा भी नहीं की। साधारणतः जहाँ मनुष्य अपने सामान्य दोषों को भी छिपाने की चेष्टा करता है, वहाँ मैंने तो अपने सम्बन्ध में ऐसी बहुत-सी बातें बतायी हैं जो अस्वाभाविक लगती हैं। सम्पूर्ण जो बोल सकते हैं, वे तो केवली होते हैं।

जो कुछ घटता है उसे सूक्ष्म रूप से बोलने में ,लगता है, सर्वज्ञ केवली भी असमर्थ हैं। मात्र एक दिन में चेतना की कितनी अवस्थाओं से मनुष्य को गुज़रना पड़ता है, वह सर्वज्ञ ही जान सकते हैं; किन्तु वे भी उसका पूर्ण विवरण नहीं दे सकते। केवली से अधिक तो जान ही कौन सकता है? ज्ञानी-तपस्वी भी, केवली जितना जानते हैं, उसका सामान्य ही जानते हैं। उनकी तुलना में तो मैं एक सूक्ष्म कीट हूँ। तब मैं कैसे सारा बता सकता हूँ। मनुष्य-जीवन में बहुत कुछ इतना सूक्ष्म है, जिसे जाना-समझा नहीं जा सकता। मैंने जो कुछ कहा है, मेरे बाह्य जीवन और व्यवहार की बात ही वह है।

मैंने अपने जीवन के ५५ वर्षों की बातें कहीं। मनुष्य की पूर्ण आयु ११० वर्ष की है। मैंने उसका आधा जीवन जीया है। भविष्य में क्या होगा, पता नहीं। वह तो एक मात्र ईश्वर ही जान सकता है।

समस्त समय के समस्त मनुष्यों को तीन भागों में बाँटा जाता है: उत्तम, मध्यम, और अधम।

वे उत्तम हैं जो दूसरों के गुणों को ही प्रकट करते हैं, अवगुणों को छिपा देते हैं। ऐसे लोग जब अपनी बात कहते हैं, तब वे स्वयं के अवगुणों को ही बतायेंगे गुणों को नहीं।

जो अधम हैं, वे इससे विपरीत हैं। वे हमेशा दूसरों के अवगुणों को ही बतायेंगे गुणों को नहीं और अपने गुणों को प्रकट करेंगे, अवगुणों की एक बात भी नहीं बतायेंगे।

मैं मध्यम हूँ, अतः निश्छल रूप से अपने और दूसरों के गुण, अवगुण दोनों बताऊँगा।

आज सोमवार है। विक्रम सम्वत् १६९८ की अगहन मास की सुदी पंचमी। आज मैंने अपनी जीवन-कथा शेष की है। मैं अभी आगरे में रहता हूँ। मैं फिर से कहता हूँ—मैं जैन श्रीमाल वंशीय बनारसी विहोलिया हूँ। मैं अध्यात्म-विश्वासी हूँ। न जाने क्यों मेरे मन में आया मैं अपनी जीवन-कथा सबको बताऊँ; अतः मेरे जीवन के ५५ वर्षों में जो-जो घटा, वह विवृत किया। भविष्य की बात मुझे मालूम नहीं। जो-जो आयेगा उसके सम्मुखीन होना होगा।

गत ५५ वर्षों की कथा मैंने लिखी है जो कि पूर्ण जीवन का आधा है, अतः मैंने इसका नाम रखा है: 'अर्द्ध कथानक'।

जो दुष्ट हैं वे इस कथा को पढ़ कर हँसेंगे; किन्तु जो मित्र हैं वे इसे पढ़ कर आनन्द पायेंगे और परस्पर एक-दूसरे को सुनायेंगे।

शेष करने के पूर्व मैं उन सबको मेरी शुभकामनाएँ देता हूँ; जो इसें पढ़ेंगे, सुनेंगे, सुनायेंगे। इस ग्रन्थ में ६७५ पद हैं। वे सभी प्रायः दोहे और चौपाई छन्द में लिखे गये हैं। **(समाप्त)** □□

—रूपान्तर : श्रीमती राजकुमारी बेगानी

(पृष्ठ ४८ का शेष)

संचारित करें; उसे अपने विश्वास में लें, और जो नया रास्ता उनके मन में उभर रहा है, उसकी एक व्यवहार्य योजना, अपनी श्रेणी के परामर्श और सहयोग सें, देश की सरकार और जनता के सामने उपस्थित करें। मेरा ऐसा ख्याल है कि बाबूजी के पास एक ऐसा लोकप्रिय, उदात्त, तटस्थ और हृदयजीत व्यक्तित्व है, कि वे चाहें तो देश के सामने एक उदाहरण उपस्थित कर सकते हैं, एक नया रास्ता खोल सकते हैं।

ऐसी पहल इतिहास में सदा कोई अकेला व्यक्तित्व ही करता है। ऐसा व्यक्तित्व, जिसकी आत्मा मानव-मात्र की वेदना से अनुकम्पित हो, जिसका हृदय सर्व के प्रेम से संवेदित हो। यदि मेरी धारणा भ्रान्त नहीं है, तो साहू श्रेयांस प्रसाद के पास ऐसी आत्मा है, ऐसा हृदय है।

और ऐसी पहल करने के लिए सर्व चराचर-वल्लभ भगवान महावीर के विश्वव्यापी महानिर्वाणोत्सव से अधिक उपयुक्त और मांगलिक मुहूर्त और कौन-सा हो सकता है? मेरे उपन्यास के धर्म-साम्राज्य-नायक तीर्थंकर महावीर ने आज से ढाई हज़ार वर्ष पहले ऐसी एक पहल की थी। और उसकी ख़ातिर वे वैशाली का राजमहल त्याग कर, असिधारा-पथ के यात्री हो गये थे।

—'तीर्थंकर' के फरवरी १९७४ के अंक से।

१. 'समज' और 'समाज'

पशुओं का समूह 'समज' कहलाता है। मनुष्यों का समुदाय 'समाज' संज्ञा से अभिहित है। जिनमें सामूहिक उत्थान का संकल्प संचरित नहीं होता, परस्पर घुल-मिल कर सामूहिक प्रगति का भाव नहीं पनपता, वह 'समज' संज्ञा पा जाता है। इसके विपरीत सामूहिक उन्नति का संकल्प ले अपने प्रतिवेशी प्राणियों को भी उठाते हुए उनके सुख-दु:ख में स्वयं को साझीदार बनाते हुए चलते हैं जो, उनका समवाय-स्वरूप 'समाज' से सम्बोधित होता है।

मनुष्य-समाज यदि कोरा समुदाय है; मात्र व्यक्तियों का उपहृत स्वरूप है; परस्पर सहानुभूति, संवेदना और प्रेम-भावना नहीं है; सामूहिक उत्थान की कामना नहीं है; स्वयं उत्थित होने की तथा पर को उठाने का संकल्प नहीं है, अपितु उन्हें गिराने की भावना विद्यमान है; तो सहज ही मानस में प्रश्न उगता है कि ऐसा समुच्चय-स्वरूप किंवा 'समाज' कहलाने का अधिकारी है ?

अनासक्त सेवा-धर्म का मेरुदण्ड है। यदि व्यक्ति को निजी स्वार्थ घेरे रखता है तो समझिये कि अमृत में विष का योग हो गया है और उस विष का पार्थक्य अपेक्षित है। आसक्ति और स्वार्थ के भाव से विहीन व्यक्ति की वृत्ति में यदि सेवा के दान की उदात्त भावना सन्निहित है, तो मानिये वह धर्म की अजस्र धारा में प्रवहमान है। सौदेबाज़ी की प्रवृत्ति और स्वार्थ की वासना का सम्यक् परिहार करने पर निश्चय ही विशुद्ध कर्त्तव्य-उपासना तथा नि:स्वार्थ भावना से किया कर्म धर्म बन जाएगा।

सामाजिक की यात्रा ठहराव से बहाव की ओर होती है। वह समाज में नवीन चेतना का संचार करता है। क्रान्ति की आग फैलाता है। समाजिक अपमान को उपास्य मानता है। उसे ईसा के समान शूली पर चढ़ना होता है; पुष्प-शैया को तजना होता है; असल में गाँधी बनना होता है। तब कहीं वह सेवा के सच्चे द्वार पर होता है।

समाज-सेवा हेतु क्रोध से किनारा करना होगा तथा प्रेम के प्रशस्त और प्रशस्य पथ पर चलना होगा। समाज-सेवा फूलों का नहीं शूलों का मार्ग है। समाज-सेवा नीचे-से-ऊँचा उठने की साधना है। बाहर-से-भीतर की आराधना है।

व्यक्ति और समाज का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। वे एक-दूसरे के सम्पूरक हैं। परस्पर सहयोग, सहानुभूति एवं सम्यक् संतुलन से समाज जीवन का उत्थान सम्भव है। व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य बन्धुत्व की उत्कट उद्भावना तथा शिवम् की सरस प्रवाहना से जगत् की तमाम विषमताओं, विरूपताओं, विसंगतियों और विशृंखलताओं को सान्त होना होगा; तब कहीं जा कर उत्थान के उच्च शिखर परम आरूढ़ हो समता और शिव की वेणु का नाद मुखरित होगा।

—डॉ. आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'

२. आदर्श नेता साहूजी

उत्तरप्रदेश के बिजनौर जिले के अन्तर्गत नजीबाबाद का साहूघराना उस प्रदेश में ही नहीं, किन्तु जैन समाज में प्रसिद्ध है। साहू श्रेयांस प्रसादजी के दादाजी साहू सेठ सलेखचन्दजी एक धर्मात्मा और धर्मज्ञ व्यक्ति थे। कानपुर में सन् १९२२

में, जो भा. दि. जैन महासभा का अधिवेशन हुआ था, उसके वे सभापति थे। उनके पौत्र और साहू रमेशचन्द्रजी के पिता साहू जुगमन्दिरदासजी ने उस अधिवेशन का संचालन किया था। सन् १९२३ में महासभा का विभाजन होने के बाद वे भा. दि. जैन परिषद् के कर्णधार बन गये थे। इस तरह इस घराने की पुरानी परम्परा का निर्वाह ही साहू श्रेयांस प्रसादजी और स्व. साहू शान्ति प्रसादजी ने किया।

साहू श्रेयांस प्रसादजी सबसे प्रथम अपनी युवावस्था में भा. दि. जैन संघ के सभापति बने थे। साहू शान्ति प्रसादजी के कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण होने पर बड़े भाई होने के नाते उन्होंने अपने छोटे भाई को ही बढ़ावा दिया और स्वयं का एक तरह से गोपन किया। उनका स्वर्गवास होने के पश्चात् वे वृद्धावस्था में कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुए और एक तरह से अपनी वृद्धावस्था की परवाह न करके अपना पूरा समय समाज को दे कर इतनी तत्परता और लगन से कार्य किया कि समाज स्व. साहू शान्ति प्रसादजी के अभाव को भूल ही गया। इस प्रकार का उत्तरदायित्व सम्हालने वाला समाजसेवी हमें दृष्टिगोचर नहीं होता। हम देखते हैं कि साहूजी अपने स्वास्थ्य की भी परवाह न करके सर्वत्र विचरण करते हैं; और पूरी तत्परता से योगदान करते हैं। उन्हें न सम्मान की चाह है और न आराम की।

गत वर्ष बम्बई में आचार्य विमलसागरजी महाराज की जयन्ती के अवसर पर हुए सेमीनार में हमने उन्हें दो दिन तक सुबह से शाम बिना सहारे के बैठ कर कार्य करते हुए देखा। परिणाम यह हुआ कि उन्हें ज्वर हो आया और डॉक्टरों ने विश्राम की सलाह दी। ऐसे कार्यशील हैं साहूजी।

सेठ भागचन्दजी सोनी के स्वर्गवास के पश्चात् तो एकमात्र साहूजी ही समस्त दि. जैन समाज के कर्णधार रह गये हैं। दि. जैन महासमिति, भा. दि. जैन तीर्थक्षेत्र आदि संस्थाएँ एक तरह से उन्हीं के संरक्षकत्व में जीवित हैं।

साहूजी की एक बड़ी विशेषता यह है कि वे छोटे-से-बड़े तक सब का समान भाव से ध्यान रखते हैं। उन्हें सभी प्रकार के विचार वालों के प्रति समताभाव है। किसी के भी प्रति उनके मन में द्वेष, या ग्लानि का भाव नहीं है। समस्त समाज का अभ्युत्थान हो यही उनकी आन्तरिक भावना है। यही कारण है कि इतर समाजों में भी उनका स्थान आदरणीय है। बम्बई के प्रत्येक क्षेत्र में उनकी प्रतिष्ठा है। व्यापारिक क्षेत्र में भी वे प्रामाणिक माने जाते हैं। भारत के वर्तमान राष्ट्रपति तक उन्हें मानते हैं। यह उनकी सदाशयता का ही परिणाम है।

वे ७५ वर्ष के हो रहे हैं और इसके उपलक्ष्य में सर्वत्र उनका अभिनन्दन हो रहा है। यह अभिनन्दन अभिनन्दनीय है। समस्त जैन समाज को उनके शतायु होने की वीर प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिये। उनका जीवन अब समाज के लिए ही है। दि. जैन समाज का सौभाग्य-सूर्य साहूजी के रहते हुए अस्त होने वाला नहीं है। यदि उनकी उपस्थिति में सामाजिक संगठन हो जाए तो समाज का जीवन सुरक्षित रह सकता है; अन्यथा तो समाज का भविष्य हमें अन्धकारमय ही दीखता है, सामयिक परिवर्तन को दृष्टि में रख कर ही हम समाज का संगठन कर सकते हैं। 'जो अपने को दि. जैन धर्म का अनुयायी मानता है, वह दि. जैन समाज का अभिन्न अंग है', यह भाव आये बिना सामाजिक संगठन होना संभव नहीं है। साहूजी इसी विचारधारा के व्यक्ति हैं। उनकी महासमिति भी ऐसा ही विचार रखती है। हम साहूजी के प्रति अपना हार्दिक अभिनन्दन व्यक्त करते हैं।

—पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री

अंक : अंकुर-से-फल

बीज को अँकुराने, ठीक-से मुस्करा कर आकाश की ओर छलाँग भरने में अन्ततः समय और श्रम लगता है; उसे अविचल-अनवरत तप करना होता है। इस कायोत्सर्ग में जो-जितना वह सहता है, उसे लिपिबद्ध शायद हम कर नहीं सकते। प्रस्तुत विशेषांक की जन्मकथा लगभग ऐसी ही है। क़रीब ४-५ मास पूर्व बम्बई की किसी लोकल ट्रेन में भाई अश्विनीकुमार जोशी ने प्रस्ताव किया था कि नवम्बर १९८३ में आद. बाबूजी का अमृत-महोत्सव है, अतः ऐसा कुछ किया जाए कि महोत्सव-के-ये-क्षण शाश्वत बनें और समाज को एक लम्बे समय तक अनुप्राणित करते रहें। मैंने उनकी बात के वज़न को समझा और कहा कि यदि आप मदद करेंगे तो 'तीर्थंकर' इस अवसर पर 'समाज-सेवा' शीर्षक से एक ऐसा विशेषांक प्रकाशित कर सकेगा, जो बाबूजी (हम सब उन्हें इसी आत्मीय संबोधन से जानते हैं) को उनके भीतर से उलीच कर बाहर लायेगा और समाज को यावच्चन्द्रदिवाकरौ[1] अभिप्रेरित करता रहेगा। प्रस्ताव ने जोशीजी के मन को छुआ और वे एकाद हफ्ते में ही सक्रिय हो गये। मैं, चूँकि श्रद्धेय बाबूजी को सदैव पितृतुल्य मानता रहा हूँ, भी पूरे बल/उत्साह से आगे क़दम उठाने लगा। विशेषांक आकार ग्रहण करने लगा, और अब यह एक प्रतीकात्मक आवरण के साथ 'तीर्थंकर' के पाठकों के सामने है।

सबमें पहले हमें इसके आवरण को समझने की जरूरत है। यह ४ रंगों में संयोजित है। मटमैला रंग इसे अपनी माटी से जोड़े हुए है; हरा रंग उत्साह और ऊर्जा का प्रतीक है, इसमें ताज़गी है और प्रकृति से जुड़े रहने का विनम्र प्रस्ताव है। लाल रंग प्रीतिपरक है और किसी डगर पर आने वाले ख़तरों का प्रतीक भी है। काला रंग योगपरक है। राम-कृष्ण आदि साँवले वर्ण के रहे हैं। रंगों के अलावा आकृतियों की भी अपनी प्रतीक-कथा है। धन/क्रॉस का चिह्न कोई भौमितिक आकृति नहीं है। वह धन भी है और सलीब भी; अतः उत्सर्ग, पूँजी, और सेवा का सहज संकेत भी उसके गर्भ में है। वह द्वार पर खड़ा है और मानव-बस्तियों में दस्तक दे रहा है। सेवा के क्षितिज सामने हैं, हमें सिर्फ वहाँ तक पहुँचने के लिए हवा बनानी है। दूसरी ओर वह नजीबाबाद के साहू-घराने का प्रतीक भी है, जो संपूर्ण सेवा के प्रति समर्पित है। रंगों और आकृतियों के इस संयोजन को समझने की ज़रूरत है।

संपूर्ण अंक शुरू से आखिर तक धैर्य-पूर्वक पढ़ने को है। यह मात्र साहू श्रेयांस प्रसादजी के जीवन का स्थूल वृत्त नहीं है अपितु उनके व्यक्तित्व से लिपटे ५०-६० सालों का एक भावनात्मक दस्तावेज़ है। मुझे ख्याल नहीं कि आज तक किसी संपादक ने किसी समर्पित समाज-सेवी से इतने लम्बे समय तक कोई बातचीत की हो और इस तरह के सिन्धुमन्थन में से अमृत ला कर लोक-मानस को दिया हो। पृष्ठ ४९ से पृष्ठ १७६=कुल १२८ पृष्ठों में विस्तृत बातचीत, सच मानिये, समाज-सेवा के स्वरूप और सिद्धान्तों को सरलतम शब्दों में निरूपित करने वाली 'गीता' है। मैंने उनसे ४-५ बैठकों में लगभग ७५० सवाल किये हैं और उनका जीवनवृत्त जानने के साथ-साथ कई सामाजिक समस्याओं के समीचीन समाधान भी ढूँढ़े हैं। क़रीब १७५ उपशीर्षकों के अन्तर्गत संयोजित यह बातचीत अपने ढंग की निराली है, और अपने पाठकों को समकालीन समस्याओं

1. जब तक सूर्य-चन्द्र बरक़रार हैं।

पर विचार/बहस करने के लिए न्यौतने में समर्थ है। प्राश्निक और उत्तरदाता दोनों प्रतिपल चौकस रहे हैं और प्रयत्न करते रहे हैं कि सत्य की/यथार्थ की ज़मीन पर बने रह कर समाज-सेवा के विभिन्न संदर्भों को किस तरह निःशंक, पूर्वग्रह-मुक्त, अनासक्त चित्त से समाज के सामने रखा जाए। समाज, व्यक्ति, दर्शन, साहित्य, पुरातत्त्व, धर्म, संस्कृति, शिल्प, मनोविज्ञान, इतिहास, अर्थ, राजनीति, नाटक, फिल्म, व्यापार, व्यवसाय, युवा, बालक, बुजुर्ग, तीर्थ, संप्रदाय, ज्ञान, विज्ञान आदि तमाम विषयों को बातचीत में कहीं-न-कहीं छुआ गया है, और उस पर एक अनुभवी समाज-सेवी के विचार मथ कर निःसंकोच पेश कर दिये गये हैं। जिस निर्लिप्त प्रज्ञा/भावना से यह काम किया गया है, मुझे भरोसा है, उसका ध्यान रखते हुए न सिर्फ जैन समाज वरन् संपूर्ण भारतीय समाज लाभान्वित होगा और अनुभव करेगा कि श्रेयांसजी मात्र व्यक्ति नहीं हैं वरन् एक ऐसे ज्योतिर्धर (टॉर्च-बिअरर) हैं, जो अपने संप्रदायातीत अवदान के कारण सदियों जाने जाते रहेंगे।

जहाँ तक इस अंक के संपादन का प्रश्न है उसे बड़ी सावधानी से किया गया है। 'तीर्थंकर' की परम्परा रही है कि वह अपने विशेषांकों के लिए ऐसे व्यक्तियों का चयन करे, जिनके माध्यम से एक विशिष्ट/महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति/युगापेक्षा को व्याख्यायित किया जा सके। प्रस्तुत अंक से पहले मुनिश्री विद्यानन्दजी, श्रीमद्राजेन्द्रसूरीश्वर, आ. विद्यासागरजी, मुनिश्री चौथमलजी, साध्वी श्री विचक्षणश्रीजी पर विशेषांक संयोजित हुए हैं; जो क्रमशः साधुत्व, कोश-रचना, अपरिग्रह, लोकोन्नयन, तथा मृत्युंजयता के प्रतीक बन कर पाठकों तक पहुँचे हैं। ये जिस तरह समादृत हुए हैं, इसके अलग से खुलासे की आवश्यकता नहीं है। जब पं. नाथूलालजी पर एक विशेषांक आयोजित हुआ तब उसे 'पण्डित विशेषांक' का शीर्षक दिया गया; ठीक उसी रौ में प्रस्तुत है—'समाज-सेवा विशेषांक', जो एक बिलकुल नयी विधा में एक नयी भंगिमा पर आयोजित है। इसके द्वारा जहाँ तक एक ओर समाज-सेवा के बहुविध पक्षों को बातों-बातों में स्पष्ट किया गया है, वहीं यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि आद.बाबूजी (श्रेयांस प्रसादजी) समाजरत्न/श्रावक-शिरोमणि आदि उपाधियों से कितने आगे और बड़े हैं। ऐसे समाज-सेवियों का अन्तर्दर्शन-मात्र प्रस्तुत विशेषांक का लक्ष्य है। साहू-घराने की जिन निर्मलताओं के वे प्रतिनिधि हैं, वे इसमें सर्वत्र प्रकट हैं। एक माँ, स्त्री-शक्ति किस तरह एक समाज-सेवी को जन्म देती है, उसे शिल्पी की तरह प्रतिक्षण तराशती है—इस तथ्य को भी जहाँ-तहाँ प्रतिपादित देखा जा सकता है। समाज की संरचना में परिवार की कितनी महत्त्व की भूमिका है, इसे प्रकाशित सामग्री के माध्यम से भलीभाँति जाना जा सकता है।

प्रस्तुत अंक में कई संभावनाओं को पुरस्सर किया गया है। वस्तुतः संपूर्ण अंक एक अभिनव प्रयोग ही है। व्यक्ति/बातचीत-विधा के द्वारा एक विशिष्ट जनोपयोगी प्रवृत्ति को सरलतम शब्दों में रखने का प्रयत्न संभवतः सर्वप्रथम ही यह है। बातों-बातों में चित्त की शक्तियों को एक विशिष्ट फलक पर विशिष्ट उद्देश्य से संगठित करने, उन्हें एक असंदिग्ध/सम्यक् दिशा-दृष्टि देने का काम कठिन था; किन्तु यहाँ वह सफलतापूर्वक संपन्न है, इसमें कोई शक-शुबहा नहीं है; सहज हुआ है वह सब जिसे आरम्भ में मुश्किल माना गया था। स्वभावतया हमारे कुछ पाठक सवाल उठा सकते हैं कि 'तीर्थंकर' ने इतनी लम्बी बातचीत क्यों प्रकाशित की? इससे अच्छा तो यह होता कि कुछ विशेषज्ञों से समाज-सेवा पर तकनीकी/शास्त्रीय लेख लिखवाये होते और उन्हें छाप दिया होता। असल में यहीं हम ग़लती करते हैं। आज समाज को ऐसे क्षेत्रों में तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता नहीं है।

इस क्षेत्र में तो अनुभवी व्यक्तियों के अनुभूत प्रयोग और अनुभवों की ज़रूरत होगी। 'मैदान' और 'किताब' के अन्तर को स्पष्टतया यदि हम देखेंगे तो प्रस्तुत अंक की उपयोगिता स्वतः स्पष्ट हो जाएगी।

कई बातचीत, जो काफी महत्त्व की थीं, स्थानाभाव और अप्रत्याशित तकनीकी कारणों से (कैस्सेट उलझ जाने के कारण), विशेषांक में सम्मिलित नहीं की जा सकी हैं। श्रवणबेलगोला के विद्वान् भट्टारक, जिनसे बम्बई में विगत ९ सितम्बर को बातचीत हुई, के शब्द हैं : 'साहूजी का कर्तृव्य शब्दातीत है। उन्होंने महामस्तकाभिषेक (फरवरी ८१) के ऐतिहासिक क्षणों में समाज-सेवा की जिन संभावनाओं को प्रवर्तित किया है, हम उन्हें आकार देने में सक्रिय हैं। वे सौ शरद् जियें!' इसी तरह मुनिश्री पद्मसागरजी (श्वे.मु.; बम्बई ९ सितम्बर ८३) ने अपनी बातचीत में कहा : 'निपाणी (नव. १९७९) में मुझे श्रेयांसप्रसादजी के निर्मल और समन्वयप्रिय हृदय की झाँकी मिली। उनकी सामाजिक सेवाएँ अविस्मरणीय हैं। मेरे आशीर्वाद उनके साथ हैं।' उद्योगपति श्री रामकृष्ण बजाज की संपूर्ण बातचीत (बम्बई ३० जुलाई ८३) महत्त्व की है, जिसका संक्षेप है : 'भीतर की गंदगी को दूर किये बिना समाज-सेवा असंभव है। श्रेयांसप्रसादजी शुद्ध और निष्काम सेवा के प्रतीक हैं। वे दीर्घजीवी हों।' बालाघाट में साध्वी मणिप्रभाश्रीजी (श्वे.सा. १ अक्टू. १९८३) से समाज-सेवा पर जो बातचीत हुई उसका सार है : 'हमें निष्काम चित्त से सेवा करना चाहिये। आकिंचन्य और निर्मलता, निष्काम भाव और समर्पण सेवा के मूलभूत आधार हैं।' हमें विश्वास है उक्त विचार हमारे प्रिय पाठकों को निष्कांचन/निःकांक्ष समाज-सेवा के लिए प्रेरित करेंगे।

ध्यान में लें कि सेवा का क्षेत्र कोई तकनीकी या व्यावसायिक क्षेत्र नहीं है; वह एक अत्यन्त मानवीय/संवेदनशील क्षेत्र है। यहाँ जब तक सेव्य-सेवक दोनों निर्मल-निष्काम चित्त के नहीं होंगे तब तक कुछ घटित नहीं होगा। धर्म की उज्ज्वल चेतना ही इन दोनों के बीच एक सुदृढ़ सेतुबन्ध का कार्य कर सकती है। इस अंक की सबमें बड़ी विशेषता यह है कि इसमें खतरों, संभावनाओं, कमियों, खामियों को बहुत साफ-साफ शब्दों में सामने रख दिया गया है। सेवा के उन सारे क्षेत्रों को भी एक साथ किसी-न-किसी शक़ल में उघाड़ दिया गया है, जहाँ समाज की आबालवृद्ध शक्तियाँ सक्रिय हो सकें।

अब कुछ कृतज्ञताएँ हैं, जिनका उल्लेख किये बिना शायद यह अंक आधा-अधूरा ही रह जाएगा। इस सिलसिले में पहला नाम मेरी याद में अश्विनीकुमार जोशी का है, जिन्होंने अंक के आकल्पन से उसके समापन-बिन्दु तक मेरी सहायता की है, मुझे सामग्री उपलब्ध करायी है, और जो हर जिम्मेवारी के निभाने में अनुक्षण तैयार रहे हैं। वे स्वाभिमानी, कर्तव्यनिष्ठ, और कार्यकुशल व्यक्ति हैं; उन्हें न नामवरी चाहिये, और न पैसा, चाहिये काम—अच्छा और समय पर। मुझे विश्वास है उनका यह व्यक्तित्व उत्तरोत्तर विकसित होगा और उन्हें वह सब आपोआप मिलता जाएगा, जिसकी वे कल्पना भी नहीं कर सकते। दूसरा नाम शिखरकुंज में दीपजोत की तरह तिलतिल समर्पित गौरी बाबू का है, जिन्होंने मेरे साथ अत्यन्त मौन, किन्तु महत्त्वपूर्ण सहयोग किया है।

इस अंक का लेखक-वर्ग विशिष्ट और चुनिंदा है। डॉ. धर्मवीर भारती का मैं विशेष ऋणी हूँ जिन्होंने बावजूद सारी व्यस्तताओं के एक दिशादृष्टि देने वाला लेख 'तीर्थंकर' को दिया है। जिन प्रश्नचिह्नों को उन्होंने अपने लेख में उभारा है, मुझे

विश्वास है, उन्हें ले कर कोई-न-कोई ईमानदार पग कहीं-न-कहीं अवश्य उठेगा। दादा कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' का संस्मरणपरक लेख अपनी तरह का है जिसने संक्षेप में और संपूर्ण प्रभाव के साथ वह सब कह दिया है, जिसकी मुझे उनसे अपेक्षा थी। बाबू अक्षयकुमारजी ने तो रुग्णशैया से ही मुझे स्नेहाभिषिक्त किया है। श्रद्धेय डॉ. सुमन ने समय पर एक ऐसा लेख दिया है जिसके न होने पर हज़ार कोशिश पर भी अंक संपूर्ण शायद ही कहला पाता। उनके लेख में श्रेयांसजी के व्यक्तित्व को चतुर्दिक् उसकी विशिष्ट आभाओं के साथ प्रस्तुत किया जा सका है। भाई दिनकर सोनवलकर की कविताओं में जो प्रखरता और अदृप्त तेज है, उसे वे ही महसूस कर सकते हैं जो समाज की विषमताओं और उसके विषदंश से वाकिफ़ हैं। आद. लक्ष्मीचन्द्र जैन का लेख श्रेयांसजी के जिस पक्ष को सामने रख गया है, वह इतने महत्त्व का है कि यदि वे इसे न कह पाते तो एक बहुत महत्त्व का तथ्य अनकहा रह जाता। वीरेन भाई का लेख पुराना अवश्य है, किन्तु यही एक ऐसा आदमी है, जिसकी बात न तो कभी जूठी होती है, और न ही जिसकी ताज़गी कभी कम पड़ती है। लेख अपनी तरह का है, और संस्मरणशीलता के मजबूत पाये पर खड़ा है। पण्डित कैलाशचन्द्रजी का लेख छोटा है; किन्तु उसमें जो कुछ कहा गया है, वह पण्डितजी ही कह सकते थे। लेख गरिमापूर्ण है। डॉ. आदित्य की टिप्पणी में समाज-सेवा का स्वरूप-विवेचन और उसकी किंचित् सावधानियों का अच्छा प्रतिपादन हुआ है। यह संयोग ही है कि इस अंक में कविवर बनारसीदास के 'अर्द्धकथानक' (गद्यान्तर) की अन्तिम किस्त जा रही है। यह तथ्य श्रेयांसजी से हुई मेरी बातचीत पर भी लागू पड़ता है। हम चाहें तो इस बातचीत को 'एक और अर्द्धकथानक' की संज्ञा दे सकते हैं। आप महसूस करें कि बातचीत की विधा में यह प्रथम आत्मकथा है, जो समाज-सेवियों के इस तरह के दस्तावेज़ तैयार करने की स्पष्ट प्रेरणा हमें देती है।

अब हम प्रेस की महत्त्वपूर्ण भूमिका पर आते हैं, जिसने कम समय में कलात्मक मुद्रण दे कर 'तीर्थंकर' को अनुगृहीत किया है। इस सिलसिले में मैं प्रिंटरी के प्रबन्धक श्री हीरालालजी झाँझरी, श्री अजय छजलानी, और श्री निवासजी का आभार मानूंगा कि जिन्होंने मेरी मुश्किलों को समझा और अत्यन्त आत्मीयतापूर्वक इस कार्य को संपन्न किया।

इसी तरह मोनो-विभाग के श्री शिवबलीसिंह तथा उनके साथी, जॉब-विभाग के श्री ठाकुरदास और उनके साथी, मुद्रण-विभाग के श्री शिंदे तथा श्री बागमल और उनके साथी, एवं जिल्द-विभाग के श्री रामेश्वर और उनके साथी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने सदैव 'तीर्थंकर' का कार्य अत्यन्त आत्मीय भाव से किया है।

मुझे विश्वास है इस बहुमूल्य सहयोग के सातत्य में हम राष्ट्र और समाज की अधिकाधिक सेवा कर सकेंगे।

—नेमीचन्द जैन

बाहुबली में रक्षाबन्धन पर

हरिजन महिलाओं को साड़ियाँ वितरित

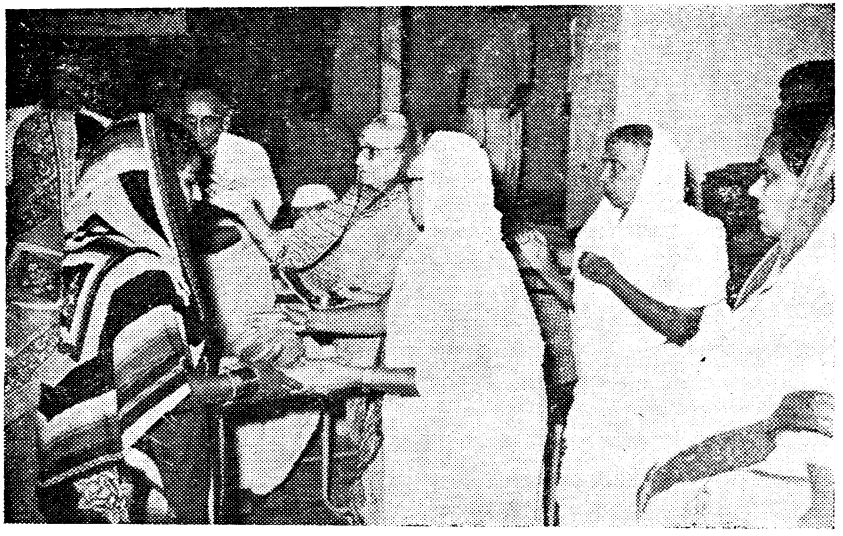

हरिजन महिलाओं को साड़ी और श्रीफल वितरित करते हुए श्रीमती गजाबेन। दाहिनी ओर बीच में कारंजा श्राविकाश्रम की संचालिका श्रीमती मंजुला ताई रूईवाले और साथ में श्रीमती शरयू दफ्तरी।

महाराष्ट्र के बाहुबली-कुंभोज क्षेत्र में इस वर्ष रक्षाबन्धन एवं वात्सल्य-पूर्णिमा का पर्व विशिष्ट उपक्रम के रूप में आयोजित किया गया। बाहुबली के निकट 'नेज' गाँव के ग्रामीणों को नारियल तथा अन्य फलों के पौधे, और ग्राम की २०० हरिजन महिलाओं को साड़ियाँ उपहार-स्वरूप प्रदान कर यह पर्व परम्परा से हटकर संपन्न हुआ। साड़ियाँ और पौधे अहिंसा प्रसारक ट्रस्ट की ओर से सुविख्यात समाजसेवी, द.भा. जैन सभा की अध्यक्षा श्रीमती शरयू दफ्तरी द्वारा वितरित किये गये। यह घटना न केवल बाहुबली-क्षेत्र के इतिहास में, बल्कि महाराष्ट्र के जैन समाज के इतिहास में सर्वप्रथम घटित हुई, जो बहुत ही प्रेरक सिद्ध होगी। हरिजन महिलाओं को साड़ियाँ देने के इस समयोचित दान की प्रेरणा राष्ट्रीय दृष्टि एवं वात्सल्य भाव से जन-कल्याण और समाज-सेवा के लिए प्रयत्नशील एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी की थी, जो स्वयं समारोह में उपस्थित थे।

उन्होंने अपने प्रेरक उद्‌बोधन में कहा कि 'आज का दिन नारियल-पूर्णिमा कहलाता है। नारियल के पौधे दे कर यह नाम आज सार्थक हुआ है। इसी तरह वात्सल्य-पूर्णिमा का नाम भी नेज गाँव की बहनों को साड़ियाँ दे कर सौ. शरयू ने चरितार्थ किया है। राष्ट्र की 'रक्षा' का यह 'बंधन' जैन समाज हमेशा से मानता आया है। साथ ही जन-कल्याण/समाज-सेवा के कार्य की परम्परा भी निभाता आया है।

'सौ. शरयू का यह कार्य इस परम्परा की एक कड़ी है। उनके दादा स्व. हिराचंद नेमचंदजी ने जैनधर्म की प्रभावना एवं समाज-हित के लिए अनेक संस्थाएँ स्थापित की थीं। उनका ही कार्य शरयू आगे बढ़ा रही हैं। नेज के ग्रामवासियों को प्रदत्त पौधों एवं साड़ियों की यह भेंट शान्ति-यात्रा की शुरूआत है। अगर हमारे उद्योगपति ऐसे छोटे-छोटे देहातों को अपनाकर उन्हें समृद्ध बनायेंगे तो हमारा लोकतन्त्र/गणतन्त्र काफी हद तक सुरक्षित रह सकता है। भारतीय गणतन्त्र की जननी भगवान् महावीर की जन्मभूमि वैशाली है, ऐसा राष्ट्रकवि 'दिनकर'जी ने भी कहा है, इस पर हमें गौरव होना चाहिये। उस वैशाली की जनतन्त्र/गणतन्त्र की देन हमें सुरक्षित रखनी है और इसलिए आज के जैसे 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' का सूत्र चरितार्थ करने वाले उपक्रमों की आवश्यकता है।

वीर सेवा दल के अध्यक्ष डॉ. धनंजय गुंडे ने कहा कि समयानुसार दान की धारणा में परिवर्तन की प्रेरणा हमें एलाचार्यजी से मिली। श्रीमती शरयूताई दफ्तरी को तो श्रवणबेलगोला में ही उनका मार्गदर्शन प्राप्त हो गया था। वहाँ पर कार्यान्वित जन-कल्याण का यह सेवा-कार्य आज बाहुबली में पहुँच गया है और आगे बढ़ता ही जाएगा।

इस उपक्रम की संयोजिका श्रीमती शरयू दफ्तरी ने अपने भाषण में बताया कि 'मैं अर्थशास्त्र की छात्रा हूँ तथा प्रत्येक बात पर अर्थशास्त्रीय दृष्टि से विचार करती हूँ। हमारा देश कृषि-प्रधान है। यहाँ ७० से ८० प्रतिशत आबादी खेती पर निर्भर है। ४० प्रतिशत लोगों को दोनों वक्त का खाना भी नहीं मिलता। कुछ तो ऐसे हैं, जिन्हें दो दिन में एक बार ही खाना मिल पाता है। ऐसी विकट और विषम स्थिति हमारी अर्थव्यवस्था की है। उद्योगीकरण और शहरीकरण के कारण हमारे परिवारों की सुख-शान्ति भंग हुई है। उन्हें स्वावलम्बी और समृद्ध किस तरह बनाया जाए, इस पर मेरा चिन्तन चल रहा था कि एलाचार्यश्री से प्रेरणा मिली और इस दिशा में कदम उठाते हुए तीन हजार पौधे श्रवणबेलगोला के परिसर में रहने वाले आर्थिक दृष्टि से दुर्बल परिवारों में वितरित किये गये।

'नेज ग्रामवासियों को जो नारियल के पौधे वितरित किये जा रहे हैं, यदि इस ग्राम के कार्यकर्ता पाँच सालों तक इनका संगोपन तथा पोषण करें, तो ग्राम का नक्शा ही बदल जाएगा।'

हरिजन महिलाओं को साड़ियाँ वितरण के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए श्रीमती शरयूताई ने कहा कि महाराष्ट्र में साड़ी, नारियल, हल्दी, कुंकुम को नारी के सौभाग्य का सूचक माना गया है। इसके पीछे उनके सौभाग्य में वृद्धि की मंगल कामना है। खास तौर पर मुझे एक बात कहनी है कि हमारी पुरुष-प्रधान संस्कृति में जिस स्त्री का पति जीवित है, उसे सुहागन या सौभाग्यवती माना जाता है, लेकिन हमें यह व्याख्या स्वीकार्य नहीं है। हमारी दृष्टि से नयी पीढ़ी को सुसंस्कारित करने वाली महिला ही सच्चे अर्थों में सुहागन है। यहाँ जो केवल ऐसी २०० महिलाओं को साड़ियाँ एवं श्रीफल से अभिनन्दन किया जा रहा है, यह संपूर्ण भारत की महिलाओं का प्रतीकात्मक गौरव है। हमारी महिलाएँ राष्ट्र, समाज और परिवार के धरोहर की रक्षा करने हेतु, सदैव त्याग एवं बलिदान करती आयी हैं। उनके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ। यह 'ट्रस्टीशिप' की भावना से हम कर रहे हैं। समाज का धन एक विश्वस्त (ट्रस्टी) के नाते सँभाल कर रखते हुए सदुपयोग हेतु विनियोग करने का यह एक विनम्र प्रयत्न है और करते रहेंगे।

आचार्यश्री समन्तभद्रजी और एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी के सान्निध्य में बाहुबली की विदुषी 'धर्मवत्सला' पं. गजाबेन के हाथों साड़ियाँ वितरित की गयीं। समारोह

आत्मीयतापूर्ण वातावरण में संपन्न हुआ।

—भगवान् महावीर अहिंसा प्रचार संघ, मद्रास ने राष्ट्रपति श्री ज्ञानी जेलसिंह को ज्ञापन दिया, जिसमें कहा गया है कि महावीर-जयन्ती को अहिंसा-दिवस के रूप में भारतभर में मनाया जाए। उस दिन अनिवार्य रूप से बूचड़खाने, माँस-विक्रय की दुकानें एवं शराब की दुकानें बन्द रखी जाएँ। पोस्टोरियर पिट्यूटरी एवं स्ट्रक्ट के इंजेक्शन पर प्रतिबन्ध लगाया जाए। इस विधि से पशुओं के स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। आधुनिक कतलखाने की स्कीम अविलम्ब स्थगित की जाए। भारत सरकार कानूनी रूप से माँस के पैकेट, विज्ञापनों के विक्रय तथा खरीद की दुकानों और इसी तरह की व्यावसायिक चीजों पर लिखे : 'माँस-भक्षण स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद है।' पशु-पक्षी के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाये चाहे वे खाने, परीक्षण अथवा मौज-शौक के लिए भेजे जाते हैं।

—कलकत्ते में सुप्रसिद्ध संपादक एवं चिन्तक श्री गणेश ललवानी के ६० वें जन्म-दिवस के उपलक्ष्य में १२ दिसम्बर, ८३ को अभिनन्दन-समारोह आयोजित किया जा रहा है। इस अवसर पर एक स्मारिका भी प्रकाशित की जाएगी, जिसमें उनके बहुविध व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डाला जाएगा।

—अ. भा. जैन विद्वत् परिषद्, जयपुर एवं सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल के संयुक्त तत्त्वावधान में त्रिदिवसीय (१७-१९ नवम्बर,८३) सामायिक संगोष्ठी जयपुर में आयोजित की जा रही है, जिसमें सामायिक पाठों तथा समभाव साधना-पद्धतियों के विभिन्न पक्षों पर विद्वानों द्वारा शोध-निबन्ध प्रस्तुत किये जाएँगे। संगोष्ठी का संचालन डॉ. नरेन्द्र भानावत करेंगे।

—दि. जैन महासमिति द्वारा हस्तिनापुर (मेरठ) में १९ नवम्बर,८३ को 'नारी-समस्या' पर एक अखिल भारतीय विचार-गोष्ठी आयोजित की गयी है।

—दिगम्बर जैन एकता-सम्मेलन की त्रिदिवसीय बैठक (१२-१४ नवम्बर,८३) बड़ौत (मेरठ) में रखी गयी है।

—समाजसेवी साहू श्रेयांस प्रसादजी जैन के अमृत महोत्सव पर मंगल आशीष देते हुए आचार्यश्री विमलसागरजी ने कहा है कि उनके रहते भारत का गौरव है। वे जैन धर्म जैसी आगमानुसार (सेवा) करते आये हैं, वैसी ही प्रभावना करते रहें। जैन शासन ही प्राणिमात्र का प्राण है, उसकी जैसे बने वे दिन दूरी रात चौगुनी प्रभावना करते रहें। वे सहस्र वर्षों तक जीवित रहें।

—मुनिश्री आर्यनंदीजी ने अपना 'शुभाशीर्वाद' देते हुए कहा है कि 'परोपकाराय सतांविभूतय'—सज्जनों का जीवन परोपकाय के लिए ही है। यह शेर कितना मौजू है—'किसकी मिसाल दे हम, सब यह सवाल है। 'श्रेयांस' सब गुणों की जिन्दा मिसाल है।'

—हम साहूजी की वात्सल्य हृदय से मंगल कामनापूर्वक/अभिनन्दनपूर्वक शुभाशीर्वाद देते हैं कि उनके द्वारा ऐसे ही स्व-पर कल्याणकारी समाज, धर्म एवं देश की सेवा होती रहे। दीर्घ आयुरारोग्य बढ़े, 'तीर्थंकर' गोत्र का बन्ध हो। यह श्री जिनेन्द्र भगवान् के चरणों में अहर्निश प्रार्थना है।

—साहू श्रेयांस प्रसादजी जैन के ७५ वें जन्म दिवस (अमृत महोत्सव के अवसर) पर बम्बई में १ नवम्बर, ८३ की शाम को श्री सी. सुब्रह्मयम की अध्यक्षता में समारोह आयोजित किया गया है।

—श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ ने २१ वें अधिवेशन में अहिंसा के संबंध में गोवंश-हत्या पर अविलंब पूर्ण प्रतिबंध लगाने, पशु-पक्षियों के विदेशी निर्यात को रोकने, वनस्पति घी में गाय व सूअर आदि की चर्बी मिलाने वाले दोषी जनों को दंडित करने की भारत सरकार की कार्रवाई का स्वागत करते हुए सजग रहने, भ. महावीर की जयंती अहिंसा-दिवस के रूप में मनाने के प्रस्ताव पारित किये हैं।

जैन ध्यान/योग विशेषांक : विश्व-कोश की कोटि में रखने योग्य

विशेषज्ञों की अपनी समृद्ध परम्परा के अनुरूप विशेषांक का भी अपना विशिष्ट महत्त्व है। 'तीर्थंकर' ने हमेशा व्यक्तियों की अपेक्षा प्रवृत्तियों को अधिक महत्त्व दिया है और भारतीय संस्कृति के व्यापक परिप्रेक्ष्य में जैन संस्कृति की मौलिकताओं को प्रकाशित किया है। प्रस्तुत विशेषांक जैन ध्यान जैन योग को शास्त्रीय एवं लौकिक दोनों ही दृष्टियों से सांगोपांग विविध एवं रोचक शैली में संयोजित अभिव्यक्ति है। इसमें जैनधर्म और दर्शन के मर्मभूत ध्यान और योग के बहुविध पक्षों पर सर्वाङ्गपूर्ण दृष्टि से प्रकाश डाला गया है जिसके कारण इसे अपने विषय के विश्वकोश की कोटि में रखा जा सकता है। विषय को प्रस्तुत करने में सर्वत्र अधिकारी विद्वानों एवं सुविज्ञ मनीषियों द्वारा आधुनिक साधनों एवं शैलियों का आश्रय लिया गया है जिसके कारण विषय और भी रोचक बन पड़ा है।

विशेषांक विशेषतया संग्रहणीय एवं सर्वथा उपादेय है तथा प्राच्य विद्याओं के प्रत्यास्थापन से हितबद्ध मनीषियों द्वारा मननीय एवं पठनीय है।

—गोकुलप्रसाद जैन/'अनेकान्त',
नईदिल्ली, जुलाई-सितम्बर, १९८३

श्रमण और श्रम से पलायन विपरीत

'तीर्थंकर' के १५० वें अंक (अक्टूबर, ८३) में संपादकीय साधु के शिथिलाचार पर एक करारी चोट और चेतावनी है। काश, वैसे और पूजक इससे कुछ ले सकें।

प्रस्तुत संपादकीय में पृ. ५ पर की विदेश में वाहन के उपयोग की स्वीकृति युक्तियुक्त नहीं लगी। 'गाँधी' चित्र की सफलता का राज गाँधीजी के त्याग, सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह का चित्रण है। विश्वमंच पर अर्धनग्न गाँधी ही प्रतिष्ठित हो सकता था, उसे सूट-बूट पहनाने पर उसकी ग्राहकता शतांश भी नहीं होती। जैन साधु भी भारत में हो, अमेरिका में, यूरोप अथवा एशिया के किसी देश में, अपने शुद्ध अकिंचन, वेष-परिवेष में ही पूज्य है। अपने सिद्धान्त के अनुकूल और अनुरूप इर्या समिति-पूर्वक पैदल चलकर ही वह प्रभावकारी हो सकता है। वाहन की स्वीकृति उसे अन्य सुविधाओं की स्वीकृतियों के लिए भी आकर्षित कर सकती है। श्रमण और श्रम से पलायन विपरीत बातें हैं। **—कन्हैयालाल सरावगी, छपरा**

चातुर्मास पर उद्बोधक चिन्तन

चातुर्मास पर अच्छा मार्गदर्शक और उद्बोधक चिन्तन इस (अक्टूबर, ८३) में छपा है। बधाई!

—काशिनाथ त्रिवेदी, इन्दौर

बेजोड़/सटीक

संपादकीय (अक्टूबर, ८३) तो बेजोड़ था; साथ ही चातुर्मास से सम्बन्धित अन्य लेख भी आज के संदर्भ में बहुत सटीक थे।

—नथमल लूणिया, पटना

नये आजीवन सदस्य रु. २०१

६६५. श्रीमती लीला वैद्य
द्वारा श्री अभयकुमार वैद्य
कुम्हारी मोहल्ला
पो. बालाघाट-४८१००१ (म.प्र.)

६६६. श्री ज्ञानचन्द बाफना
बाफना भवन
भगवान महावीर चौक
पो. बालाघाट-४८१००१ (म.प्र.)

६६७. श्री महेशकुमार सेठिया
सदर बाजार
पो. धमतरी-५९३७७३
जि. रायपुर (म.प्र.)

६६८. श्री जितेन्द्रकुमार रमणलाल शाह
अम्बिका जनरल स्टोर्स
दादावाड़ी के पास, मेनरोड
पो. बालाघाट-४८१००१ (म.प्र.)

(साहूजी : दृष्टि और सृष्टि; लक्ष्मीचन्द्र जैन; पृष्ठ ४० का शेष)

को आधुनिक विश्वविद्यालयीन जैन स्कॉलर्स की वैज्ञानिक शोध-पद्धति के संदर्भ में आमने-सामने रख कर स्वयं विद्वानों को एक-दूसरे की उपलब्धियों और पद्धतियों के गुणों और न्यूनताओं को समझने का समन्वयी मंच प्रदान किया। साथ ही, आचार्य शान्तिसागर स्मारक ट्रस्ट (जिसके वे अध्यक्ष हैं) को इस योजना में सहयोगी बना कर प्राचीन परम्परा का सरोकार आधुनिक ढंग की संगोष्ठी से करा दिया। इतने महत्त्वपूर्ण नेतृत्व का काम सार्थकता से वे कर सकते थे। जितनी देर तक गोष्ठी के सत्र चलते रहे, साहूजी स्वयं स्थिर आसन से मंच पर बैठ कर गति-विधि का निर्देश करते रहे। अस्वास्थ्य, थकावट, भूख-प्यास और यहाँ तक कि प्राकृतिक शरीरधर्मी आवेगों को भी रोके रख कर बैठे रहे; ताकि सभा के कार्य से ध्यान उचट कर लोगों को उनकी अनुपस्थिति का भान न हो।

अपनी दृष्टि को सृष्टि में, सृजनात्मकता में ढालने का हाल यह कि विद्वत्-गोष्ठी के प्रत्येक चरण को उन्होंने स्वयं संचालित किया अथवा अपने निर्देशन में संचालित करवाया। कार्यक्रम पक्का करने के उपरान्त जब देखा कि समय कम है और मूर्द्धन्य विद्वानों को सम्मानपूर्वक आमन्त्रित करने योग्य समय आयोजकों के हाथ में नहीं है तो स्वयं व्यक्तिगत पत्र लिख कर अनुरोध किया कि वे पधारें। कौन किस ट्रेन से आ रहा है, स्वागत कैसे हो, कहाँ ठहरें, भोजन आदि की व्यवस्था क्या हो, सब का उत्तरदायित्व बाँटकर चार्ट बनवा लिये। बम्बई-जैसे नगर के उपप्रान्त में दूर संगोष्ठी आयोजित करने का कारण स्पष्ट था; किन्तु प्रबन्ध की सुविधाएँ दुष्कर थीं। यह साहूजी के व्यक्तित्व का, उनकी स्नेहशीलता का प्रभाव था कि जहाँ देखा कि प्रबन्ध शिथिल है, समुचित नहीं, वहीं उनके सहयोगी कार्यकर्ताओं ने रातोंरात दूसरा प्रबन्ध कर लिया। आत्मीयता और स्नेह के माध्यम से सहयोगियों में कर्मठता और आस्था संचार करने के गुण को 'कला' कह सकते हैं; किन्तु यदि वह कला है तो इतनी स्वाभाविक कि कहीं भी जोड़-तोड़ का प्रयास नज़र नहीं आता/न होता है।

इतना बड़ा आयोजन जिसमें विभिन्न नगरों और अंचलों के, विभिन्न पद्धतियों को अपनाने वाले, विभिन्न पीढ़ियों के लगभग पचास विद्वान् और सक्रिय अध्येता-श्रोता सम्मिलित हों और सारी कार्रवाई कार्यक्रम के अनुसार संचालित हो जाए, यह दुर्लभ उपलब्धि सबको देखने को मिली। एक नयी लीक उभरी, कृतित्व की नयी परम्परा उद्घाटित हुई।

इस सब आयोजन के पीछे साहूजी की दृष्टि जैन दर्शन, इतिहास, पुरातत्त्व, समाज-शास्त्र, तन्त्र-मन्त्र, विज्ञान आदि की उपलब्धियों को आँकने और भविष्य की अपेक्षाओं को परिभाषित करने की थी। वह कभी भी उनके मन से ओझल नहीं हुई। बीच-बीच में बराबर वे श्रोताओं से, विद्वानों से पूछते रहे, क्या कुछ होना है, कौन क्या करेगा? दायित्व लेने के लिए कौन-कौन तैयार है। साधन जुटाने वालों

में कौन-कौन हैं ? वे क्या दायित्व ले सकते हैं ? ये सब प्रश्न, ये सब उपलब्धियाँ और अपेक्षाएँ जब तक व्यवस्थित ढंग से एक 'डॉक्यूमेंट' के रूप में सामने नहीं आ गयीं, तब तक गोष्ठी का समापन साहूजी ने पूरा नहीं माना। वह दस्तावेज़ सभी विद्वानों और सहयोगियों के पास भेज दिया गया था। साहूजी जहाँ-जहाँ जाते हैं विद्वानों का आह्वान करते हैं, साधन-सम्पन्न व्यक्तियों को आमन्त्रित करते हैं कि जिन अपेक्षाओं को दस्तावेज के रूप में निबद्ध कर दिया गया है, उन्हें वे अपनायें, कार्यक्रम बनायें, ताकि गोष्ठी जो सफल हुई, उसकी सार्थकता सामने आये। सफलता और सार्थकता का अन्तर उनके मन में स्पष्ट है।

साहूजी के सामने बार-बार अनेक दिशाओं से उत्साही व्यक्ति आते हैं और शोध-संस्थान स्थापित करने की अपनी प्रबल इच्छा व्यक्त करते हैं। साहूजी अपने पूरे अनुभव और हार्दिक सद्भावना का लाभ देने के लिए ऐसे महानुभावों को परामर्श देते हैं कि वे विद्वत्संगोष्ठी का दस्तावेज़ पढ़ें। यह भी देखें कि वीर सेवा मंदिर, महावीर क्षेत्र द्वारा संचालित शोध-संस्थान, कुंभोज-बाहुबली में स्थापित शोधपीठ, वैशाली शोध-संस्थान, मद्रास, लाडनूं, वाराणसी, उज्जैन, जयपुर, उदयपुर, मूडबिद्री, मैसूर आदि स्थानों पर स्थापित शोध-संस्थाओं और जैन चेयर्स से परिचय प्राप्त करें, उनके कार्यक्रमों में सहयोग दें। वे चेताते हैं कि ऐसा न हो कि हम जिस प्रकार पुराने तीर्थों और मंदिरों की उपेक्षा करके नये मंदिर, प्रायः उन्हीं स्थानों पर, बनाते चले गये, उसी प्रकार पुराने विद्या-मंदिरों और शोध-संस्थाओं की उपेक्षा करके नयी शोधपीठों की स्थापना करने के लिए आतुर दिखायी दें।

जहाँ तक दिगम्बर जैन समाज का प्रश्न है, आधुनिक युग में सेठ हुकमचन्दजी, सेठ माणिकचन्दजी और बाद में साहू शान्ति प्रसादजी ने समाज को बहुत समर्थ और प्रभावकारी नेतृत्व दिया। अपनी-अपनी पीढ़ी के वे शलाका-पुरुष थे। साहू शान्ति-प्रसादजी का जो अवदान जैन समाज, दर्शन, साहित्य, शोध, पुरातत्त्व, कला और नयी प्रतिभाओं के निर्माण में रहा, वह अद्वितीय है, अमर है। श्रीमती रमा जैन जैसी कर्मठ और प्रतिभाशाली पत्नी ने उनके कार्यकलाप में, उनकी उपलब्धियों में चार चाँद लगा दिये। समाज और देश का दुर्भाग्य कि ये दोनों विभूतियाँ अचानक ही बीच में से तिरोहित हो गयीं। एक समय आया जब अन्धकार और आँसुओं के बीच सब मार्ग अवरुद्ध हो गये। सबसे अधिक आघात लगा साहू श्रेयांस प्रसादजी को जिन्होंने हृदय के पूरे उल्लास के साथ अपने छोटे भाई को उत्कर्ष की पीढ़ियाँ चढ़ते देखा। उनके अनुज को यशोपताका ऊँचे शिखर पर लहरा रही थी कि वह निराधार छोड़ कर चला गया। वह अभाव तो कभी पूरा होगा नहीं; किन्तु साहू श्रेयांस प्रसादजी के व्यक्तित्व ने अकस्मात् जो चमत्कार दिखाया, उसने समाज को आश्वस्त किया कि वह नितान्त नेतृत्वहीन होने से बच गया है, और साहू श्रेयांस प्रसादजी ने उसी बिन्दु से दायित्व सँभाल लिया है, जहाँ उसे उनके यशस्वी अनुज और अनुज-पत्नी रमा जी छोड़ कर गये थे।

सहज जिज्ञासा होती है कि जब उनके अनुज देश के क्षितिज पर सूर्य की भाँति चमक रहे थे, तब साहू श्रेयांस प्रसादजी की वह प्रतिभा जो आज प्रत्यक्ष हुई है, कहाँ थी ? प्रतिभा तो पूरी-पूरी थी; किन्तु एक ही आकाश पर दो सूर्य चमकें यह न संभव था, न उचित। साहू श्रेयांस प्रसादजी ने इस औचित्य का निर्वाह किया। उन्होंने अपना कार्य-क्षेत्र सीमित रखा; किन्तु उसी सीमा में वे लोगों के हृदय में बस गये। अपनी प्रतिभा, संस्कारशीलता, उदार सांस्कृतिक चेतना, सक्रिय सेवा द्वारा सभी जातियों और वर्गों के आदरास्पद वे बन गये। साहू श्रेयांस प्रसादजी के व्यक्तित्व का निर्माण-काल बहुत ठोस धरातल पर बीता है। वे आत्मीय सम्बन्धों के चमत्कारी सर्जक हैं।

अच्छे साहित्य की परख, कविता के प्रति सहज आकर्षण, उर्दू शायरी की तलस्पर्शी पहचान उनके व्यापक सांस्कृतिक व्यक्तित्व के साक्षी हैं। उर्दू के सैकड़ों चुनिंदा शेर उन्हें कण्ठस्थ हैं। किस मौके की असलियत और अहमियत की अभिव्यक्ति कौन-सा शेर सटीक ढंग से करता है, यह जैसे बिना दिमाग़ पर ज़ोर डाले सहजता से उनकी ज़बान पर आ जाता है। वे अपने श्रोताओं को, अपनी अंतरंग मण्डली को स्पन्दित, प्रमुदित, और आश्चर्यचकित कर देते हैं – फिर श्रोता स्वयं जवाहरलाल नेहरू ही क्यों न हों, जिन्होंने सचमुच एक कठिन और और मायूस स्थिति में साहूजी के शेर से प्रेरणा प्राप्त की और उसे तत्काल उनसे लिखवा लिया। न मालूम कितनी बार वह शेर पण्डितजी के ज़ेहन में उभरा होगा और अपनी प्रेरणा को गहरा करता गया होगा। 'भारतीय ज्ञानपीठ' के अनुरोध पर साहूजी ने अपनी पसन्द के कुछ चुने हुए शेर हमें प्रकाशित करने के लिए दे दिये हैं। "उर्दू शायरी : मेरी पसन्द" शीर्षक से यह संकलन अमृत-महोत्सव के अवसर पर प्रकाशित हुआ है।

साहू श्रेयांस प्रसादजी अत्यन्त शान्त व्यक्ति हैं; किन्तु जैन संस्कृति की विरासत को उजागर करने के लिए वे अन्दर से बहुत बेचैन और अधीर हैं। वे बार-बार आतुर हो जाते हैं, इसलिए कि जो काम वे तत्काल उतनी ही गति से पूरा कर लेना चाहते हैं, जितनी लगन, प्रेरणा और तीव्रता उनमें है, वह उस गति से पूरा नहीं हो पाता। समर्थ व्यक्ति ही सामने नहीं आते। उनकी दृष्टि और सृष्टि के अनेक-अनेक आयाम और पक्ष हैं। भारतीय ज्ञानपीठ में अखिल भारतीय स्तर की साहित्यिक संगोष्ठियों को नयी कल्पना के साथ आयोजित करने की एक शृंखला साहूजी ने और साहू अशोक कुमारजी ने प्रारंभ की है। इसका प्रभाव परिलक्षित है।

आज अपने ७५वें वर्ष में पदार्पण करते समय उनकी दृष्टि क्षितिज पर है कि नयी सूर्य किरण, नया प्रभात, नयी प्रतिभाओं के दर्शन कराये। बहुत काम हुआ है, वे जानते हैं; पर इतना नहीं कि वे आश्वस्त हो सकें, संतुष्ट हो सकें। वे कहते हैं – मुझे आतुरतापूर्ण जल्दी है – 'आई एम इन डेस्परेट हरी'; पर, वह यह भी समझने लगे हैं, उन्हें समझना पड़ रहा है कि जीवन अपनी गति से चलता है, संस्थाएँ अपनी सीमाओं में आबद्ध हैं, आज का व्यक्ति जीवन के संघर्षों और चिन्ताओं से ग्रस्त है,

आवश्यकताओं से अधिक सुविधाओं की होड़ है, समाज का जीवन राष्ट्र के हित-अहित और गति-विधि से बँधा हुआ है। वे निराश नहीं हैं; क्योंकि उनकी दृष्टि भगवान् बाहुबली की ध्यानमुद्रा में स्थित बिम्ब पर है, जिनके महामस्तकाभिषेक के विश्वस्तरीन आयोजन का भार उठाते हुए उन्होंने एक विदेशी पत्रकार से कहा था– 'जब अगला मस्तकाभिषेक होगा तो मैं यहीं होऊँगा, मानव के किस रूपान्तर और संज्ञा-संबोधन में यह तो नहीं कह सकता, किन्तु जीवन-क्रम की अटूट शृंखला में मेरा अस्तित्व रहेगा; जब तक मैं वह अवस्था न पा लूँ जिसे भगवान् बाहुबली की विश्व-मोहिनी समाधिस्थ मुद्रा मेरे नयनों को कृतार्थ कर रही है; चैन कैसे पाऊँ?'

(पृष्ठ ४७ का शेष)

पिया। इस अग्निमय वातावरण में शान्ति प्रसादजी जितने शान्त-सन्तुलित रहे, वह उनका ही काम था।

यह सब क्या है? एक संस्मरण साहू श्रेयांस प्रसादजी का, और एक संस्मरण साहू शान्ति प्रसादजी का। दोनों सगे भाई, पहला अग्रज, दूसरा अनुज; दोनों माता मूर्तिदेवी के दूध से सिंचित सामाजिक पुष्प और दोनों की सामाजिकता का, समाज-सेवा का वही अर्थ-फलितार्थ कि प्राचीनता के, परम्परा के प्रति अपनी आस्था बनाये रखते हुए भी, नवीनता के, परिवर्तन के प्रति तादात्म्य स्थापित करने की वृत्ति; यानी निरन्तरता और नूतनता का संगम, जो प्राचीन समाज को युग-युग में नवीन रक्त दे कर स्वस्थ और गतिशील रखता है।

साधुमना भाई साहब श्री श्रेयांस प्रसादजी के अमृत-महोत्सव पर उनके पुरुषार्थी वृद्धत्व का वन्दन और माता मूर्तिदेवी का अभिनन्दन, जिसने समाज को सेवा के दो शक्ति-स्तंभ दिये। ○⊙

(पृष्ठ १७८ का शेष)

नियम रखा है कि (अब यह हमारा पॉलिसी मैटर (नीति) हो गया है) हम अपने प्लाँटों में किसी भी हालत में माँसाहारी वस्तुओं का प्रवेश न होने दें।

ने. : कैंटीन वगैरह में भी?

शं. : कैंटीन का तो सवाल ही नहीं उठता; व्यक्तिगत रूप से भी हमारे परिसर में माँसाहार कोई नहीं कर सकता। वह पूर्णतया निषिद्ध है।

ने. : क्या हम अपने उद्योगों में अहिंसक सिद्धान्तों को प्रतिबिम्बित कर सकते हैं?

शं. : क्यों नहीं? यह तो हमारी दृढ़ता पर निर्भर करता है। हम तो अपने उद्योगों में 'साइजिंग' आदि में भी अहिंसक विधि अपनाने का प्रयोग कर रहे हैं। रेशम यानी सिल्क का व्यापार हम नहीं करते।

ने. : प्रश्न विवेक और निष्ठा का है।

शं. : वह है।

ने. : सत्य, सादगी और शाकाहार के जो संस्कार बाबा ने आपको दिये, उन्हें आप और आपकी पीढ़ियाँ दृढ़तापूर्वक सहेज कर समाज-सेवा के विविध क्षेत्रों में अग्रसर हों, यही उनके प्रति श्रद्धांजलि है तथा आप सबके प्रति शुभ कामना है। ☐

साये हैं आदमी के, मगर आदमी कहाँ ?

कहानी मेरी रूदादे-[1]ज़हाँ मालूम होती है
जो सुनता है उसी की दास्ताँ[2] मालूम होती है।

—सीमाब

किसी की चार दिन की ज़िन्दगी सौ काम करती है
किसी की सौ बरस की ज़िन्दगी से कुछ नहीं होता।

—अज्ञात

उस आदमी को सौंप दूँ दुनिया का कारोबार
जिस आदमी के दिल में कोई आरज़ू न हो।

—अज्ञात

इंसानियत की रोशनी गुम हो गई कहाँ
साये हैं आदमी के मगर आदमी कहाँ ?

—अज्ञात

या रब किसी से छीन कर मुझको खुशी न दे
जो दूसरों पर बार हो वह ज़िन्दगी न दे।

—अज्ञात

जब भी ग़ैरों की इनायत[3] देखी
हमको अपनों के सितम याद आये।

—अज्ञात

दास्ताँ सुना डाली हर इमारत की
फिर भी लोगों ने हमें शहर में नया समझा।

—अज्ञात

यह एक अब्र का टुकड़ा कहाँ-कहाँ बरसे ?
तमाम दश्त[4] ही प्यासा दिखायी देता है।

—अज्ञात

साहिल[5] के तमाशाई हर डूबने वाले पर
अफ़सोस तो करते हैं—इमदाद नहीं करते।

—अज्ञात

अलग हम सबसे रहते हैं मिसाले-तारे-तंबूरा
ज़रा छेड़े से मिलते हैं, मिला ले जिसका जी चाहे।

—अज्ञात

छोड़ा नहीं खुदी को दौड़े खुदा के पीछे
आसाँ को छोड़ बंदे मुश्किल को ढूँढ़ते हैं।

—अज्ञात

संकलन : श्रेयांस प्रसाद जैन

---

१. हाल, वृत्तान्त। २. कहानी, कथा। ३. कृपा, मेहरबानी। ४. जंगल। ५. किनारा, तट।

इन्दौर डी. एन./६२ म. प्र. लायसेन्स नं. एल. ६२
नवम्बर १९८३ (पहले से डाक-व्यय चुकाये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त)

सत्य : सब प्रकाशों का प्रकाश

- ☐ सचाई क्या है? जिससे दूसरों को कुछ भी हानि न पहुँचे, उस बात का बोलना ही सचाई है।
- ☐ उस झूठ में भी सत्यता की रंगत है, जिसके परिणाम/अन्त में नियमतः भलाई ही होती है।
- ☐ जिस बात को तुम्हारा मन जानता है कि वह झूठ है, उसे कभी मत बोलो; क्योंकि झूठ बोलने से स्वयं तुम्हारी अन्तरात्मा ही तुम्हें जलायेगी।
- ☐ देखो, जिस मनुष्य का मन असत्य से अपवित्र नहीं हुआ है, वह सब के हृदय पर शासन करता है।
- ☐ जिसका मन सत्यशीलता में निमग्न है, वह व्यक्ति तपस्वी से भी महान् और दानी से भी श्रेष्ठ है।
- ☐ मनुष्य के लिए इससे बढ़ कर सुयश और कोई नहीं है कि लोगों में उसकी प्रसिद्धि हो कि वह झूठ बोलना जानता ही नहीं। ऐसा पुरुष शरीर को कष्ट दिये बिना ही सब तरह की सिद्धियों को पा जाता है।
- ☐ 'असत्य भाषण मत करो'– यदि मनुष्य इस आदेश का पालन कर सके तो उसे किसी भी धर्म के परिपालन की आवश्यकता नहीं है।
- ☐ काया की स्वच्छता का संबन्ध जल से है, किन्तु मन की पवित्रता तो सत्य-भाषण से ही सिद्ध होती है।
- ☐ योग्य पुरुष, और समस्त प्रकार के प्रकाशों को प्रकाश ही नहीं मानते, केवल सत्य की ज्योति को ही वे सच्चा प्रकाश मानते हैं।
- ☐ मैंने इस संसार में बहुत-सी वस्तुएँ देखी हैं, किन्तु उन सबमें सत्य से बढ़ कर उच्च और कोई वस्तु नहीं है।

–छाया / तिरुक्कुरल / आचार्य कुन्दकुन्द

[श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी (राजस्थान) द्वारा प्रचारित]